MAHY-104
आधुनिक विश्व

mRrj in'k jktf"k V.Mu
eDr fo'ofo|ky;

एम.ए. पाठ्यक्रम
(इतिहास)

खण्ड-1
राष्ट्रवाद, पूँजीवाद एवं समाजवाद–3

इकाई संख्या	पृ.ठ संख्या
इकाई 10	
यूरोप में सामाजिक विचारधारा	5–19
इकाई 11	
संधियों और समझौतों की पद्धति-महाद्वीपीय उच्चता की राजनीति	20–35
इकाई 12	
महान शक्तियों में विश्व सर्वोच्चता के लिए प्रतिस्पर्द्धा	36–63
इकाई 13	
सुदूरपूर्व में जापान का उत्थान	64–93
इकाई 14	
साम्राज्यवाद-चीनी और भारतीय साम्राज्यवाद का अध्ययन उसका स्वभाव एवं विकास	94–108
इकाई 15	
साम्राज्यवाद-मिस्त्र, दक्षिणी अफ्रीका तथा मोरक्को के संदर्भ में	109–119

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. बी.एस. शर्मा, कुलपति (अध्यक्ष)

प्रो. रविन्द्र कुमार
निदेशक, नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं
पुस्तकालय, नई दिल्ली

प्रो. बी.आर. ग्रोवर
पूर्व निदेशक, भारतीय इतिहास
अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली

प्रो. एस.पी. गुप्ता
इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम
विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ.प्र.)

प्रो. जे.पी. मिश्रा
पूर्व इतिहास विभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू
विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

प्रो. के.एस. गुप्ता
इतिहास विभाग,
मोहन लाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

डा. बृजकिशोर शर्मा
विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, कोटा
खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

डा. श्रीमती कमलेश शर्मा
इतिहास विभाग, कोटा खुला
विश्वविद्यालय, कोटा

डा. याकूब अली खान
इतिहास विभाग कोटा खुला
विश्वविद्यालय, कोटा

पाठ्यक्रम निर्माण दल

डा एस.के.पी. सिंह
पटना विश्वविद्यालय
पटना

डा. शिवकुमार
मेरठ कॉलेज,
मेरठ

डा. एम.एस. जैन
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

वी. रामकृष्ण रेड्डी
बी.आर. अम्बेडकर ओपन यूनिवर्सिटी
हैदराबाद

डा. हरिशंकर शर्मा
सुबोध महाविद्यालय
जयपुर

डा. हरीश चन्द्र शर्मा
गुरुनानक देव विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

पाठ्यक्रम प्रभारी एवं सम्पादक

डा.ब्रज किशोर शर्मा
निदेशक पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो.(डॉ.) नरेश दाधीच	प्रो.(डॉ.)एम.के. घड़ोलिया	योगेन्द्र गोयल
कुलपति	निदेशक(अकादमिक)	प्रभारी अधिकारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा	संकाय विभाग	पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनः उत्पादन -2012 MAHI-02/ISBN No.-13/978-81-8496-261-1

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित–२०२४

मुद्रकः सिग्नस इन्फार्मेशन सल्यूशन प्रा० लि०, लोढ़ा सुप्रीमस साकी विहार रोड, अन्धेरी ईस्ट, मुम्बई।

IOST-016

इकाई 10

यूरोप में सामाजिक विचारधारा और संस्कृति (1815-1917)

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 भूमिका
10.2 स्वच्छन्दतावाद
10.3 आदर्शवाद
10.4 स्वच्छन्दतावादी साहित्य
10.5 कला में स्वच्छन्दतावादी भाव
10.6 1870 से 1917 तक सामाजिक विचारधारा और संस्कृति
10.7 1870 से 1917 के बीच प्रचलित सामाजिक चिन्तन और संस्कृति का सामान्य स्वरूप।
10.8 मोहभंग का दर्शन
10.9 यथार्थवादी साहित्य
10.10 प्रभाववादी और आधुनिक चित्रकला एवं मूर्तिकला
10.11 कियात्मक वास्तुकला
10.12 संगीत
10.13 बोध प्रश्न
10.14 संदर्भ ग्रंथ

10.0 उदेश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य 1815- से 1917 के बीच यूरोप में प्रचलित सामाजिक चिन्तन और संस्कृति के बारे में आपको संक्षिप्त जानकारी देना है । इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यूरोपीय सामाजिक चिन्तन और संस्कृति के निम्नलिखित पहलुओं का विश्लेषण करने में सक्षम होंगे:

सामाजिक चिन्तन और संस्कृति को प्रभावित करने वाले तत्व
1815 से 1870 तक सामाजिक चिन्तन और संस्कृति
1870 से 1917 तक सामाजिक चिन्तन का दर्शन
स्व्च्न्दतावाद का दर्शन
आदर्शवादी दर्शन
कला और साहित्य में स्वच्छन्दतावाद
मोहभंग का दर्शन
यथार्थवादी साहित्य
प्रभाववादी और आधुनिक कला
कियात्मक कला

10.1 भूमिका-

विचारधारा एवं संस्कृति को स्पष्ट कालकमिक आकृति नहीं दी जा सकती है । फिर भी, इतिहास के पाठक एक निश्चित काल में व्याप्त विचारधारा और संस्कृति का अवलोकन करने में सफल हो जाते हैं। फ्रांस की क्रान्ति और नेपोलियन के पतन कें याद यूरोप में एक सर्वथा नवीन युग का आरंभ होता है। जहां एक ओर फाFRERAMSHस की कान्ति उदारवाद और राष्ट्रवाद की विस्फोटक शक्तियों को निर्मुक्त कर हुई थी वहां दूसरी ओर औद्‌योगिक कान्ति उद्‌योगवाद के विभिन्न पहलुओं और समस्याओं को प्रस्तुत कर रही थी । किन्तु एक तथ्य स्पष्ट है कि 1815 से 1870 तक यूरोपीय सामाजिक विचारधारा और संस्कृति की प्रबल प्रवृति स्वच्छन्दतवाद(Roantciam) थी ।

10.2 स्वच्छन्दतावाद

स्वच्छन्दतावादी मनोदशा के कई रूप थे । मूलत: स्वच्छन्तावाद शास्त्रिय प्रवृत्ति के अदद. और .रूढिवाद के विरूद्ध एक प्रतिकिया थी । जहां शास्त्रियवाद ने विवेक नौ, रूप के 'पूर्णता का गुणगान किया वहां स्वच्छन्दतावाद ने भावावेश, भावना, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और सहजता की अपील की । जहां शास्त्रियवादी प्राकृतिक व्यवस्था और मानव तथा विश्व के नियमों में रूचि रखते ये वहां स्वच्छन्दतावादी कल्पनालोक की दुनिया में विचरण करते थे ।

स्वच्छन्तावाद काफी हद तक फांस की कान्ति और नेपोलियन से जुड़ा हुआ था और साथ ही साथ इनका परिणाम भी था । कई शास्वियवादी प्राकृतिक नियमों के अनुसार शांतिपूर्ण तरीके से समाज में सुधार के समर्थक थे । उन्होंने भावी हिसक उथल पुथल का पूर्वानुमान नहीं किया था । यों कई उग्र कान्तिकारी नेता ओर नेपोलियव अपने को शास्त्रिय यूनान और रोम की परंपरा का ही मानते थे । ।किन्तु स्वनान्तावादियो ने सारी पुरानी परम्पराओं और मान्यताओं को तोड़ डाला और इस प्रकार उन्होंने कान्तिकारी भावना को अभिव्यक्त किया । इसका अर्थ यह नहीं है सारे स्वच्छन्दतावादी उग थे या उदारवादी थे । शैलो (Shlly)और हेन (Heine)अवश्य कान्तिकारी थे । लेकिन एडमन्ड बर्क और कर वाल्टर स्कॉट जैसे विचारक रुढ़िवादी थे और वे प्रतिकान्ति (Reactin) का प्रतिनिधित्व करते थे ।

स्वच्छन्दतावादी सामाजिक विचारधारा का दूसरा पहलू राष्ट्रवाद था । स्वच्छन्दतावादी भले ही उदारवादी या रूढ़िवादी रहे हों किन्तु वे प्रबल राष्ट्रवादी अवश्य थे । प्रसिद्ध रोमान्टिक कवि लार्ड बायरन यूनानियों की राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए लड़ता हुआ मारा गया । रोमान्टिक स्वप्नद्रष्टा और वक्ता मैजिनी इटालवी राष्ट्रवाद की आत्मा था । एक स्वतंत्र एवं एकीकृत इटली के लिए संघर्षरत मैजिनी को अपने जीवन का अधिकांश समय देशनिकाले में बिताना पड़ा । हर्डर ने एक जर्मन. राष्ट्रीय संस्कृति के लिए भावपूर्ण तर्क दिया । 1870 के पूर्व होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन में भाईचारा और स्वतंत्रता की भावना प्रबल थी जिसमें स्वच्छदतावादियो का भावावेश प्रकट हुआ । स्वच्छन्दतावाद अठारहवीं शताब्दी के भावशून्य देववाद के विरुद्ध एक प्रतिकिया और रहस्यवादी धर्म की वापसी का भी प्रतीक है । सोलहवीं शताब्दी के धर्मसुधार के बाद धर्म-निरपेक्षवाद की ओर यह पहला झुकाव था । वालेरियन बुद्धिवादियों और फ्रासीसी क्रान्तिकारियों के हाथों में रोमन कैथोलिक चर्च को गहरा धक्का लगा था लेकिन 1815 के बाद

यह फिर शक्तिशाली ढंग से महत्वपूर्ण और लोकप्रिय हो गया । युद्ध और हिसक परिवर्तन से थके हुए युग के लिए चर्च स्थायित्व के चट्टान के समान था । ग्रेट ।ब्रेटेन में मैथोडिस्ट आन्दोलन (Methodist Movement) का तेजी से विस्तार हुआ जिसकी शुरूआत अठारहवीं शताब्दी के मध्य में हुई थी । संयुक्त राज्य अमेरिका में दासता-विरोधी आन्दोलन मुख्यत: नैतिक और धार्मिक स्त्रोतों से आरंभ हुआ। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में स्वच्छन्दतावाद के अंश के रूप में धर्म के नवजागरण ने मध्ययुग के बारे में फिर से रूचि पैदा की । बिना किसी अपवाद के शास्त्रियवादी लौकिक यूनान और रोम से प्रेरणा प्राप्त करते थे । अब सामन्ती शैली फिर दृष्टिगोचर होने लगी । सर वाल्टर स्कॉट के उपन्यासों और कविताओं से बेहतर स्वच्छन्दतावादी भावना का उदाहरण और कहीं नहीं मिलता जिसकी विषय-वस्तु मूलत: मध्यकालीन थी । गोथिक वास्तुकला का फिर से उदय हुआ। “अन्ध युग” (Darge Age) “आस्था युग” (Age of Faith) में परिणित हो गया ।

1870 तक औधोगिक देशों के समाज के लिए स्वच्छन्दतावाद एक ईश्वरीय वरदान साबित हुआ। इसकी आशावादिता, इसका नैतिक और धार्मिक आदर्शवाद और इसका राष्ट्रवाद औधोगिक'बुजुआ वर्ग के सम्पन्न जीवन का बना-बनाया औचित्य प्रस्तुत करता था । तंगहाल औधोगिक सर्वहारावर्ग के लिए इस ने पलायनवाद और आध्यात्मिक भोजन उपलब्ध कराया । कम से कम अब मजदूर वर्ग भी सपना देख सकता था और उम्मीदें बांध सकता था ।

10.3 आदर्शवाद का दर्शन

स्वच्छन्दतावादी विचारधारा पर कोई भी बहस रूसो (1772-78) से आरंभ होती है । वाल्तेयर, दिदरे, मान्टेसक्यू जैसे अन्य प्रबुद्‌वादी दार्शनिक की तरह रूसों भी देववादी (Diest) था और यांत्रिक विश्व के प्राकृतिक नियमों में विश्वास करता था । लेकिन अन्य तत्कालीन दार्शनिकों से भिन्न रूसों विवेक का पुजारी नहीं था। विवेक की जगह उसने भावना, अनुप्रेरणा और संदेश पर अधिक भरोसा किया । प्रकृति के प्रति अपना बेहद प्रेम प्रकट कर उसने स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का भी पुर्वानुमान किया । इस प्रतिभासम्पन्न स्वच्छन्दतावादी ने समाज की औपचारिकता के विरूद्ध विद्रोह किया। उन्मुक्त प्रेम, अनुशासन से परे बचपन और शिक्षा, उदात्त जंगलीपन-रूसो के स्वच्छन्दतावादी विद्रोह के मुख्य लक्षण थे ।

रूसो की उन्मुख विचारधारा के बाद इमेनुएल कान्ट (1724- 1804) की अत्यंत व्यवस्थित विचारधारा का वर्णन आवश्यक है । जर्मन दार्शनिक कान्ट आधुनिक काल के एक महान एवं प्रभावशाली दार्शनिकों में एक था। उसके जीवन की शुरूआत एक वैज्ञानिक के रूप में हुई और उसने हमेशा प्राकृतिक विज्ञान के तरीकों का सम्मान किया । प्रबोधन के दर्शन से भी वह ओत-प्रोत था । लेकिन वह अठारहवीं सदी के भौतिकवादी बुद्धिवादियों के निष्कर्ष से सहमत नहीं था । उसका विश्वास था कि यथार्थ में दो संसार है, एक नहीं- भौतिक संसार और आध्यात्मिक संसार या अन्तिम सत्य का संसार । पहले को वह दृश्य का लोक (Realm of Phenomena) और दूसरे को परासत्ता का लोक (Realm of noumena) मानता था । दृश्य के भौतिक लोक में वह देकार्त, लॉक और वाल्तेयर की तरह सत्य की प्राप्ति के लिए इन्द्रिय अनुभूति और विवेक को ही सही उपाय मानता था । लेकिन पराशक्ति के आध्यात्मिक

लोक में यह उपाय काम नहीं करता । अन्तिम आध्यात्मिक सत्य की प्राप्ति तो केवल विश्वास, दृढ़ धारणा और भाव से ही हो सकती है । ईश्वर का अस्तित्व जैसे परासत्ता लोक के सत्यों को विवेक के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता । फिर भी इन बातों में विश्वास करना उचित है क्योंकि ये सही और गलत के हमारे नैतिक भाव को मजबूत करते हैं । कान्ट की सर्वप्रमुख कृति "Critique of Pure Reason " प्रबोधन के दार्शनिकों के लिए सर्वोकृष्ट बौद्धिक दर्जे का अलौकिक जबाब (Metaphy sieal answer) था । यही आदर्श आदर्शवाद का दर्शन कहलाया। कान्ट और उसके अनुयायियों का दर्शन बुद्धिवाद और भौतिकवाद से बिल्कुल भिन्न था ।

कान्ट का सबसे प्रभावशाली शिष्य हिगल (1770- 1831) था । इतिहास का दर्शन उसकी मुख्य रूचि थी । अपने गुरू की तरह उसने प्रबोधन के यान्त्रिक अनैतिक जगत को अस्वीकार कर दिया । उसका विश्वास था कि एक हितेषी और अवेयक्तिक ईश्वर ने इस दुनिया का निर्माण किया है और इसका संचालन करता है । एक अर्थपूर्ण विकास की प्रकिया से मानव समाज बेहतर होता है । यह थेसिस, एन्टीथेसिस और सिंन्थेसिस (Thesis, Antithesis, Synthesis) के दन्दवात्मक प्रकिया से प्राप्त होता है । किसी प्रदत्त व्यवस्था या सभ्यता (Thesis) को उसके विरोधी (Antithesis) के चुनौती का सामना करना पड़ता है । दोनों के संघर्ष से एक नयी व्यवस्था (Synthesis) का जन्म होता है जिसमें थेसिस और एण्टीथेसिस का अच्छा गुण विद्यमान रहता है । यह सिन्थेसिस फिर थेसिस बन जाता है । इस थेसिस और इसके एण्टीथेसिस में फिर संघर्ष होता है और सिन्थेसिस पैदा हो यह प्रकिया जारी रहती है । हिगल का विश्वास था कि हर ऐतिहासिक काल की अपनी युग चेतना होती है । उन्नीसवीं शताब्दी की युग चेतना जर्मन सभ्यता थी जिसका सबसे बड़ा योगदान है- अनुशासित व्यवस्था के माध्यम से स्वतंत्रता । हिगल ने राज्य को सर्वोपरि स्थान प्रदान किया । केवल राज्य के अन्दर ही व्यक्ति को संवतन्त्रता मिल सकती है । स्वच्छन्दतावाद और उन्नीसवीं सदी की विचारधारा पर सबसे अधिक प्रभाव हिगल का था । बीसवीं शताब्दी के कई विचारधाराओं, जैसे, साम्यवाद, फासिस्टवाद और नाजीवाद ने भी हिगल से प्रेरणा ग्रहण किया ।

10.4 स्वच्छन्तावादी साहित्य

स्वच्छन्दतावाद की भावना का जीवन्त अध्ययन ब्रिटिश स्वच्छन्तावादी कवियों के अध्ययन से ही संभव है । स्वच्छन्तावादी कवियों सबसे पहले रोबर्ट बर्न्स (1759-96) का नाम आता है । अपने मूल स्कॉटिश भाषा में लिखित स्वत: स्फूर्त कविताओं में बर्न्स ने सहज प्रकृति और देहाती जीवन को आदर्श रूप में प्रस्तत किया ।

स्वत: स्फूर्त, भावनात्मक और नैसर्गिक प्रकृति से जुड़ी हुई स्वच्छन्दतावादी भावना और कविता की परिणति विलियम वर्डसवर्थ (177-1850) कोलरिज (177-1834) में हुई । दोनों कान्ट से प्रभावित थे और प्रबल मानवतावादी समाज सुधारक थे । इन प्रतिभासम्पन्न कवियों के संयुक्त प्रयास से 1798 में Lyrical Ballads प्रकाशित हुआ जिसमें दोनों के सर्वोत्तम गीत समाहित है । दोनों काव्यात्मक अभिव्यिक्त और पद्य लिखने की कला के उकृष्ट कलाकार थे । वे प्रकृति के परिपक्व पारखी और प्रेमी थे । दोनों ही विशेषकर वर्डसवर्थ ईश्वरीय विचारमग्न और रहस्यात्मक उपस्थिति की प्रखरता से अवगत थे । वर्डसवर्थ का Intimations

of Immortality) अपनी आध्यात्मिक गहराई और अन्तर्दृष्टि में उदान्त था । प्रकृति के प्रति उत्कट प्रेम, व्यक्ति के लिए अन्तर्दर्शी चिन्ता और आध्यात्मिक तन्मयता वर्डसवर्थ और कोलरिज की मुख्य विशेषता थी जो उन्हें शास्त्रियवादी भावना से अलग करती है ।

जब एक बार वर्डसवर्थ और कोलरिज ने स्वच्छन्दतावाद को प्रतिष्ठित और लोकप्रिय बना दिया तब कई लेखक और कवियों ने इसे अपना लिया । बायरन, शैली और कीट्स की त्रिमूर्ति ने अपने गीतों के माध्यम से अपनी भावना को उन्मुख और स्वत: स्फूर्त रूप में व्यक्त किया । बायरन और शैली में हमें उत्क्रष्ट सौंदर्यबोध और अदम्य क्रान्तिकारी उत्साह का अदभुत संगम दिखाई पड़ता है ।

इस बीच सर वाल्टर स्कॉट ने अपनी कविताओं और उपन्यासों में मध्यकाल और आनी जन्मभूमि स्कॉटलैण्ड का गुनगान किया । वर्डसवर्थ और कोलरिज जैसे कुछ स्वच्छन्छतावादी सहित्यकारों की तरह स्कॉट सार्वजनिक मामलों के प्रति रूढ़िवादी विचार रखता था ।

अल्फे ड लार्ड टेनिसन (1809-92) और रोबर्ट ब्राउनिंग (1812-1889) ब्रिटिश स्वच्छन्दतावादी साहित्यकारों में अन्तिम माने जाते हैं टेनिसन का प्रबल राष्ट्रवाद, मध्यकाल की प्रशंसा और रूढ़िवादिता विशिष्ट रूप से स्वच्छन्दतावादी हैं । ब्राउनिंग का विचार टेनिसन से अधिक गम्भीर और सूक्ष्म है ।

जर्मन साहित्य में स्वन्छतावाद का प्रवेश अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हु आ । जर्मन लेखकों में सबसे पहले गोथे (1749-1832) का नाम आता है । समय और भाव की दृष्टि से गोथे स्वच्छन्तावादी परम्परा का था । उसकी असाधारण पतिभा जीवन भर आनन्द और ज्ञान के रहस्य की खोज में लगी रही । उसके उपन्यासों, गीतों, लेखों, वैज्ञानिक और दार्शनिक पुस्तकों और नाटकों की संख्या एक सौ बत्तीस हे । Fanst गोथे की सबसे महान कृति है । यह दार्शनिक नाटक उकृष्ट गीतों में लिखा गया है इसमें एक ऐसे विदान की कहानी है जिसने भौतिक सुख-सुविधा के लिए अपनी आत्मा को शैतान के हाथों बेच दिया । गोथे मानव अनुभव और आकांक्षा की ऊँचाई और गहराई का अन्वेषण करता है । गोथे के स्वच्छन्तावाद की झलक उसकी मध्यकालीन रूचियों, भावनात्मक स्वाभाविकता, प्रकृति और व्यक्तिगत व्यक्तित्व के प्रति प्रेम और उसके उत्साही, सन्तुलित और पथ प्रदर्शक भाव में दिखाई पड़ती है।

गौथे का मित्र और शिष्य फेडरिक शिलर (1759-1805) अपने समय में अपने गुरू से अधिक लोकप्रिय था । शिलर ने मध्यकाल और राष्ट्रवाद से काफी प्रेरणा प्राप्त की । गौथे और शिलर जर्मन राष्ट्रवादी होने के साथ-साथ विश्वव्यापी दृष्टिकोण रखते थे ।

जर्मन गीतों की रचना में हेनरिच हेन (1799-1856) गोथे का असल उत्तराधिकारी था। उसकी अधिकांश बड़ी रचनाएं स्वच्छन्दतावादी गीति-काव्यों के क्षेत्र में है । अपने प्रगतिशील विचारों के कारण उसे मेटरनिक के युग में राजनीतिक यातना भी सहनी पड़ी । बाद की उसकी गीतों में हल्की फ्रासीसी तड़क-भड़क भी दिखाई देती है ।

रूसी और फ्रांसिसी क्रान्ति का जन्मदाता फांस वर्डसवर्थ और शेली की तरह सिर्फ एक ही स्वच्छन्तावादी रचनाकार पैदा कर सका और वह था विक्टर हयूगो । केटयूब्रिय पहला

फ्रासीसी लेखक था जिसने प्रबोधन के बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिकिया व्यक्त की । उसकी Genesis of Christianity रहस्यवादी धर्म की ओर वापसी का प्रतीक है । होनर द बलजैक (1799-1850) नये औघोगिक मध्यम वर्ग के बारे में लिखने वाले पहले लेखकों में एक था । The Human Comedy नामक उपन्यासों के संग्रह में उसने मानव स्वभाव के पूरे रूप का वर्णन करने का प्रयास किया । अलैक्लेन्डर डयूमास द एल्डर (1802-70) ने The Three Muske teers और The Count of Monte Cristo जैसे रोमान्टिक और अतिनाटकीय रचनाओं के द्वारा युवाओं और बूढ़ों सभी का मनोरंजन किया । विक्टर हूयूगों ने स्वच्छन्दतावादी परम्परा में उत्कृष्ट गीतों, नाटकों, लेखों और कथा साहित्यों की रचना की (Les Miserables)नामक अपने प्रसिद्ध उपन्यास में उसने विशेषाधिकारहीन जनता को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया । फ्रासीसी स्वच्छन्दतावाद का वर्णन जुल्स मिसलेट (Jules Micheles) के जिक्र के बिना पूरा नहीं होगा । सत्तरह जिल्दोंवाली ((History of France में उसने अनुपम लालित्य और कौशलपूर्ण ऐतिहासिक कलात्मकता के द्वारा फांस के गरिमामय इतिहास का वर्णन किया है ।

इस अवधि का सर्वप्रमुख रूसी साहित्यकार अलेक्लेन्डर पुस्किन (1799-1837) था । उसके महान नाटक, इतिहास, उपन्यास, लेखों, कहानियों और गीतों पर बायरन जैसे ब्रिटिश और फ्रासीसी साहित्यकारों का असर है । Boris godunor नामक दुःखान्त नाटक उसकी सबसे महान कृति मानी जाती है । इवान तुर्गनेव (1818-83) और फेयोडोर दोस्तोवस्की (1821-81) दुनिया के महानतम उपन्यासकारों की श्रेणी में आते है । उन दोनों ने सामान्य लोगों विशेषकर किसानों के प्रति अपने प्रेम और आस्था को व्यक्त किया । अपने उग्र विचारों के कारण दोनों को राजनीतिक यातना सहनी पड़ी ।Fathers and children नामक उपन्यास में तुर्गनेव ने पुरानी और नयी पीढ़ी का तुलनात्मक वर्णन किया है । दोस्तोवस्की ने अपने उपन्यासों में कष्ट द्वारा शुद्धिकर्ण तथा बुराई की समस्या का मनोवैज्ञानिक और रहस्यवादी विश्लेषण किया है ।

10.5 कला में स्वच्छन्दतावादी भाव

शब्दों द्वारा दृश्य और संगीत कला में अभिव्यक्त भावों को व्यक्त करना बड़ा कठिन है । विशेषकर ऐसी कला का अर्थ स्पष्ट करना और भी कठिन है जो भावुकता को प्रधानता देते हैं । इसलिए स्वच्छन्दतावाद कला की व्याख्या संक्षेप में की जायेगी ।

प्रमुख चित्रकारों ने प्रकृति, धर्म और राष्ट्रवाद का गुनगान किया । जॉन कान्सटेबल (1776-1837) ने इंग्लैण्ड में और केगिले कोरोट (1796-1875) ने फांस में स्वप्निल और धुंधले प्राकृतिक दृश्य का चित्रांकन किया । इंग्लैण्ड के टर्नर (1775-1851) ने समुद्री दृश्यों और पौराणिक विषयों के स्वच्छन्दतावादी मिजाज को दर्शाया । जीन मिल्लेत (1814-75) ने फ्रासीसी देहाती जीवन और रहस्यवादी धर्म को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया । उसके सहयोगी यूजेनी डेलाकोक्स (1799-1863) ने बायरन के The Prisoner of Chillion का चित्रांकन किया । लूव्रे के महान भित्तिचित्रों में, चेम्बर औफ डेपुटिज के पुस्तकालय में और होटल द विले में उसने फ्रासीसी इतिहास का गौरवपूर्ण घटनाओं का चित्रण किया ।

वास्तुकला के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन कम सुस्पष्ट था । स्वच्छन्दतावाद की मुख्य अभिव्यक्ति हम गौथिक शैली के पुनर्प्रचलन में पाते हैं । फ्रास्र गोथिक शैली के पुनर्प्रचलन का मुख्य केन्द्र था । औघोगिक क्रान्ति के दौरान इंग्लैण्ड में संसद भवनों का निर्माण इसी शैली में हुआ ।

संगीत के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादीभाव की अभिव्यकित विशेष रूप में हुई । संगीतज्ञों में विथोवन (1770-1827) का नाम सबसे पहले आता है जो महानतम शास्त्रिय संगीतकारों में तथा स्वच्छन्दतावादी में एक था । शुरू में उसने अपने आदर्श मोजार्ट की परम्परा में काम किया । परिपक्व होने पर उसकी मौलिकता ने शास्त्रिय बन्धनों को तोड़ डाला और उसका संगीत अधिक उन्मुक्त, अधिक वैयक्तिक और भावुक दीख पड़ने लगा । उसके संगीत में फ्रासीसी क्रान्ति और नेपोलियन कालीन नाटकीय घटनाओं का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है । उसके कई गीत नेपोलियन की याद दिलाते हैं । कार्ल मेरिया वार्न वेबर (1786-1826), फ्रास शवर्ट, फेलिक्स मेन्डेलसन (1809-47) और रोबर्ट शूमां (1810-56) ने विथोवन की परम्परा को जारी रखा । इन प्रतिभावान युवा जर्मन संगीतज्ञों ने स्वत:पूर्ण भावों को अभिव्यक्त किया । जर्मनी में बसा हंगोरियन संगीतज्ञ लिस्ट (Lyzt) अपने जमाने का सम्भवत: सबसे बड़ा पिआनो विशेषज्ञ था । उसकी सनसनीखेज भावुक रचनाओं ने स्वच्छन्दतावादी संगीत को अत्यन्त लोकप्रिय बनाया ।

स्वच्छन्दतावादी भाव का सबसे बेहतर उदाहरण पोलिस-फ्रासीसी पिआनोकार और संगीतज्ञ फेडरिक चोपिन (1810-49) में मिलता है । उसने संगीत के विभिन्न रूपों में अपने दुःख और भावनाओं को प्रकट किया है । उसके द्वारा स्थापित परम्परा में अन्य संगीतकारों ने रोमान्टिक सिस्फोनी और ओपेरा की रचना की । इटली का सबसे महान स्वच्छन्दतावादी रचनाकार वर्डी (Verai) था । वह इटली का राष्ट्रीय सांस्कृतिक हीरो था । उसकी रचनाएं अत्यन्त सुरीली और स्वाभाविक हैं ।रिचर्ड वेगनर ने संगीत के क्षेत्र में विथोवन द्वारा आरम्भ किये गये स्वच्छन्तावादी युग को समाप्त किया ।

चुकिं मनुष्य हमेशा से जटिल, भावुक और धार्मिक और कभी-कभी ही विवेकशील रहा है, स्वच्छन्तावाद ने जीवन के रहस्य और सौन्दर्य को समझने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है।

10.6 1870 से 1917 तक सामाजिक विचारधारा और संस्कति

विज्ञान और प्रौद्योगिकी का भौतिकवाद, धर्म और नैतिक मूल्यों में घटती हुई आस्था के कारण अत्यन्त दोषदर्शिता (Cynicism) और जनमानस की बैचेनी का प्रतिबिम्ब 1870 से 1917 तक की विचारधारा और संस्कृति में मिलता है । 1870 तक व्याप्त आदर्शवाद और स्वच्छन्दतावाद एकाएक अलग नहीं हो गया । 1870 के बाद भी आदर्शवाद और स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव रहा । लेकिन इस अवधि में इतने प्रकार की प्रवृत्ति और विचारधारायें पैदा हुई कि इनकी विशेषताओं को बतलाने के लिए विभिन्न दर्शनग्राही (Eclectin) शब्द का प्रयोग किया गया है । फिर भी, हम कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों को पहचान सकते हैं । यह और भी महत्वपूर्ण है कि इनमें से कई प्रवृत्तियां बीसवीं सदी के मध्य तक के पायी जाती हैं ।

10.7 1870 से 1917 के बीच प्रचलित सामाजिक चिन्तन और संस्कृति का सामान्य स्वरूप

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में प्रचलित आदर्शवाद और आशावादिता इस अवधि के भौतिकवाद, उपयोगितावाद और निराशावाद से हार गयी । यथार्थवाद का विभिन्न रूप इस समय के साहित्य की मुख्य विशेषता थी । शुरू में कला का झुकाव प्रभाववाद की ओर था और बाद में यह पुरानी परंपरा के विरुद्ध विद्रोह करता हुआ दिखाई देता है । किन्तु अन्य कलाओं से भिन्न संगीत में हम पुरानी परंपराओं और मान्यताओं का प्रभाव कायम पाते हैं ।

नयी प्रवृत्तियों के पीछे मुख्य प्रभाव निस्संदेह वह बौद्धिक और समाजशास्त्रीय समस्यायें थीं जिन्हें विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने जन्म दिया था । नया मनोविज्ञान डारविनवाद और औघोगिक सर्वहारा वर्ग का असन्तोष इस समय के साहित्य और कला की मुख्य विशेषता हैं । ऐसा लगता है कि डारविनवाद ने इस अन्ध संयोगवाली हुदयहीन और प्रतिस्पर्द्धी दुनिया में जीने के लिए मनुष्य को एक जानवर, एक संघर्षरत पशु बना दिया है । यह विचारधारा स्वच्छन्दतावादी आदर्शवाद से बिल्कुल अलग दिखाई देती है जिसमें मानव को ईश्वर का शिशु और इस विश्व को लोकोपकारी ईश्वर द्वारा शासित सुन्दरतम वस्तु माना जाता था ।

नये मनोविज्ञान ने मनुष्य के दिमाग और उसके शरीर को यांत्रिक और पशुवत बना दिया । साथ ही इसने मानव मस्तिष्क को स्वार्थ और पाशविक इच्छा से परिपूर्ण बताया । यह मोहभंग करने वाली विचारधारा न केवल उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ की स्वच्छन्दतावादी आदर्शवादीयों के विचार से भिन्न थी, बल्कि अठारहवीं शताब्दी के प्रबुद्धवादी दर्शन से भी भिन्न थी, जो प्रकृति की अच्छाई और मनुष्य की पूर्णता में विश्वास करती थी । प्रौघोगिकी के तीव्र विकास ने सर्वहारा वर्ग को इतना असंख्य और बैचेन बना दिया था कि अब उसकी अनदेखी पूंजीपति वर्ग लेखक या कलाकारों द्वारा नहीं हो सकती थी । जहां उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ मे लेखक और कलाकार औघोगिक बुर्जुआ वर्ग का पक्ष लेते थे, वहीं इस अवधि के साहित्य और कलाकृतियों में सर्वहारा वर्ग को विषय वस्तु बनाया गया ।

अन्त में, आइन्सटाइन के सापेक्षवाद के सिद्धान्त तथा अणु कर्णो (Atoms) के स्थायित्व सम्बन्धी भौतिकशास्त्रियों के आश्चर्यजनक विचारों ने दोष-दर्शिता, मोहभंग और विद्रोह की भावना को और तेज कर दिया । न ही ईसाई धर्म ने पश्चिमी जगत का मार्ग दर्शन किया । परन्तु यह उल्लेखनीय है कि चिन्तकों और कलाकारों में व्याप्त निराशावाद का असर जनसमूह पर नहीं दिखाई देता है जनसमूह भौतिक सुख-सुविधा के अधिक से अधिक हिस्से के लिए सकिय रूप से अग्रसर हो चुका था

10.8 मोहभंग का दर्शन (ThePhilosophy of Disenchantment)

यों तो नैसिर्गिक वरण द्वारा विकास के डारविनवादी सिद्धान्त ने थोमस हक्सले, हर्बर्ट स्पेन्सर और आन्सर्ट हेकेल जैसे देर उन्नीसवीं सदी के दार्शनिकों को लगातार विकासशील मानव और समाज के बारे में अत्यन्त आशावादी बना दिया था । किन्तु कुछ दार्शनिकों पर इसका उल्टा असर पड़ा । शोपेनहावर (1788-1860) उन निराशावादी दार्शनिकों का अगुआ था जिनका बीसवीं सदी में काफी प्रभाव पड़ा है ।The Origin of Spices से इकतालिस साल पहले

1818 में प्रकाशित The World as will and idea नामक पुस्तक में इस जर्मन चिन्तक ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि वह शक्ति जो जीवित प्राणियों की सम्पूर्ण दुनिया को शासित और प्रेरित करती है- वह है इच्छा-शक्ति-जीवित रहने की इच्छा । अत: यह दुनिया संघर्षरत और प्रतिस्पर्द्धी जीवों से भरी हुई कठोर और हदयहीन है, जहां शक्तिशाली और उग्र जीव कमजोर तथा विनम्र जीवों को निगल जाते हैं । इस दुनिया मेंजोआत्म त्याग (Ascetic denial)और प्रत्याहार (With drawal) से युक्तहोवे इस दुनिया में जो कम से कम कष्ट पाते है ।

शोपेनहावर के एक प्रशंसक नित्से ने इस विचारधारा को पराकाष्ठा तक पहुंचाया । नित्से जर्मन धर्मशास्त्र के अध्ययन से निराश होकर दार्शनिक बना था । शोपेनहावर की तरह वह भी विश्वास करता था कि जीवित दुनिया की सबसे बड़ी शक्ति है- इच्छा । किन्तु यह इच्छा सिर्फ जीने की इच्छा नहीं है, इसमें शक्ति प्राप्त करने की भी इच्छा है । नित्से की मुख्य सूक्ति थी "शक्ति की इच्छा" Will to power) अगर एक श्रेष्ठ समाज का उदय होना है तो वह वैसे समर्थ और प्रतिभावशाली व्यक्तियों के प्रयास से होगा जो आपनी श्रेष्ठ शक्ति, इच्छा और प्रतिभा के बल पर अधिकार प्राप्त करेंगे । जिससे शक्ति की वृद्धि होती है, वह अच्छा है चाहे वह पाशविक बल, इच्छा, निर्भीकता, धूर्तता या बुद्धि ही क्यों न हो । जो कमजोरी पैदा करता है, वह बुरा है, चाहे वह भद्रता, शालीनता, उदारता 'और दया ही क्यों न हो। जनतंत्र और इसाईयत अच्छे समाज के दो सबसे बड़ा दुश्मन हैं । जनतंत्र मामूली लोगों, जानवरों का शासन है । किन्तु नित्से ने सबसे अधिक आक्रमण इसाई धर्म पर किया । उसका विश्वास. था कि इसाईयत पश्चिमी सभ्यता का सबसे बड़ा अभिशाप है, एक दास धर्म है जो दब्बूपन, दया, त्याग और दान जैसे दासत्व और कमजोरी की प्रशंसा करता है । यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि नित्से देर उन्नीसवीं सदी के लोगों में लोकप्रिय नहीं था क्योंकि तत्कालीन लोग विज्ञान और प्रोघोगिकी की महान् उपलब्धियों से अभिभूत थे । लेकिन बीसवीं सदी में उसका प्रभाव काफी था । उग्र राष्ट्रवाद और फासिस्टवाद ने नित्से के विचारों से काफी प्रेरणा प्राप्त की ।

अस्तित्ववाद बीसवीं सदी की दूसरी विचारधारा थी जो नित्से से प्रभावित थी । इस दर्शन का सबसे विख्यात् प्रतिपादक जीन पॉल सार्त्र (Sartre) था जो फांस और जर्मनी के बुद्धिजीवियों के बीच विशेष रूप से लोकप्रिय था । उसने सारे नैतिक नियमों तथा मूल्यों को मानने से इन्कार कर दिया । इस निरूद्देश्य दुनियां में मनुष्य सिर्फ अपने प्रति उत्तरदायी एक सीमित एवं स्वतंत्र प्राणी है । यह जटिल और अस्पष्ट दर्शन न केवल मोहभंग को दर्शाता है बल्कि इसाईयत, मार्क्सवाद और फासिस्टवाद के विरुद्ध विद्रोह का प्रतिनिधित्व करता है ।

शोपेनहावर और नित्से के विचारों से कम निराशावादी और हिंसक परन्तु उतना ही भौतिकवादी परिणामवाद का दर्शन (Pragmatism) था । इस विचारधारा का मुख्य प्रतिपादक विलियम जेम्स (1842-1910) था जो हार्वर्ड विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान और दर्शन का प्राध्यापक था । परिणामवाद ने इस शताब्दी के आरंभ में आणविक भौतिक-विज्ञानियों द्वारा पैदा की गयी अनिश्चितता को प्रतिबिम्बित किया । उसने तर्कशास्त्र ओर घर्म के सारे सुनिश्चित

नियमों को अस्वीकार कर दिया । सत्य व्यक्ति और परिवेश पर आधारित एक सापेक्ष तथ्य है। वही चीज सत्य है जो काम करती है और उपयोगी है । हम अन्तिम धार्मिक या नैतिक सत्यों को नहीं जान सकते । लेकिन अगर कोई धर्म एक व्यक्ति को आत्म विश्वास और मानसिक शान्ति प्रदान करता है तो वह उसके लिए व्यावहारिक और सत्य है । इस प्रकार आध्यात्मिक नैतिक और माननवीय मूल्य विलियम जेम्स और परिणामतवादियो के लिए उतना ही सापेक्ष है जितना अल्वर्ट आइन्सटाइन के लिए भौतिक दुनिया ।

जेम्स का सबसे प्रभावशाली शिष्य जॉन डेवी था । उसने विघार्थियों की कक्षा में परिणामवाद के सिद्धान्त को पेश किया । विभिन्न प्रयोगों और उदाहरणों के द्वारा सापेक्षवाद, भौतिकवाद, परिणामवाद और सिनिक दर्शन को छात्रों के बीच लोकप्रिय बनाया गया ।

10.9 यथार्थवादी साहित्य

1870 के बाद का अधिकांश साहित्य दर्शन की तरह भौतिकवाद सिनिक दर्शन और निराशावाद को प्रतिबिम्बित करता था । फिर भी, स्वच्छन्दतावाद 1870 के बाद समाप्त नहीं हो गया था । बीसवी सदी में भी हमें स्वच्छन्दतावाद की झलक मिलती है । स्वच्छदतावादी कवि विक्टर हयूगो रोबर्ट ब्रोउनिंग अल्केड टेनीसन 1855, 1889 और 1892 तक जिन्दा रहें । यदपि ब्रोउनिंग मानव मनोविज्ञान और सेवेग के विश्लेषण में अपरिष्कृत और यथार्थवादी था, किन्तु कहीं कहीं वह आर्दशवादी और आशावाद दोनों दिखाई देता है । किन्तु 1870- 1914 की अवधि के साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण और प्रबल प्रव्रत्ति थी यथार्थवाद कविता की अपेक्षा उपन्यास और नाटकों में यथार्थवाद भी विशेष अभिव्यक्ति पाते हैं । यथार्थवाद मानव स्वभाव और समाज के बीभत्स और स्वार्थपूर्ण पक्ष का चित्र करता हैं । इसने निर्धन और शोषित सर्वहारा वर्ग को आदर्श में प्रस्तुत किये बिना औघोगिक मध्यमवर्ग की स्वार्थपरता और इसके धार्मिक तथा नैतिक पाखंड की कटु आालोचना की ।

फ्रांस यथार्थवादी साहित्य का अगुआ था । बलजैक मूलत: एक स्वच्छन्दतावादी उपन्यासकार था । किन्तु उसके उपन्यासों में यथार्थवाद का पूर्वाभास मिलता हैं । पहला फ्रांसीसी यथार्थवादी उपन्यासकार गुस्टाव, फ्नोबर्ट था ।Madam Bovary) नामक उसका यथार्थवाद का नमूना है । एमिल जोला (1840-1902) औघोगीकरण द्वारा पैदा हुए सामाजिक समस्याओं के प्रति अधिक चिन्तित दिखाई देता है । अपने बीस मर्मज्ञ और कभी-कभी उबाऊ उपन्यासो में वह परिवर्तनशील समाज की समस्याओं का विश्लेषण करता है । उसकी सद्भावना औधोगिक सर्वहारा वर्ग के साथ थी किन्तु वह मनुष्य की स्वाभाविक अच्छाई में भी विश्वास करता था । फ्रांसीसी यथार्थवादी उपन्यासकारों में सबसे महान् और प्रभावशाली एनातोल फ्रांस (1844-1924) था । वह मूलत: एक भोगवादी था । उसने बुर्जुआ समाज और इसाई धर्म तथा नैतिकता पर व्यंग किया । 'Penguin Island, The Garden of Epicurus'- और The Revolt of the Angels'- उसके तीन सर्वप्रसिद् उपन्यास थे । फांस के ब्लजैक की तरह ग्रेट ब्रिटेन के चार्ल्स डिकेन्स (1812-70) में भी स्वच्छन्दतावाद और यथार्थवाद का संयोग मिलता है । अपनी भावुकता, अपने नैतिक उपदेशों अपनी आशावादिता और सहज एवं स्वत: स्फूर्त शब्दों के प्रयोग में वह स्वच्छन्दतावादी था । परन्तुं सामाजिक सुधारों के लिए उत्साह बुर्जुआ

अकड़ तथा भ्रष्ट बुर्जुआ संस्थाओं की व्यंगात्मक आलोचना में और शहरी सर्वहारा वर्ग के सजीव चित्रण में चार्ल्स डिकेन्स ब्रिटिश यथार्थवादियों में सर्वप्रथम आता है । डेविड कोपरफिल्ड ओलिवर टवीस्ट और पिकविक पेपर्स में अनेकों मध्यमवर्गीय और निम्न मध्यमवर्गीय पात्र हमें दिखाई पडते हैं । डिकेन्स की तरह थोमस हार्डी (1840- 1928) दुनिया के बारे में बिल्कुल निराशावादी भावना रखता था । उसके अधिकांश पात्र साधारण देहात के लोग हैं जो ईश्वर की सहायता के बिना ही अपने भाग्य और वातावरण से संघर्ष करता है । दी रिटर्न आफ दी नेटिव, द मेयर ऑफ केस्टरब्रिज और देस आफ द डि अरबर वाइल्स किसी भी भाषा के यथार्थवादी उपन्यासों में सर्वोत्तम माना जाता हैं । एच0 जी0 वेल्स (1866- 1946) भौतिकवादी विज्ञान प्रौघोगिकी और सामाजिक सुधार में विश्वास रखता था । उसके उपन्यासों में वैज्ञानिक प्रगति और समाजवादी यूटोपिया मुख्य विषय हें ब्रिटिश यथार्थवादियों में सबसे महान जार्ज बर्नाडशा (1856-1950) था। अपने भद्र और परिष्कृत उपन्यासों, लेखों और नाटकों में उसने इसाईयत, पूँजीवाद और जनतंत्र पर तीखा व्यंग किया । शॉ एक सिनिक (cynic), एक समाजवादी और घोर भौतिकवादी था । वह यथार्थवाद का सच्चा प्रतीक था ।

नार्वे का नाटककार हेनरिक इवसेन प्रभावशाली यथार्थवादियों में एक था । उसने अपने लोकप्रिय नाटकों में बुर्जुआ समाज का मजाक उड़ाया । उसके सबसे प्रिय नाटक "ए डॉलस हाउस" में उसकी अभिनेत्री अपने पाखंडी और नीरस मध्यमवर्गीय पति के विरुद्ध विद्रोह करती है। "एन एनेमी ऑफ द पीपूल" में इवसेन जनता की मानसिक अस्थिरता और जनतांत्रिक सरकार की अनुपयुक्तता को उजागर करता है । "घीस्ट्स" सिफलिस नामक बीमारी की सामाजिक एवं व्यक्तिगत समस्याओं का वर्णन करता है । जर्मनी में गर्हार्ट हौप्टामान (1862-1946) ने औघोगिक क्रांन्ति के प्रारंभिक चरण में सर्वहारा वर्ग के विस्थापन को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया । रूस में दोस्तोवस्की और तुर्गनेव में यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद का उसी प्रकार का सामंजस्य है जैसे फांस के बलजैक और ग्रेट-ब्रिटेन के डिकन्स में पाया जाता है । लिओ टाल्र्सटाय (1828- 1910) अधिक यर्थाथवादी था । और उसने अपना सारा जीवन और लेखन सामाजिक सुधार के प्रति समर्पित किया । उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति "वार एण्ड पीस" शांतिवाद के लिए भावोत्तेजक दलील है । बाद में उसने इसाईयत और समाजवाद को जोडने का प्रयास किया । एन्टन चेखोव (1860- 1904) ने रूसी क्रषक जीवन के बारे में परिष्कृत किन्तु यथार्थवादी और निराशावादी नाटक लिखा । मेक्सिम गोर्की (1868- 1936) ने अपने नाटकों और उपन्यासों में रूसी जनता की सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण किया । वह क्रान्तिकारी और साम्यवादी था ।

उपर्युक्त वर्णित साहित्यकारों की रचनाओं में हम अनेक तरह की विभिन्नता पाते हैं । परन्तु उनमें कई समान बातें भी हैं । प्राय: सभी ने औघोयोगिक क्रान्ति के कारण उत्पन्न सामाजिक विस्थापन को प्रतिबिंबित किया है । यह विज्ञान और प्राघोगिकी के युग के भौतिकवाद को भी परिलक्षित करता है । यह बार-बार डारविन और फायड के प्रभाव का वर्णन करता है । बदलते हुए सामाजिक और नैतिक मूल्यों और उनके द्वारा उत्पन्न मोह भंग और सैनिकवाद के प्रति

यह चिन्तित दिखाई पडता हैं । प्राय: सभी रचनाओं के मूल में यह मोहभंग और सिनिकवाद दिखाई देता है ।

10.10 प्रभाववाआदी और आधुनिक चित्रकला एवं मूर्तिकला

यथार्थवाद साहित्य का जन्मस्थल फांस प्रभाववादी आधुनिक चित्रकला का एवं मूर्तिकला का भी मुख्य केन्द्र था । प्रभाववाद पन्द्रवही शताब्दी से ही स्थापित कलात्मक मानदण्ड के विरुद्ध एक नरम और परिष्कत विद्रोह था । यह परम्परागत मान्यताओं और संस्थाओं के विरुद्ध बौद्धिक चुनौती को दर्शाता है । जो विज्ञान की प्रगति के कारण पैदा हुआ । प्रभाववाद चित्रकला अनौपचारिक, बिना दिखावे का और बेतरतीब था । इस कलात्मक शैली का मुख्य संस्थापक एडवर्ड मेनेट (1832-83) था । उसके मुख्य शिष्यों में क्लाउड मोनेट(1840- 1926) और आगस्ट रेनोयर (1841-1919) और जेम्स मैकनिल हवीसलर(1834- 1903) था । इन कलाकारों ने पार्को, प्राकृतिक दृश्यों, झिलमिल करते हुए झरनों नदियों, सूक्ष्म परिषक्रत रूपचित्रों का चित्र बनाया । उन्होंने गौण बातों को छोड़कर सिर्फ अर्थगर्भित छाया और आकृति का चित्र बनाया । उनके चित्र इंद्रियग्राहृय, आंलकारिक और थोड़ा. रूढिभंजक होते थे ।

उन्नीसवीं सदी के अन्त तथा बीसवीं सदी के आरंभ में आधुनिक चित्रकारों ने अनुभववादी परम्परा को और आगे बढ़ाया । एमिल जोला के मित्र पॉल सेजाने (Cezanne) (1839-1906)ने इस नयी प्रवृत्ति का नेतृत्व किया । अधिक प्रभावशाली असर, प्रामाणिकता तथा गोलाई दिखलाने के लिए सेजाने ने मोटे रंग का प्रयोग किया । फ्रांसीसी चित्रकार पॉल गैगुइन (1848-1903) और डच विन्सेंट गोगे (1853-1890) ने चित्रकला की हर पुरानी परम्परा को तोड़ डाला । उसने तीखे लाल, पीले और हरे रंग में बिल्कुल नये रूप में चित्र बनाए। केनवास पर बनाए गये वाँन गोग के चित्र अनोखे और उल्लेखनीय प्रभाव वाले होते थे । वह प्रकृति के रूप को तोड़-मरोड़ कर अपने ढंग से अपने भाव को प्रकट करता था । सेजाने, गेगुइन और वान गोग बीसवीं सदी के कई चित्रकला शैलियों जैसे घनवाद और भविष्यवाद के अग्रदूत थे।

क्रांतिकारी आधुनिक चित्रकारों में सबसे प्रसिद्ध फ्रांसीसी हेनरी मेतिसे (1869-1954) और पेबलो पिकासो था । अपनी कलाकृतियों में इन्होंनें काफी हद तक पुरानी परम्पराओं को तोड़ा-मरोड़ा । मेतिसे प्राचीन संस्कृति पर मोहित था । पिकासो द्वारा चित्रित आकृतियाँ ज्यामितीय और अव्यवस्थित होती थी । उसने कभी कभी रंगों का प्रयोग किया ही नही ।

बौद्धिक विद्रोह और गिरते हुए नैतिक मूल्यों के युग में यह स्वाभाविक है कि कलाकार अन्तर्मुखी होगा । 1870 के बाद चित्रकला काफी वैयक्तिक हो गयी । कलाकारों ने व्यक्तिगत चीजों जैसे फल और सांरगी का चित्र बनाया । उन्होंने विघटनात्मक समाज की बहुत सारी चीजों जैसे वेश्या, पियक्कड़, अँधे भिखारियों तथा करने वालों का चित्र बनाया । आकृतियाँ सामान्यतया अलग-अलग होती थीं, एक साथ नहीं । चित्रों में पाया जाने वाला यह पृथक्करण और विज्ञान, मशीन और तेजगति का प्रतीक परम्परागत मूल्यों, भौतिकवादी विज्ञान और प्रौघोगिकी के विरुद्ध बौद्धिक विद्रोह तथा जनंसख्या का प्रतिनिधित्व करता है । दुर्भाग्य से इस समय के चित्र इतने बारीक और विशिष्ट होते थे कि इन्हें कुछ ही लोग समझ पाते थे ।

सम्पत्ति और शहरों के तेज विस्तार के नए सार्वजनिक भवनों, चौराहों, तथा पार्कों को सजाने के लिए काफी संख्या में मूर्तियों का प्रयोग हुआ । अधिकांश मूर्तियाँ, पुरानी शैलियों पर आधारित थीं । सिर्फ दो मूतिकारों ने अपने तथा भावी युग सकी प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित किया । वे थे - बेलजियम के कान्सटेनटाइन मेयुनियर (1831-1905) और फान्स के आगस्ट रोडिन (1840-1917) । मेयुनियर पहला मूर्तिकार था जिसने औघोगिक सर्वहारावर्ग के महत्व को समझा । उसके अपरिष्कृत और यर्थाथवादी मूर्तियों में द हेमरस्मिथ, द पडलर, द माइन गर्ल और द ओल्ड माइन होर्स प्रसिद्ध हैं । रोडिन ने मूर्तिकला में प्रभाववाद की शुरूआत की । "द थिंकर" नामक उसकी मूर्ति न केवल प्रभाववादी है बल्कि यह डारविन के विकासवाद के सिद्धान्त को भी दर्शाता है । बीसवीं सदी के आधुनिक, अस्पष्ट और प्रतीकात्मक मूर्तिकला का अग्रदूत रोडिन को माना जाता है ।

10.11 क्रियात्मक वास्तुकला

1870-1917 अवधि की वास्तुकला, मूर्तिकला की तरह, नयी और पुरानी शैलियों का मिला-जुला रूप था । विशाल सार्वजनिक भवनों की प्रचलित शैली शास्त्रिय थी । गोथिक शैली, जिसका पुनरउदय उन्नीसवीं सदी के आरंभ में हुआ था, अब विश्वविद्यालय भवनों और चर्च तक ही सीमित था । संचार साधनों के तेज विकास के कारण पूरे पश्चिमी जगत में बाइजेनटाइन, मुरिका और पूर्वी शैलियाँ भी दिखाई पड़ने लगी । अमेरिकी वास्तुकार लुई हेनरी सलिकन (1856-1924) स्टील, विज्ञान और गति के युग के अनुरूप एक नयी शैली विकसित करनेवाला पहला था ।सलविभन का कहना था कि "आकृति रूप क्रिया के पीछे चलती है (Form follow function) इसका अर्थ यह था कि भवनों की शैली इसके निर्माण में लगाई जाने वाली साम्रगी के प्रयोग के इरादे और इसके वास्तविक प्रयोग से निर्धारित होती है ।

किन्तु सलिवन ओ इसके अनुयायी "रूप क्रिया के पीछे चलती है" सिद्धान्त से संतुष्ट नहीं थे । उनका यह निर्णय था कि क्रिया वास्तुकला का मुख्य उद्देश्य होता है । इस सिद्धान्त का कार्यान्वयन "क्रियात्मक वास्तुकला" कहलाया । इमारती स्टील, कंकरीट, सीसे और ईट के प्रयोग के कारण अब क्रियात्मक वास्तुकारों के लिए अटूट समतल लाइन तथा लालित्य से पूर्ण लम्बी ऊँचाई प्राप्त करना सम्भव हो गया जो यूनानी और गोथिक वास्तुकारों के लिए असम्भव था । पुराने नैतिक मान्यताओं के विरुद्ध बौद्धिक विद्रोह की भावना ने वास्तुकारों को नये प्रयोग की वह स्वतंत्रता दी जो पहले प्राप्त नहीं थी । अपूर्व धन और प्राघोगिक विकास ने उन्हें अपने विचारों को कार्यरूप देने का मौका दिया । किन्तु क्रियात्मक स्थापत्य का अधिकांश उदाहरण हमें संयुक्त राज्य अमेरिका में ही दिखाई देता है, युरोप में कम ।

10.12 संगीत

इस अवधि में संगीत ने अन्य कलाओं की तुलना में भौतिकवादी तथा वैज्ञानिक भावना के प्रति सबसे कम संवेदनशील दिखाई देती है । पहले चरण के कई महान् स्वच्छन्दतावादी संगीतकार अभी सक्रिय थे । वेगनर 1883 तक और वर्डी 1901 तक जीवित रहे । उनकी श्रेणी में अब कई और स्वच्छन्दतावादी संगीतकार जैसे फ्रांस के केमिल सेंट-सेन्स

(1835-1925) और रूस के पीटर सैकोवस्की (1840-93) शामिल हो गये । स्वच्छन्दतावाद के साथ-साथ राष्ट्रवाद की भावना में भी कोई कमी नहीं आयी थी । हम देख चुके हैं कि 1870 के बाद वेगनर का राष्ट्रवाद कितना उग्र हो गया था । सैकोवस्की के स्वच्छन्दतावाद के साथ भी रूसी राष्ट्रवाद जुड़ा हुआ था । रूसी निकोलस रिमस्की-कोरसाकोव (1844-1908)चेक एन्टन कोरैक (1841-1904) नोर्वेजियन एडवर्ग ग्रेग (1843-1907) और फिनिस जीन सिबेलियस (1865-1957) के संगीत धुनों और संगीत-विषयों में शुद्ध राष्ट्रवाद की झलक मिलती है । स्वछन्दतावाद के साथ साथ शास्त्रियवाद को भी जोहानेस ब्रहम्स नामक जर्मन संगीतकार (1833-1897) ने दर उन्नीसवीं शताब्दी तक खींच लाया । ब्रहम्स की शैली बियोवन से मिलती जुलती है बियोवन की तरह उसने स्वछन्दता और शास्त्रिय भाव के बीच सामंजस्य बनाये रखा ।

1870-1917 की अवधि में संगीत का सबसे महत्वपूर्ण नव-प्रवर्तक फ्रासीसी संगीतकार क्लाउड डेबसी (1862-1918) था । डेबुसी प्रभाववादी संगीत का पिता था । संगीत के क्षेत्र में सूक्ष्म और परिष्कृत ध्वनिवेषम्य के साथ प्रयोग करने में डेबुसी वैसा ही था जैसा चित्रकारी के क्षेत्र में मेनेट और रेनोयर था । डेबुसी के आधुनिक शिष्यों में फ़ार्स का मौरिस रावेल (1875-1938), और रूस का इगोर स्ट्राविनस्की, सजी प्रोकोपिएव और दिमित्री शोस्ताकोविच था । डेबुसी के अनुयायियों का उग्र, बेसुरा और कभी-कभी शोर मचाने वाला संगीत निश्चित रूप से भौतिकवादी प्रौघोगिकी और विज्ञान दोषदर्शी मोहभंग (Cynical disenchantment)और पंरपरागत मान्यताओं के विरुद्ध बोद्धक विद्रोह को प्रतिबिंबित करता था ।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि 1870 से 1917 तक भौतिकवादी, दोषदर्शी (Cynical)तथा बेचैन मस्तिष्क के पीछे राष्ट्रवाद की भावना थी । राष्ट्रवाद में व्याप्त उग्रता एक अशुभ लक्षण था । विज्ञान और प्रौघोगिकी के विकास के कारण लोगों की उग्रता और तीव्र होती जा रही थी । 1917 में पश्चिमी मानव रोग के कारण थकाऊ काम और आवश्यकताओं से मुक्त भौतिकवादी यूटोपिया की दहलीज पर खड़ा था । फिर भी निराशावाद का भूत अभी आवाजाही कर ही रहा था।

10.13 बोध प्रश्न:

1. वे कौन से कारक थे जिन्होंने 1815-1870 ई. के मध्य यूरोप के सामाजिक विचार और संस्कृति को आकार प्रदान किया?
2. स्वच्छन्दतावाद (Romsnticism)की प्रमुख विशेषताओं को बताइए ।
3. आदर्शवाद (Idealism) की प्रमुख विशेषताऐं क्या हैं
4. स्वच्छन्दतावादी (Romantic)साहित्य और कला का संक्षिप्त विवरण दीजिए ।
5. मोहभंग दर्शन (Philosophy of disenchantment)की मुख्य विशेषताओं को बताइए।
6. यथार्थवादी (Realistic litrature) साहित्य प्रभाववादी (Impressionidyie) कला व क्रियात्मक (functional) वास्तुकला का विवरण दीजिए ।

10.14 संदर्भ ग्रंथ

1. डेविड थोम्पसन, यूरोप सिंस नेपोलियन
2. रोनल्ड एन. स्ट्रोमवर्ग, एन इटैलैक्चुअल हिस्ट्री आफ मार्डन यूरोप
3. एच रैनडल (1) दि मेकिंग आफ मार्डन माइंड

   (2) दि कैरियर आफ फिलोसोफी
4. डब्ल्यू एच. कोट्स, एन इटैलैक्चुअल हिस्ट्री आफ मार्डन यूरोप
5. डोनाल्ड जे, ग्रान्ट, ए हिस्ट्री आफ वेस्टर्न म्यूजिक
6. एरनाल्ड हौसर, सोशल हिस्ट्री आफ आर्ट (4 वोल्यूम्स)
7. निकोलस पेवस्नगर, एन आउटलाइन आफ यूरोपियन आर्कीटैस्वर
8. फ्रेडरिक हीर, इटैलैस्तुअल हिस्ट्री आफ यूरोप ।

इकाई सं. 11

सन्धियों और समझौतों की पद्धति - महाद्वीपीय उच्चता की राजनीति 1878-1890

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 संधियों और समझौतों की पद्धति

11.3 प्रथम चरण में सन्धि स्थापना तीन सम्राटों का गुट-1873.

11.4 युद्ध का भय 1875

11.5 बर्लिन सम्मेलन

11.6 आस्ट्रिया के साथ मैत्री संधि की पृष्ठभूमि

11.7 संधि का मूल्यांकन

11.8 त्रिगुट की स्थापना 1882

11.9 रूस के साथ पुनराश्वासन संधि 1887

11.10 बिस्मार्क का पतन

11.11 बोध प्रश्न

11.12 संदर्भ ग्रंथ

इकाई 11 सन्धियों और समझौतों की पद्धति - महाद्धीपीय उच्चता की राजनीति 1870-1890

11.0 इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप निम्न पक्षों के बारे में जान सकेंगें

1. गुट बनाने की राजनीति को समझना और इस नीति में बिस्मार्क के नीति कौशल को पहचानना
2. परिस्थितियों के अनुसार बिस्मार्क का इस नीति को ढालना और परस्पर विरोधी शक्तियों के साथ अपनी मैत्री बनाए रखना जो उसके कुशल कूटनीतिज्ञ होने का परिचायक था
3. किन परिस्थितियों में उस नीति का विकास हु आ तथा बिस्मार्क के लक्ष्य क्या थे
4. 1878 के पश्चात किस प्रकार इस मौलिक नीति का क्रियान्वयन कठिन हो गया और बिस्मार्क ने उस नीति में क्या परिवर्तन किया
5. बिस्मार्क का कूटनीतिक वर्चस्व
6. 1890 ई के पश्चात् बिस्मार्क की नीति का संचालन असम्भव
7. बिस्मार्क की नीति की सफलता का रहस्य

11.1 प्रस्तावना

1870-71 के फ्रांस और प्रशा के मध्य युद्ध का परिणाम जर्मन साम्राज्य की स्थापना से हुआ । यूरोप की राजनीति में फ्रांस का दो शताब्दियों से चला आ रहा वर्चस्व समाप्त हो गया और एक नए जर्मन साम्राज्य का प्रभुत्व स्थापित हो गया । जर्मनी को यह प्रधानता आस्ट्रिया और फ्रांस को हराकर प्राप्त हुई थी । वह यह जानता था कि फ्रांस अपनी इस पराजय का बदला अवश्य लेगा । आल्सेस और लोरेन के फ्रांसीसी प्रदेशों को जर्मनी में मिलाकर यह निश्चित हो गया था कि फ्रांस अपनी पराजय को सरलता से भूल नहीं सकता था । जर्मनी के चांसलर बिस्मार्क के समक्ष सबसे बड़ी समस्या 1871 की उपलब्धियों को सुरक्षित रखने की थी । जर्मनी की महत्वाकांक्षा यूरोपीय महाद्वीपीय तक ही सीमित थी और महाद्वीप में वह सब प्राप्त कर चुका था जिसे वह आवश्यक समझता था । बिस्मार्क का कथन था कि विदेशी महत्वाकांक्षा की दृष्टि से जर्मनी एक तृप्त देश की भांति था । उसकी मुख्य समस्या कुछ अधिक प्राप्त करने की अपेक्षा वर्तमान उपलब्धियों को सुरक्षित रखने की थी । इस मार्ग में मुख्य बाधा फ्रांस की अपनी महत्वाकांक्षा थी । वह 1871 की स्थिति को बदलने के लिए दृढ़ संकल्प था क्योंकि वह उसके लिए अपमानजनक स्थिति थी । फ्रांस और जर्मनी की विदेश नीति के लक्ष्य परस्पर विरोधी थे और महाद्वीपीय कूटनीतिक गतिविधियों के लिए उत्तरदायी थे । जर्मनी जिस स्थिति को सुरक्षित रखना चाहता था फ्रांस उसी को तोड़ना चाहता था ।

11.2 संधियों और समझौतों की पद्धति

जर्मनी की स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए बिस्मार्क यह आवश्यक समझता था कि फ्रांस को युरोप में अकेला रखा जाए । जब तक फ्रांस अकेला रहेगा वह जर्मनी के विरुद्ध युद्ध आरंभ करने को नहीं सोच सकता था । फ्रांस उसी समय जर्मनी से प्रतिशोध ले सकता थो । जब उसका पक्ष लेने के लिए कुछ मित्र देश हो । इसलिए बिस्मार्क की नीति का लक्ष्य यूरोप के अन्य देशों के साथ संधियां और समझौते स्थापित करके फ्रांस का पृथक्करण करना था । बिस्मार्क की अन्य देशों के साथ संधियां जर्मनी के प्रभुत्व का प्रतीक थी साथ ही वह इस नीति से 'फ्रांस को यूरोप में मित्रहीन बना देना चाहता था । इस प्रकार यूरोप में जर्मनी की प्रधानता और उसका प्रभुत्व और फ्रांस का पृथक्करण एक ही नीति के पूरक पक्ष थे अथवा एक ही समस्या के दो पहलू थे । बिस्मार्क की कूट नीति की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि 1871 -90 के मध्य (अर्थात जब तक वह जर्मनी का चांसलर बना रहा) फ्रांस किसी भी देश के साथ मैत्री संबंध स्थापित नहीं कर सका । जर्मनी अथवा बिस्मार्क ने यूरोप के अन्य देशों के साथ इस प्रकार गुट बंधन बनाए रखे कि फ्रांस उनके साथ मैत्री संधि नहीं स्थापित कर सका ।

1871 की स्थिति को यथावत बनाए रखने का अर्थ यूरोप में शांति व्यवस्था स्थापित रखना था । बिस्मार्क की शान्ति व्यवस्था जर्मन सेनाओं के कौशल पर निर्भर करती थी । उसने शांन्ति स्थापित रखने के लिए जर्मनी की सैन्य शक्ति को कम नहीं किया, 1871 में प्राप्त सफलताओं को सुरक्षित रखने के लिए वह यह आवश्यक समझता था कि जर्मनी को पूर्ण सशस्त्र रखा जाए । बिस्मार्क के नियंत्रण में जर्मन विदेश नीति की सफलता का रहस्य भी यही था कि जर्मन सेनाएं विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए तत्पर रहती थीं । यूरोप के

अन्य देशों को भी यह विश्वास था कि जर्मनी अपनी नीति के समर्थन के लिए सेनाओं का प्रयोग कर सकता था ।

संधियों के आधार पर यूरोप में प्रधानता बनाए रखने की नीति को हम दो चरणों में विभाजित कर सकते हैं । 1871 - 1878 ई0 तक (11) 1879- 189० ई0 तक इस विभाजन का मुख्य आधार यह है कि 1878 के पश्चात जर्मनी को कूटनीति वर्चस्व बनाए रखना कठिन होने लगा । 1878 बर्लिन समझौता एक विभाजन रेखा है 1878 तक बिस्मार्क के समक्ष मुख्य समस्या आस्ट्रिया और रूस के मध्य किसी युद्ध के आरम्भ होने की संभावना को रोकना था । 1878 के पश्चात् बिस्मार्क ने आस्ट्रिया का पक्ष लेना अधिक उचित समझा और रूस की नीति को अपने नियंत्रण में रखने के लिए अन्य विकल्प अपनाए । इस दूसरे चरण में इंग्लैंड की भूमिका अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हो गई । लेकिन दोनों ही चरणों में मूलभूत लक्ष्य फ्रांस का पृथक्करण ही था । 1875 ई0 में गणतंत्रीय संविधान की स्थापना के पश्चात् फ्रांस के लिए राजत्व और वंशीय अधिकारों के समर्थक राज्यों में अपने लिए मित्र खोज पाना कुछ समय के लिए कठिन हो गया ।

11.3 प्रथम चरण में संधि स्थापना : तीन सम्राटों का गुट -1873

1871 तक जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण का मार्ग प्रशा और रूस की मैत्री से सरल हो सका था । आस्ट्रिया के विरुद्ध 1866 में और फ्रांस के विरुद्ध 1871 में प्रशा को रूस का समर्थन प्राप्त था । फलस्वरूप 1871 में रूस पर 1856 में लगाए गए कुछ प्रतिबंध कम कर दिए । बिस्मार्क की कूटनीति दूरगामी थी । वह यूरोपीय महाद्वीप में विभिन्न परस्पर विरोधी राज्यों के साथ मैत्री संधि स्थापित करने का इच्छुक था जिससे अन्य राज्यों की कूटनीति को प्रभावित किया जा सके । सबसे पहले वह रूस और आस्ट्रिया दोनों को एक मैत्री बन्धक में सम्मिलित कर लेना चाहता था । पूर्वी यूरोप में आस्ट्रिया और रूस की नीतियां भिन्न थीं, रूस स्लाव राष्ट्रीयता की भावना का समर्थक था और आस्ट्रिया स्लाव प्रदेशों पर अपने नियंत्रण को स्थायी और अधिक दृढ बनाना चाहता था । दोनों राज्यों में टकराव संभव था । इसलिए बिस्मार्क दोनों से मैत्री संधि स्थापित करके उनकी नीतियों को प्रभावित करना चाहता था । क्योंकि युद्ध तो नीतियों का परिणाम हुआ करते हैं ।

आस्ट्रिया में 1971 के पश्चात् यह भय उत्पन्न हो गया था कि शायद आस्ट्रिया के जर्मन भाषी प्रदेशों को जर्मन साम्राज्य में मिला लिया जाए । वास्तव में इस प्रकार का जनमत उन क्षेत्रों के निवासियों में था । दूसरे आस्ट्रिया के अधीन स्लाव प्रदेशों में बहुत असंतोष व्याप्त था । जर्मनी के समर्थन के कारण रूस के परोक्ष हस्तक्षेप का भय बना रहता था । तीसरे इटली का एकीकरण भी जर्मनी के साथ पूरा हो गया था और वह भी इटली मूलक क्षेत्र को आस्ट्रिया के नियंत्रण से मुक्त कराने का इच्छुक होगा । इस प्रकार के समस्त भय जर्मनी की मैत्री से दूर हो सकते थे । इसलिए आस्ट्रिया के सम्राट ने जर्मनी के साथ मैत्री संधि करने की इच्छा व्यक्त की ।

बिस्मार्क यह समझता था कि उसे केवल रूस पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिए । जर्मनी के उत्थान के प्रति रूस में अधिक अच्छी भावना नहीं थी । इसके अतिरिक्त रूस की सैनिक शक्ति भी बहुत विश्वसनीय नहीं थी । बिस्मार्क पूर्वी यूरोप में बढ़ते हुए स्लाव राष्ट्रीयवाद को

जर्मन एकता से रोकना चाहता था जिसके लिए आस्ट्रिया का सहयोग आवश्यक था । आस्ट्रिया में 1873 में चांसलर के पद पर एक नए व्यक्ति एण्ड्रेसी की नियुक्ति हुई । एण्ड्रेसी स्वयं जर्मनी के साथ मैत्री चाहता था इसलिए इन तीनों राज्यों में परस्पर मैत्री की भावना व्याप्त थी । फ्रांस में गणतंत्र की घोषणा से इन तीनों सम्राटों को गणतंत्रीय अथवा प्रजातंत्रीय सिद्धातों के प्रसार के भय से आपसी समझौते करने के लिए औचित्य प्राप्त हो गया ।

सितम्बर 1872 में आस्ट्रिया का सम्राट जर्मनी आया और उसी समय रूस का जार भी बर्लिन आया । तीनों सम्राट अपनेअपने मंत्रियों के साथ मिले । कोई समझौता तो इस समय नहीं हुआ लेकिन आपसी मैत्री भावना अवश्य बढ़ी । मई 1873 में जर्मन सम्राट और बिस्मार्क सेन्टपीर्ट्सबर्ग गए । यहां एक सैनिक समझौता का मसौदा तैयार हुआ लेकिन उस पर हस्ताक्षर नहीं हुए । बाद में आस्ट्रिया और रूस के मध्य जुलाई 1873 में शोनबुन कन्वेन्शन पर हस्ताक्षर हुए इस समझौते की शर्तें बहुत सामान्य थीं । इसके अनुसार यदि किसी प्रश्न पर किन्हीं दो देशों में मतभेद होगा तो वे आपस में विचार विमर्श करेंगे । यदि कोई अन्य देश उनमें से किसी एक पर आक्रमण कर दे तो वे आपस में सलाह करेंगे और यदि आवश्यक हुआ तो वे एक सैनिक समझौता भी कर सकेंगे । जर्मनी ने इस समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए और इस प्रकार यह त्रिसम्राट गुट के नाम से मशहूर हो गया ।

इस समझौते को लैंगर ने 1815 में स्थापित पवित्र संघ का पुनर्जीवन बताया है लेकिन यह उचित प्रतीत नहीं होता । बहुत सामान्य और दुर्बल होते हुए भी यह बिस्मार्क की दृष्टि से बहुत उपयोगी था । सर्वप्रथम तो तीनों राज्यों के मंत्रियों में वह सबसे अधिक प्रभावशाली था इसलिए अन्य दोनों को अपनी नीति अनुसार मोड़ सकता था । इससे भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि वह फ्रांस को यह बताना चाहता था कि उसका अपना शत्रु आस्ट्रिया भी जर्मनी के साथ था । रूस के जर्मनी के साथ संधि कर लेने के पश्चात् फ्रांस रूस से भी कोई आशा नहीं कर सकता था ।

11.4 युद्ध का भय- 1875

1875 में यूरोप में संभावित युद्ध के प्रश्न पर एक कूटनीतिक संकट खड़ा हो गया । कुछ परिस्थितियां भी इस प्रकार से थी कि सरलता से बिस्मार्क के उद्देश्यों के संबंध में भ्रांति, पैदा हो सकती थी । आशा के विपरीत बहुत शीघ्र ही फ्रांस ने 1871 में लादी हुई युद्ध के हरजाने की धनराशि 1873 तक लौटा दी और उसने अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न किया । बिस्मार्क इस समय जर्मनी में रोमन कैथोलिकों के विरुद्ध संघर्ष में व्यस्त था और आस्ट्रिया के रोमन कैथोलिक जर्मनी की नीति से रूष्ट थे । इधर रूस को चांसलर गोर्शेखोव भी बिस्मार्क विरोधी था । बिस्मार्क नेअपना विशेष प्रतिनिधि रूस भेजा जिसका विशेष लाभ गोर्शेखोव ने उठाया । उसने बिस्मार्क की महत्वाकांक्षा को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताया । रूस में फ्रांस के राजदूत ने बिस्मार्क के विशेष दूत से बात करके अपना यह निष्कर्ष, फ्रांस भेज दिया कि जर्मनी एक निरोधक युद्ध के पक्ष में था । इसी प्रकार के कुछ लेख जर्मनी और आस्ट्रिया के समाचार पत्रों में भी प्रकाशित हुए और एक अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पत्र हो गया । विभिन्न देशों में कूटनीतिक गतिविधियां तेज हो गई और जर्मनी पर कूटनीतिक दबाव पड़ना आरंभ हुआ कि

वह युद्ध की नीति न अपनाए । बिस्मार्क ने इस प्रकार के युद्ध की इच्छा से निरन्तर इंकार किया और युद्ध की संभावना टल गई ।

इतिहासकारों में भी इस बात पर मतभेद है कि बिस्मार्क का वास्तविक उद्देश्य क्या था? क्या वास्तव में युद्ध चाहता था? इतिहासकार एरिच आइच इस विचार से सहमत हैं कि बिस्मार्क युद्ध का इच्छुक था । लेकिन यह तर्क कुछ असंगत दिखाई पड़ता है क्योंकि बिस्मार्क शांति समर्थक था और किसी भी युद्ध को टालने के लिए प्रयत्नशील रहता था । युद्ध से 1871 में स्थापित व्यवस्था बदल सकती थी और बिस्मार्क के लयों को आघात पहुंचा सकती थी । दूसरी ओर बिस्मार्क फ्रांस से संबंध सुधारने का इच्छुक था । विलियम लैंगर और रोबर्ट्सन इस विचार से सहमत हैं कि बिस्मार्क का लक्ष्य युद्ध करना नहीं था । संभवत: वह धैर्य युद्ध कर रहा था । जिससे फ्रांस में बिस्मार्क विरोधी विदेश मंत्री त्याग पत्र दे दे और फ्रांस अपना सैन्यकरण कम कर दे ।

इस संकट का प्रभाव यह हुआ कि बिस्मार्क अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने में और अधिक सतर्क हो गया । रूस के प्रति उसके दृष्टिकोण में अधिक संदेह उत्पन्न हो गया । त्रिसम्राट गुट की दुर्बलता स्पष्ट हो गई - रूस-जर्मनी मैत्री थोड़े समय के लिए कम महत्वपूर्ण हो गई और यूरोप के सभी देश शान्ति के लिए अधिक प्रयत्नशील दिखाई पड़े । बिस्मार्क के लिए यह एक क्षणिक झटका मात्र सिद्ध हुआ । जर्मनी के वर्चस्व को बनाए रखने के लिए उसने अधिक ठोस कार्य की सोची ।

11.5 बर्लिन सम्मेलन

बिस्मार्क की विदेश नीति के समक्ष एक संकट-बर्लिन सम्मेलन 1878

पूर्वी यूरोप में तुर्की के पतनोन्मुख साम्राज्य और स्लाव जातियों के विद्रोह की समस्या प्राय: सामान्य थी और कुछ-कुछ वर्षों के अन्तराल में उभरती रहती थी । यूरोपीय शक्तियों का दृष्टिकोण उनके अपने हितों के अनुरूप होता था प्राय: रूस इन स्लाव जातियों का समर्थक था और इंग्लैंड तुर्की साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से बचाने में रूचि रखता था । 1875 ई0 में तुर्की अधीन बोसनिया और हर्जेगोविना प्रदेशों को ईसाई जनता ने तुर्कों के अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया । इंग्लैंड को छोड़कर अन्य यूरोपीय शक्तियों ने तुर्की को प्रशासनिक सुधार और नीति परिवर्तन की सलाह दी । तुर्की ने इंग्लैण्ड के दृष्टिकोण को देखते हुए इन सुझावों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और विद्रोह को कुचलने का प्रयत्न किया । विवश होकर रूस को तुर्की के विरुद्ध युद्ध आरम्भ करना पड़ा । तुर्की को हराकर उसे सेन स्टीफेनो की संधि पर हस्ताक्षर करने को बाध्य किया गया । इस संन्धि को इंग्लैण्ड ने स्वीकार करने से इंकार कर दिया और एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का सुझाव दिया । यह सम्मेलन बर्लिन में बिस्मार्क की अध्यक्षता में हुआ जो उसके कूटनीतिक कौशल का परिचायक था तथा उसकी महानता की स्वीकृति थी ।

बिस्मार्क की इस सम्मेलन में भूमिका उसके अपने शब्दों में एक ईमानदार दलाल की थी । वह यूरोप की शान्ति सुरक्षित रखने में अत्यधिक रूचि रखता था । इस समस्या में आस्ट्रिया, रूस, इंग्लैण्ड और तुर्की के हित परस्पर विरोधी थे । बिस्मार्क की कूटनीतिक सफलता यह थी कि वह आस्ट्रिया और रूस में परस्पर तथा इन दोनों का इंग्लैण्ड के साथ समझौता करवाने में सफल हो सका । बिस्मार्क के अभाव में यह सम्मेलन सफल नहीं हो सकता था ।

जर्मनी ने अपने लिए कुछ प्राप्त नहीं किया और इसी कारण वह एक ईमानदार दलाल का कार्य कर सका । लेकिन जैसा बहुधा होता है कि ईमानदार दलाल की निष्पक्षता पर सन्देह हुआ, बिस्मार्क को आस्ट्रिया और रूस के परस्पर विरोधी लक्ष्यों को समझने में कुछ समय लगा । साथ ही रूस के दृष्टिकोण से उसे यह भी आभास हो गया कि रूस की महत्वाकांक्षा को संतुष्ट करना अपेक्षाकृत कठिन था । उसने रूस को बहुत सन्तुष्ट रख सकने का प्रयत्न किया लेकिन वह इस कार्य में बहुत सफल नहीं हुआ क्योंकि रूस के चांसलर गोर्शेखोव ने जर्मनी के विरुद्ध बहुत प्रचार किया । इंग्लैण्ड ने बर्लिन समझौते से साइप्रस प्राप्त कर लिया । वहत बुलगेरिया के तीन टुकड़े कर दिए गए और आस्ट्रिया को बोसनिया तथात् हहर्जेगोविना पर प्रशासनिक नियंत्रण का अधिकार मिल गया । रूस का अधिकार क्षेत्र कुछ फेरबदल से वैसा ही बना रहा ।

बर्लिन सम्मेलन की पूवी समस्या को हल कर सकने में सफलता विवाद का विषय रही है, जर्मनी की विदेश नीति के विकास के संदर्भ में इस सम्मेलन का महत्व यह है कि बिस्मार्क को यह स्पष्ट हो गया कि रूस और आस्ट्रिया दोनों को साथ लेकर चलना अत्यन्त कठिन था । इससे यह भी कहा जा सकता है कि बिस्मार्क के लिए अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करना इस सम्मेलन के पश्चात् और अधिक कठिन हो गया । रूस और आस्ट्रिया में से किसी एक को चुन लेने का अभिप्राय: था कि दूसरे देश को फ्रांस के साथ मिलने का तथा फ्रांस के पृथक्करण और जर्मनी के प्रभुत्व को समाप्त करने का अवसर मिल सकता था । 1878 के पश्चात् दोनों में से एक को छांटकर उससे उत्तत्र संभावना को पूरा न होने देना ही बिस्मार्क की कूटनीतिक दक्षता का परिचायक था । इसी कारण यह कहा जाता हे कि 1878 के पश्चात् बिस्मार्क की विदेश नीति के लक्ष्यों को पूरा करना अधिक कठिन हो गया ।

11.6 आस्ट्रिया के साथ मैत्री संधि की पृष्ठभूमि

1878 के बर्लिन सम्मेलन के समय भी बिस्मार्क के कार्यों से रूस सन्तुष्ट नहीं था । अगले एक वर्ष में (जुलाई 1878-अगस्त 1879) बहुत सी छोटी-छोटी घटनाएं ऐसी हुईं जिनसे रूस जर्मनी के मध्य संबंधों में मधुरता कम होती गई और तनाव बढ़ता गया । बर्लिन समझौते से रूस की विदेश नीति के लक्ष्यों की पुर्ती के मार्ग में बाधाएं बढ़ गईं और रूस को ऐसा प्रतीत हुआ कि उसकी सफलता (सेनस्टिफेनो संधि) को बिस्मार्क ने विफलता में बदल दिया । बिस्मार्क को इसलिए इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया के हितों का समर्थक समझ लिया गया । इससे जर्मन चांसलर को रूस की ईमानदारी और निष्पक्षता पर पूर्ण संदेह होने लगा और उसने आस्ट्रिया के साथ मैत्री संधि की योजना बनाई । यघपि बिस्मार्क ने अपने संस्मरणों में ऐसा दर्शाया है कि वह 1863 के पश्चात ही आस्ट्रिया से मैत्री का इच्छुक था लेकिन वास्तव में 1878 के पश्चात् ही उसकी नीति इस दिशा में अधिक सक्रिय हुई ।

परिस्थितियों ने भी बिस्मार्क के लक्ष्य में सहायता की । बर्लिन संधि के पश्चात् कुछ अन्य छोटी समस्याओं को सुलझाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आयोग नियुक्त हुए जिनमें जर्मनी के प्रतिनिधि भी सदस्य होते थे । किसी भी विषय को जिस पर रूस का समर्थन न किया जाए जर्मनी की रूस विरोधी नीति का परिचायक मान लिया जाता और रूस में जर्मन विरोधी प्रचार बढ़ता जाता । 1879 के आरम्भ में आस्ट्रिया ने 1866 की प्राग की संधि में कुछ संशोधन स्वीकार कर लिया जिससे उत्तरी श्लेस्विग के निवासियों को उस जनमत संग्रह के अधीकार से

वंचित कर दिया गया जिसके अनुसार वे उन्हें डेनमार्क के साथ मिलने का विकल्प उपलब्ध था । इस संशोधन से श्लस्विग का जर्मनी में विलय निश्चित हो गया । रूस ने तुरन्त ही ईमानदार दलाल' की 'दलाली' की बात कही । इसी दलाली के लिए जर्मनी ने आस्ट्रिया का समर्थन बर्लिन में किया था । जनवरी 1879 में रूस में प्लेग फैल गया । बिस्मार्क ने रूस से सामान का आयात बन्द कर दिया जिससे बीमारी जर्मनी में न पहुंच सके ।

बिस्मार्क और गोर्शेखोव की व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा काफी सीमा तक जर्मनी और रूस को अलग करने में उत्तरदायी रही । बर्लिन में बिस्मार्क ने रूस के प्रतिनिधि श्वालोव के प्रति काफी शिष्टता रखी जिसे गोर्शेखोव सहन नहीं कर सका । रूस के जार ने बिस्मार्क के विरुद्ध प्रचार अभियान काफी तेज रखा । दोनों देशों के समाचार पत्रों में एक दूसरे के चांसलर पर काफी कीचड़ उछाली गई जिससे उनमें परस्पर मन-मुटाव काफी हुआ और दोनों की मैत्री एक अतीत की वस्तु हो गई ।

आस्ट्रिया के साथ संधि प्रस्ताव को प्रस्तुत करने से पूर्व बिस्मार्क वहां के चांसलर एण्ड्रेसी के टृष्टिकोण को जानना आवश्यक समझता था । गेस्टीन के स्थान पर 27-28 अगस्त 1879 को दोनों चांसलरों में वार्ता हुई जिसमें एण्ड्रेसी ने बिस्मार्क की योजना का पूर्ण समर्थन किया । इससे बिस्मार्क अत्यन्त प्रसन्न हुआ । लेकिन जर्मन सम्राट विलियम प्रथम रूस के विरुद्ध आस्ट्रिया के साथ मैत्री की योजना से सहमत नहीं था । 3 सितम्बर 1879 को विलियम ने रूस का सम्राट का एक भेंट का निमंत्रण स्वीकार कर लिया और उसने जर्मन सम्राट की रूस के प्रति मैत्री के टृष्टिकोण को ओर दृढ़ कर दिया जिससे बिस्मार्क को काफी कठिनाई हुई ।

बिस्पार्क के आस्ट्रिया जाकर संधि स्थापित करने के प्रस्ताव को विलियम ने बड़ी कठिनाई के बाद स्वीकृत किया । सम्राट ने स्पष्ट कह दिया कि रूस विरोधी कोई प्रावधान संधि में नहीं होना चाहिए । बिस्मार्क का आस्टिया की राजधानी वियना में भव्य स्वागत हुआ और आस्ट्रिया के चांसलर के सुझाव पर वह एक निश्चित संधि के मसौदे पर सहमत हो गया । इस संधि की मुख्य धाराएं इस प्रकार थी ।

(i) यदि दोनों में किसी एकपर रूस ने आक्रमण किया तो दूसरा उसकी सहायता करेगा ।

(ii) यदि रूस के अतिरिक्त कोई अन्य देश आक्रमण करेगा, तो दूसरा तटस्थ रहेगा; लेकिन यदि रूस ने अन्य देश के आक्रमण में सहायता की, तो दूसरा देश पूरी सेनक शक्ति से सहायता करेगा।

(iii) यह संधि पांच वर्षों के लिए होगी । अवधि पूरी होने पर इसे पुनर्जीवन दिया जा सकेगा। इस संधि को गुप्त रखा जायेगा । यदि रूस ने अपनी सैनिक शक्ति बढ़ायी तो उसे यह चेतावनी दे दी जायेगी कि दोनों में से किसी एक पर आक्रमण दोनों पर आक्रमण के समान होगा ।

इस संधि का विलियम प्रथम ने बहुत विरोध किया । बिस्मार्क ने 1862 ई0 के पश्चात् कई अवसरों पर विलियम को उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने पर बाध्य किया था, लेकिन इस प्रकार विलियम भी अपनी बात पर दृढ़ रहा और बिस्मार्क को अपना अन्तिम शस्त्र प्रयोग करना उसने अपने सब मंत्रियों के साथ त्याग पत्र देने की बात कही । विलियम ने यह

कह कर 'जर्मनी के लिए मुझ से अधिक बिस्मार्क महत्वपूर्ण है,' बिस्मार्क की बात स्वीकार की। अम्बर 1879 में इस संधि पर हस्ताक्षर कर दिये गये ।

11.7 संधि का मूल्यांकन

बिस्मार्क की इस संधि पर परस्पर विरोधी विचार व्यक्त किये गये हैं । कुछ आलोचकों ने इसको महान उपलब्धि बताया है लेकिन दूसरों ने इसको एक भयंकर भूल बताया है । इस संधि में मुख्य त्रुटियां निम्नलिखित बतायी गयी हैं ।

1. इस संधि का मुख्य औचित्य बिस्मार्क का रूस-फ्रांस मैत्री का भय थ । टेलर के अनुसार यह भय अथवा आशंका निराधार थी उसके अनुसार जिन खतरों की बिस्मार्क कल्पना करता था वे मात्र काल्पनिक थे । फ्रांस शान्तिप्रिय था, रूस मध्य एशिया की ओर अग्रसर था, आस्ट्रिया भी अपनी पराजय को स्वीकार चुका था । जर्मनी ने यह संधि स्थापित करके एक समस्या खड़ी कर दी जो पहले नहीं थी ।

2. दूसरी बड़ी आलोचना यह है कि इस संधि से रूस-फ्रांस मैत्री संभव हो सकी अथवा इस संधि ने रूस-फ्रांस मैत्री को अवश्यमंभावी बना दिया । यह तर्क किसी वास्तविकता पर कम आधारित था । और जर्मन नेताओं द्वारा अधिक दिया गया क्योंकि वे रूस फ्रांस मैत्री को रोक नहीं सके । इस तर्क के समर्थकों का कहना था कि रूस ने अकेलापन अधिक महसूस किया वह न तो इंग्लैण्ड और न आस्टिया से मैत्री कर सकता था । इन दोनों ने मिलकर बर्लिन में रूस को उसके जीते हुए क्षेत्रों सें वंचित कर दिया । जर्मनी के रूस की मैत्री को त्याग देने के पश्चात्, फ्रांस के अतिरिक्त अन्य कोई देश नहीं था जिससे रूस मैत्री कर सके । रूस-फ्रांस मैत्री का बिस्मार्क को सबसे अधिक भय था और वही मैत्री उसकी अपनी नीति से संभव हो सकी ।

3. बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को मित्र बनाने में तथा मैत्री संधि करने में गलती की । आस्ट्रिया अपेक्षाकृत कमजोर था । यदि रूस के साथ मैत्री हुई होती तो जर्मनी की पूर्वी सीमा पूर्णतया सुरक्षित हो गई होती । रूस के साथ मैत्री के पश्चात् आस्ट्रिया को उसमें सम्मिलित किया जा सकता था और फ्रांस को नियंत्रित रखा जा सकता था । जर्मनी ने आस्ट्रिया की सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर बड़ी भूल की । जर्मन विदेश नीति 1879 की संधि से ऐसी बन्ध गई कि वह मुक्त न हो सकी ।

उपरोक्त तर्क बिस्मार्क आलोचकों ने कुछ बढ़ा-चढ़ा कर ही बताए हैं । वास्तव में आस्ट्रिया के साथ संधि करना बिस्मार्क की श्रेष्ठ उपलब्धि थी बिस्मार्क के समर्थकों तथा प्रशंसकों के तर्क निम्नलिखित हैं -

(1) यह संधि आवश्यक थी । रूस में जर्मनी विरोधी भावनाएं बहुत तेजी से बढ़ रही थीं । रूस की सेनाओं को जर्मन विरोधी नेताओं के अधीन प्रशिक्षण दिया जा रहा था । रूस-फ्रांस में आपसी हावभाव मैत्री के हो रहे थे । इतना ही नहीं बल्कि विशाल जर्मन एकता के लिए आस्ट्रिया से मैत्री आवश्यक थी । आस्ट्रिया के जर्मन प्रदेशों को यदि जीतकर जर्मनी में मिलाया जाता तो वह न आस्ट्रिया के लिए लाभदायक था न जर्मनी के लिए इस संधि से आस्ट्रिया से मित्रता भी हो गयी और विशाल जर्मनी भी व्यवहारिक रूप से स्थापित हो गया ।

(2) बिस्मार्क की संधि से फ्रांस-रूस मैत्री स्थापित नहीं हुई । इसका साधारण प्रमाण यह है कि जिस समय तक बिस्मार्क चांसलर पद पर आसीन रहा कोई संधि फ्रांस और रूस के मध्य नहीं हुई । यह कार्य बिस्मार्क के अयोग्य उत्तराधिकारियों के द्वारा ही सम्पन्न हुआ क्योंकि उन्होंने बिस्मार्क की नीति का अनुसरण नहीं किया ।

(3) रूस की अपेक्षा आस्ट्रिया के साथ मैत्री संधि अधिक लाभदायक थी । इस संधि को इंग्लैण्ड का समर्थन भी उपलब्ध हो सकता था जो रूस के साथ की गयी मैत्री को कभी उपलब्ध न होता । इंग्लैण्ड के विदेश मंत्री सेलिसबरी ने इस संधि को 'प्रसन्नता का समाचार' कहा था । रूस के साथ संधि का अर्थ का बत्कान प्राय: दीप में रूस के अतिक्रमण का अनुमोदन जिससे आस्ट्रिया फ्रांस और इंग्लैण्ड का जर्मन विरोधी गुट बन सकता था ।

(4) रूस के साथ संधि कर लेने से जर्मनी को रूस की विदेश नीति पर नियंत्रण उपलब्ध नहीं हो सकता, जब कि आस्ट्रिया की विदेश नीति को नियंत्रित किया जा सकता था । आस्ट्रिया का पूर्वी यूरोप का बल्कान प्राय: द्वीप में नियंत्रण जर्मनी के लिए लाभदायक हो सकता था । यह बात रूस के नियंत्रण के लिए नहीं कहीं जा सकती थी ।

(5) भोगोलिक दृष्टि से मध्य यूरोप पर जर्मनी का नियंत्रण केवल आस्ट्रिया को मैत्री से ही संभव था । रूस के साथ मैत्री से यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता था । डेन्यूब नदी अधिकांशत: आस्ट्रिया साम्राज्य से होकर बहती थी । इससे सुरक्षा व्यवस्था एवं व्यापार पर नियंत्रण करने में बहुत सहायता मिल सकती थी । बिस्मार्क का लक्ष्य केवल यूरोपीय महाद्वीप तक ही सीमित था ।

(6) 1873 ई0 तक फ्रांस उस क्षति से पूर्णतया मुक्ति पा चुका था जो उसे 1871 ई0 के पश्चात् उठानी पड़ी थी । फ्रांस का पृथक्करण उस समय ही संभव था जब फ्रांस का ध्यान अन्य देशों की ओर लगाया जा सके । इसलिए फ्रांस और इंग्लैंड को उपनिवेशों की ओर अथवा तुर्की और सुदूर पूर्व की ओर आकर्षित करना आवश्यक था । यह नीति रूस के साथ मैत्री के पश्चात् संभव नहीं थी क्योंकि रूस के औपनिवेशिक हित बहुत विस्तृत थे ।

जर्मनी-आस्ट्रिया की मैत्री संधि के आलोचकों के लिए यह आश्चर्य की बात है कि दो वर्ष पश्चात् ही त्रि-सम्राट गुट की स्थापना 1881 में हो गई । वास्तव में रूस में कई प्रभावशाली नेता ऐसे थे जो गोर्शेखोव की नीति से सहमत नहीं थे । 1879 के अन्त में रूस की ओर से एक मैत्री संधि का प्रस्ताव भी आया लेकिन बिस्मार्क ने त्रिराष्ट्रीय मैत्री के संबंध में अपना मत व्यक्त किया । 1880 में रूस इस प्रकार के समझौते के लिए तैयार भी हो गया लेकिन आस्ट्रिया का विदेश मंत्री इसके पक्ष में नहीं था । वह इंग्लैण्ड से संधि चाहता था । उधर 1880 में इंग्लैण्ड में कन्तर्वेटिव दल चुनाव हार गया और ग्लेडस्टन प्रधानमंत्री बना वह तुर्की विरोधी था । बिस्मार्क किसी भी परिस्थिति में पूर्वी यूरोप में युद्ध नहीं होने देना चाहता था । तुर्की और ग्रीस (यूनान) में कुछ तनाव अधिक बढ़ा तो बिस्मार्क ने तुर्की पर दबाव डालकर कुछ सुविधाएं दिलवा दी और युद्ध की संभावनाओं को समाप्त करवा दिया । साथ ही उसने आस्ट्रिया को भी चेतावनी दी कि यदि वह रूस के साथ त्रिसम्राट गुट में सम्मिलित नहीं होगा तो वह स्वयं ही उत्तरदायी होगा । इसी समय रूस के जार अलेकजेण्डर द्वितीय, की गोली

मारकर हत्या कर दी गई और उसके पुत्र अलेक्लेण्डर तृतीय ने शीघ्र ही संधि पर हस्ताक्षर कर दिए और त्रिसम्राटीय गुट पुन: स्थापित हो गया इस संधि की मुख्य धाराएं इस प्रकार थीं -

(i) यदि तीनों राष्ट्रों में से कोई एक किसी अन्य देश के साथ युद्ध में उलझ जाए तो अन्य दो राष्ट्र तटस्थ रहेंगे ।

(ii) तीनों राष्ट्र इस बात का ध्यान रखेंगे कि तुर्की किसी अन्य देश को बोसफोरस और डार्डनैलीज के जल डमरूमध्य में सैनिक जहाज लाने ले जाने की सुविधा प्रदान न करें।

(iii) यह संधि गुप्त रखी जाएगी और इसकी अवधि तीन वर्ष होगी । यह संधि इतनी गोपनीय रही कि 1918 तक इसके विषय में पता ही नहीं था । निःसंदेह यह संधि बिस्मार्क की बड़ी उपलब्धि थी । इससे एक ओर तो वह आशंका समाप्त हो गई कि आस्ट्रिया और रूस एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध में उलझ सकते थे । दूसरे इस संधि ने रूस और आस्ट्रिया का प्रभाव क्षेत्र सीमित कर दिया । रूस की विशेष रूचि बुल्गेरिया और पूर्वी बल्कान क्षेत्रों में और आस्ट्रिया के विशेष हित सर्बिया और पश्चिमी बल्कान क्षेत्रों में स्वीकार कर ली गई । उस संधि के साथ एक प्रोटोकोल पर भी हस्ताक्षर हुए थे । जिसमें आस्ट्रिया और रूस दोनों के हितों की विस्तृत व्याख्या थी । बिस्मार्क किसी भी प्रकार से आस्ट्रिया और रूस को एक दूसरे के अधिकार क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने नहीं देता था । उसी संदर्भ में उसका वाक्य - 'बुलगेरिया में मैं रूसी हूं' महत्वपूर्ण है । उसके लिए प्रभाव क्षेत्रों का पृथक्करण इसलिए महत्वपूर्ण था कि दोनों प्रतिद्न्द्वी - आस्ट्रिया और रूस - एक दूसरे के क्षेत्रों में हस्तक्षेप न कर सकें । इस संधि का सबसे बड़ा लाभ यह था कि फ्रांस- रूस मैत्री अनावश्यक हो गई । फ्रांस अकेला पड़ गया और जब तक फ्रांस अकेला रहेगा वह जर्मनी के विरुद्ध प्रतिशोध नहीं ले सकता था । यूरोप में वंशीय राजतंत्र एक पक्ष में हो गया और गणतंत्रीय फ्रांस को मित्र खोजने में अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा । आस्ट्रिया और रूस विरोधी होते हुए भी इस सन्धि से प्रसन्न थे क्योंकि दोनों को अपने-अपने निर्धारित क्षेत्र में स्वतंत्रता प्रापत हो गई थी ।

11.8 त्रिगुट की स्थापना 1882

फ्रांस की आर्थिक प्रगति बड़ी तेजी से हो रही थी । साथ ही वह अपनी सैनिक शक्ति भी बढ़ा रहा था । 1878 के पश्चात् बिस्मार्क ने अनुभव किया कि फ्रांस का पृथक्करण कठिन हो रहा था । इसलिए उसने फ्रांस के प्रति अधिक मैत्री का दृष्टिकोण अपनाया और उसे औपनिवेशिक क्षेत्र में बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया । इस नीति के दो लाभ थे पहला - तो यह था कि फ्रांस की अतिरिक्त शक्ति उपनिवेशों के प्राप्त करने में लग जायेगी । दूसरा यह कि फ्रांस की नये देशों से शत्रुता होगी और फ्रांस की जर्मन विरोधी भावनाएं कम हो जायेंगी । इस प्रकार 1881 ई0 में फ्रांस का टयूनिस पर अधिकार कर लेने के लिए प्रोत्साहित किया ।

इसका तुरन्त प्रभाव यह हुआ कि इटली अत्यन्त आशंकित हुआ । इटली स्वंय टयूनिस पर अधिकार करना चाहता था लेकिन उस को किसी ने समर्थन नहीं दिया । जनमत के बढ़ते दबाव से इटली को केन्द्रीय यूरोपीय राज्यों के साथ मैत्री स्थापित करने के लिए कार्य करना पड़ा । यह बिस्मार्क के अनुसार आस्ट्रिया के माध्यम से ही हो सकती थी । इसका अर्थ था कि इटली अपने उन प्रदेशों पर अधिकार करने का विचार छोड़ दे जिनमें इटली के नागरिक रहते थे

और वे आस्ट्रिया के नियंत्रण में थे । यदि इटली अकेला आस्ट्रिया से उन प्रदेशों को नहीं जीत सकता था तो उस स्थिति में जीत सकना जब कि आस्ट्रिया के साथ जर्मनी था । प्राय: असम्भव था ।

1881 ई. में इटली के सम्राट ने आस्ट्रिया की राजकीय यात्रा की लेकिन वहाँ कोई राजनीतिक समझौता नहीं हुआ। उधर 1882 ई. में इटली की कुछ आन्तरिक और कुछ बाह्य कठिनाइयां बढ़ गयी । एक ओर पोप अपने अधिकारों के विषय में अपने लिये आन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तलाश करने लगा दूसरी ओर फ्रांस में गणतंत्रीय दल के प्रभावशाली होने से इटली में राजतंत्र को एक भय उत्पन्न हो गया । तीसरे इटली को यह आंशका हुई कि यदि फ्रांस ने थोड़े समय पश्चात ट्रिपोली पर भी अधिकार कर लिया तो इटली के लिए अफ्रीका उत्तरी समुद्रीतट पर कोई उपनिवेश ही शेष नहीं रह जाएगा । एलजीरिया और मिस्त्र में फांस का विशेष प्रभाव था और मोरक्को में भी कई राज्यों के मध्य प्रतिस्पर्धा थीं इसलिये इटली आस्ट्रिया और जर्मनी के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था । जिससे उसका अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अकेलापन दूर हो सके बिस्मार्क भी इटली के साथ अपने सम्बन्धों को घनिष्ठ बनाना चाहता था। क्योंकि उससे फ्रांस और आस्ट्रिया दोनों पर नियंत्रण में सहायता मिल सकेगी । आस्ट्रिया को भी रूस और फ्रांस में घनिष्ठता बढ़ती दिखाई दी और ऐसा प्रतीत हुआ कि आस्ट्रिया विरोधी गुट बन जायेगा । इसलिए फांस के पडोसी राष्ट्र इटली के साथ मैत्री हो जाना लाभदायक होगा।

20 मई 1882 ई. को त्रिगुट की स्थापना हुई इसकी मुख्य धारायें निम्न थीं:

(i) यदि इटली पर फ्रांस आक्रमण करे तो आस्ट्रिया और जर्मनी इटली की सहायता करेंगे । यदि फ्रांस जर्मनी पर आक्रमण करे तो इटली भी जर्मनी की सहायता करेगा ।

(ii) यदि मित्र राष्ट्र में से किसी एक पर कोई दो राष्ट्र आक्रमण करें तो अन्य मित्र राष्ट्र भी उसका सहायता करेंगे ।

(iii) यह सन्धि पाँच वर्षो के लिये होगी और गुप्त रखी जायेगी ।

1. यदि अस्ट्रिया पर रूस ने आक्रमण किया तो इटली को केवल तटस्थ रहना था उससे सहायता करने को नहीं कहा गया यह सन्धि इंग्लैण्ड के विरुद्ध नहीं थी

इस सन्धि से इटली को उसके उपनिवेश अभियान में किसी प्रकार की सहायता का आश्वासन नहीं मिला और न ही उससे जर्मनी अथवा आस्ट्रिया को बल्कान प्रायद्वीप में इटली से किसी सहायता का आश्वासन मिला ।

वास्तव में यह संधि अत्यन्त महत्वपूर्ण थी जो बिस्मार्क के लक्ष्यों को समझने में सहायक थी एक प्रकार से बिस्मार्क ने तीनों मित्र देशों का एक सीमित उत्तरदायित्व वाला संघ बना लिया जिससे प्रत्येक को कुछ लाभ प्राप्त हुए इटली का इस संघ में सम्मिलित होना दो दृष्टियों से लाभदायक था एक तो रोम के पोप (वैटिकन) के विरुद्ध बिस्मार्क का समर्थन मिल गया जिससे पोप के राजनीतिक प्रभुत्व की पुन: स्थापना प्राय: असम्भव बन गई भले ही इटली को आस्ट्रिया के नियंत्रण में कुछ क्षेत्रफल को प्राप्त करने की इच्छा को छोड़ना पड़े रोमन कैथोलिकों को त्रिगुट की स्थापना से बड़ी निराशा हुई । दूसरे इटली को इंग्लैण्ड से अपने सम्बन्ध सुधारने के अवसर बढ़ गए जैसे जैसे इंग्लैण्ड फ्रांस के सम्बन्धों में तनाव पैदा होगा इंग्लैण्ड और जर्मनी के मध्य मैत्री बढ़ेगी, जिसका लाभ इटली को भी मिल सकेगा । भविष्य में

भूमध्य सागर में इटली का किसी क्षेत्र पर अधिकार का दावा अपेक्षाकृत अधिक वजनी हो जाएगा क्योंकि जर्मनी का नैतिक समर्थन उसे उपलब्ध होगा । बिस्मार्क के लिए यह सन्धि उसकी योजना की पूर्ति थी उसके पश्चात् मध्य यूरोप में जर्मनी का प्रभुत्व इस त्रिगुट की धुरी पर आधारित हो गया इटली के सम्मिलित हो जोने से बिस्मार्क के लिए लाभ ही लाभ थे । जर्मनी के पूंजीपतियों और उधोगपतियों के लिए एक नया क्षेत्र मिल गया । इसके अतिरिक्त मध्य यूरोप के नियंत्रण में इटली की मैत्री से सहायता मिली । किसी भी भावी संधर्ष के समय फ्रांस को अपनी दक्षिणी सीमा पर काफी सेना रखनी पड़ेगी तथा एल्प पर्वत श्रंखला के मार्ग भी बंद हो गए इन मार्गों से नेपोलियन बोनापार्ट ने जर्मनी पर आक्रमण किया था । इससे भूमध्य सागर का क्षेत्र जर्मनी के लिए खुल गया और लातीनी जाति के देश-इटली-को फ्रांस की मैत्री के प्रभाव क्षेत्र से निकाल लिया गया बिस्मार्क की देख रेख में इटली और आस्ट्रिया अब एक दूसरे को नियंत्रित कर सकेंगे । इटली के समर्थन से अस्ट्रिया को और आस्ट्रिया के समर्थन से इटली को ऐसा कोई भी कार्य करने से रोका जा सकेगा जो बिस्मार्क के नीति उद्देश्यों से भिन्न हो बिस्मार्क के पतन के बाद बने चान्सलरों ने गलती यह की कि उन्हों ने त्रिगुट सन्धि को दुई गुट 1879 की सन्धि का विस्तृत रूप मान लिया जिसमें इटली एक नगण्य सदस्य था । कुछ ने उसे ऐसा तीसरा साथी मान लिया जो दो अच्छे मित्रों के मिलन को खराब कर रहा था बिस्मार्क का यह लक्ष्य नहीं था । इसीलिए उसके बाद वाले शासको तथा मंत्रियों ने सन्धि के लक्ष्यों और इसके महत्व को समझने में गलती की । वास्तव में रोबर्टसन ने ठीक कहा है कि त्रिगुट सन्धि को असफल करने के लिए एक और अतिकुशल नेतृत्व और दूसरी ओर भंयकर त्रुटिपूर्ण नीति की आवश्यकता होगी । बिस्मार्क के उत्तराधिकारियों ने एक सीमित उत्तरदायित्व (limited liability) की सन्धि को असीमित उत्तरदायित्व वाली सन्धि बनाकर आस्ट्रिया के हितों को अनावश्यक प्रधानता प्रदान कर दी जिसके परिणाम कालान्तर में बहुत खराब सिद्ध हुए । इटली की व्यावहारिक रूप में उपेक्षा तथा अनदेखी करके उसे दूसरे पक्ष की सहायता की ओर आकृष्ट होने पर विवश किया इस त्रिगुट से बिस्मार्क ने केवल यूरोपिय महाद्वीप मे जर्मनी की प्रधानता को सुरिक्षत किया उसने अपने लिए एक न्यायधीश का कार्य रख रखा था और इटली के साथ त्रिगुट सन्धि वास्तव में 1879 को उत्पन्न होने वाले खतरों से जर्मनी तथा यूरोप को सुरक्षित रखने के लिए की गई 'थी । इस सन्धि का मुख्य लक्ष्य फ्रांस ही था । इस सन्धि के पश्चात् फ्रांस यूरोप में बिल्कुल अकेला पड़ गया और अपनी नीति को एक ऐसी दिशा में मोड़ दिया जो उसकी सैनिक क्षमता के लिए काफी था ।

11.9 रूस के साथ पुनराश्वासन सन्धि 1887

1884-87 के मध्य कुछ ऐसी घटनांए हुई जिनसे प्रभावित होकर जर्मनी को रूस के साथ पुनराश्वासन सन्धि की आवश्यकता अनुभव हुई ये घटनाएं अधिकाशंत: फ्रांस जर्मनी के मध्य तनाव पैदा करने में सहायक हुई । 1885 में फ्रांस में राजनीतिक परिवर्तन से जूल्स फेरी की सरकार का पतन हो गया और उपनिवेश प्राप्ति की नीति भी मंद पड़ गई फ्रांस में जर्मनी के विरुद्ध और आलसेस लोरेन को पुन: प्राप्त करने के लिए पक्ष में प्रचार अधिक वेग से बढ़ा 1886 में बूलांजर (फ्रांस का युद्ध मंत्री) ने जर्मनी के विरुद्ध प्रचार को बढ़ावा देकर अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा को अधिक बढ़ाया और थोड़े समय के लिए बहुत तनावपूर्ण वातावरण पैदा हो

गया 1887 के आरम्भ में दोनों देशों के मध्य युद्ध बहुत निकट दिखाई पड़ा । 20 अप्रैल 1887 को फ्रांस के एक सैनिक अधिकारी की जर्मन क्षेत्र में गिरफतारी से दोनों देशों ने एक दूसरे पर आक्षेप और प्रतिआक्षेप लगाए जिससे दोनों में सम्बन्ध निम्नतम बिन्दू पर आटिके

पूर्वी यूरोप में 1885 बुलगेरिया के दो भागों ने अपनी एकता घोषित करदी और उत्तरी बुलगेरिया तथा पूर्वी रूमेलिया (दक्षिणी बुलगेरिया) एक साथ मिल गए । रूस इस राजनीतिक परिवर्तन के पक्ष में नहीं था और यह बर्लिन समझौता का उलंघन था । इग्लैण्ड ने इस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया और सर्बिया ने बुलगेरिया पर आक्रमण कर दिया । आशा यह थी कि तुर्की भी युद्ध घोषित कर देगा और अस्ट्रिया संभवत: सर्बिया की सहायता करे । बिस्मार्क पूर्वी यूरोप में किसी प्रकार युद्ध के पक्ष में नहीं था इसलिए उसे रूस के साथ अधिक घनिष्ठ सम्बन्धों की आवश्यकता अनुभव हुई इस घटना के पश्चात् रूस के समाचार मोस्को गजट् में फ्रांस के साथ मैत्री की आवश्यकता की अत्यधिक चर्चा हुई जार ने समाचार पत्र के सम्पादक का समर्थन नहीं किया और रूस का विदेश मंत्री जो जर्मनी से मधुर सम्बन्ध चाहता था अपने पद पर बना रहा ।

उपरोक्त घटनाओं से बिस्मार्क और रूस दोनों ही एक दूसरे के साथ मैत्री संधि चाहते थे। रूस इस बात के लिए इच्छुक था कि जर्मनी पूर्वी यूरोप में संभावित रूस आस्ट्रिया युद्ध में तटस्थ रहे लेकिन बिस्मार्क इस प्रकार का आश्वासन नही दे सकता था क्योंकि 1879 के सन्धि के अनुसार वह आस्ट्रिया के समर्थन के लिए बाध्य था । अन्ततः निम्नलिखित धाराओं के साथ एक पुनराश्वासन संधि पर रूस और जर्मनी मैं 18 जून 1887 को हस्ताक्षर हुए ।

1. यदि दोनों मे किसी का एक तीसरी महान् शक्ति से युद्ध आरम्भ हो जाये तो दूसरा तटस्थ रहेगा और संघर्ष को स्थगित करने का प्रयत्न करेगा, यह धारा आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध में लागू नहीं होगी ।

2. जर्मनी बल्कान प्राय: द्वीप में विशेषकर बलगेरिया तथा पूर्वी रूमेलिया में रूस के विशेष अधिकारों को स्वीकार करता था ओर यथास्थिति के परिवर्तन के विरूद्ध था ।

3. यदि तुर्की ने बोसफोरस और डाडेंनेलीज के जलडमरूमध्य में किसी अन्य राज्य को सैनिक जहाजों के आवागमन का अधिकार दिया तो यह एक युद्ध के समान घटना होगी ।

यह सन्धि अत्यन्त गुप्त रखी गयी और इसकी धाराएं पहली बार 1918 ई. में प्रकाशित की गयीं । बिस्मार्क की इस नीति की अलोचना बहुत अधिक की गयी है, सबसे अधिक इस आधार पर कि यह 1879 ई. की अस्ट्रिया के साथ द्वैध सन्धि के विरूद्ध थी । रूस को अथवा जर्मनी को इस सन्धि के स्थायी होने में पूरा सन्देह था । यह सन्धि पूर्णतया कृत्रिम थी । यदि इसका पता चल जाता तो अस्ट्रिया और रूस में जर्मन विरोधी भावनंए उग्र रूप धारण करतीं ।

लेकिन बिस्मार्क के समर्थक इस सन्धि को उसकी महान उपलब्धि बताते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि बिस्मार्क आस्ट्रिया और रूस दोनों से मैत्री चाहता था । रूस के साथ सन्धि में अस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध के समय तटस्थ रहने का वचन नहीं दिया गया था । जर्मनी अस्ट्रिया की सहायता के लिये मुक्त था । आलोचकों की समस्या यह है कि वे अपने अपने दृष्टिकोण को सही समझते हैं । और वे बिस्मार्क के शक्ति सन्तुलन बनाए रखने के सिद्धान्त से असहमत

हैं । वे बिस्मार्क को आस्ट्रिया अथवा रूस के साथ देखना चाहते हैं इसलिए उसकी दो विरोधियों के साथ मैत्री बनाए रखने को आलोचना का आधार बना लेते हैं । उसके प्रशंसक इस नीति को शक्ति सन्तुलन का कुशल संचालन कहते रहेंगे और उसके आलोचक उस को धूर्तता से भरी हेरा फेरी कहते रहेंगे ।

यद्यपि रूस में जनमत फ्रांस के पक्ष में और जर्मनी विरोधी था लेकिन बिस्मार्क जानता था कि युद्ध और शान्ति के निर्णय राजा तथा उसके मंत्रियों द्वारा ही लिये जाते थे । इटली और आस्ट्रिया के साथ गुप्त सन्धियां पहले से स्थापित थी । इग्लैण्ड के साथ मैत्री सम्बन्ध थे और 1887 ई. में भूमध्य सागर में भी स्थिति यथावत बनाये रखने के लिये समझौता था ।

विदेश नीति के क्षेत्र में तथा कूटनीतिक सफलता की दृष्टि से बिस्मार्क एक महान् कूटनीतिज्ञ माना जाता है कूटनीति के संचालन में बिस्मार्क व्यक्तिगत नियंत्रण में विश्वास रखता था । वह अपने लक्ष्यों के विषय में बहुत स्पष्ट था । लेकिन साधनों के विषय में उसे कोई संकोच नहीं था । वह हमेशा तात्कालिक आवश्यकताओं को ही देखता था और अपने भवन की सुरक्षा के लिए नये नये वियुत संवाहक लगाता रहता था । उसकी कूटनीतिक सफलता का रहस्य था उसका सैन्य बल का उचित प्रयोग । यूरोप के विभिन्न राष्ट्र यह समझते थे कि बिस्मार्क के कथन के पीछे यदि अवश्यकता पड़े तो, समस्त जर्मन सेना थी । इसलिये उसकी धमकियों को अथवा उसके भाषणों को ठीक तरह समझा जाता था ।

11.10 बिस्मार्क का पतन :

मार्च 1888 ई. में जर्मनी के प्रथम सम्राट विलियम प्रथम की मृत्यु हो गयी । और उसके तीन महीने के समय में ही उसे पुत्र फ्रेड्रिक की मृत्यु हो गयी इस प्रकार तीन महीने के भीतर जर्मनी का सम्राट 91 वर्ष के एक वृद्ध के स्थान पर 29 वर्ष का एक नवयुवक धिलियम द्वितीय बन गया । बिस्मार्क उस समय 71 वर्ष का था । बिस्मार्क को यह आशा नहीं थी कि उसे पद छोड़ने पर बाध्य किया जायेगा अथवा उसे हटा दिया जायेगा । अक्तूबर 1889 ई. में रूस का जार जर्मनी आया और इसने बिस्मार्क से पूछा कि क्या वह अपने पद पर बना रह सकेगा । बिस्मार्क का उत्तर था कि वह अपनी मृत्यु के समय तक पद पर आसीन रहेगा । और भाग्य की बिडम्बना यह थी कि पाँच महीने के भीतर ही उसे पद त्यागने पर विवश होना पड़ा ।

इस महत्वपूर्ण घटना का मुख्य कारण यह था कि विलियम द्वितीय बिस्मार्क की विदेश नीति से सहमत नहीं था । बिस्मार्क अपने जीवन भर जर्मनी का यूरोप में प्रभुत्व प्राप्त कराना ही महत्त्वपूर्ण समझता था । वह फ्रांस को 1871 ई. की स्थिति में ही रखना चाहता था । इसलिए आस्ट्रिया, रूस, इटली, इग्लैण्ड एवं रूमानिया से मैत्री स्थापित किये हुए था । बिस्मार्क ने इस व्यवस्था की रचना की थी इसलिये वह इसके विपरीत कार्य करने को तैयार नहीं था । बिस्मार्क यह जानता था कि परस्पर विरोधी हितों वाले देशों के साथ मैत्री सम्बन्ध सरल नहीं थे लेकिन वह उस स्थिति को बनाये हुए था ।

विलियम द्वितीय की आयु 29 वर्ष की थी और पिछले 29 वर्षों में (1862- 1890 ई.) बिस्मार्क ही प्रशा और जर्मनी की नीति का सफल संचालक रहा था । इसलिये विलियम

द्वितीय बिस्मार्क को आदर्श न मानकर उसकी नीति के लक्ष्य को आदर्श मानता था उसकी नीति का लक्ष्य था जर्मनी का प्रभुत्व, यूरापे में जर्मनी का प्रभुत्व बिस्मार्क स्थापित कर चुका था । अब उसी आदर्श को यदि और अधिक विस्तृत स्तर पर अपनाया जाये तो उचित होगा । इसलिए विलियम द्वितीय विश्व में जर्मनी की प्रधानता स्थापित करना चाहता था और बिस्मार्क की दृष्टि में यह कार्य त्रृटिपूर्ण था ।

दोनों में एक अन्य मतभेद आस्ट्रिया के प्रति दृष्टिकोण में था । बिस्मार्क आस्ट्रिया रूस और इटली से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किए हुए था, लेकिन रूस और इटली दोनों आस्ट्रिया विरोधी थे । विलियम द्वितीय यह चाहता था कि रूस के साथ 1887 ई. में की गयी सन्धि को 1890 ई. में पुनर्जीवित न किया जाय । बिस्मार्क को यह सहन न था क्योंकि इसका अभिप्राय: था उसकी समस्त नीति को उलट देना । इसी प्रकार बलगेरिया में दो राजकुमार राजगद्दी की प्राप्ति के लिय इच्छुक थे । बिस्मार्क ने रूस द्वारा समर्थन प्राप्त प्रतिद्वन्द्वी करना आवश्यक समझा क्योंकि इस राज्य में रूस के विशेष हित थे । लेकिन विलियम द्वितीय आस्ट्रिया द्वारा समर्थन प्राप्त प्रतिद्वन्द्वी का पक्ष लेना चाहता था ।

विलियम द्वितीय की इस नीति का परिणाम जो भी कुछ हो लेकिन बिस्मार्क उसका समर्थन नही कर सकता था । विलियम द्वितीय निरंकुश सम्राट था । वह अपने अधिकारों का स्वयं प्रयोग करना चाहता था । इन दोनों में मतभेद कुछ अन्य विषयों पर भी थे । जैसे बिस्मार्क समाजवादियों के साथ संघर्ष करना चाहता था, विलियम द्वितीय उनके साथ समझौता करना चाहता था । युवक सम्राट साम्राज्य के प्रत्येक विभाग के प्रशासन में हस्तक्षेप करना चाहता था, लेकिन बिस्मार्क चान्सलर होने के नाते समस्त प्रशासन पर अपना नियंत्रण बनाये रखना चाहता था । विलियम स्वयं यूरोप के विभिन्न देशों का भ्रमण करके नीति संचालन का कार्य भी स्वयं करना चाहता था । दूसरे शब्दों में युवावस्था और वृद्धावस्था में संघर्ष था ।

यह समंभव था कि यदि बिस्मार्क किसी प्रजातंत्रीय राज्य में प्रधानमंत्री पद पर होता तो अपनी लोकप्रियता के आधार पर वह सम्राट को नीति बदलने पर बाध्य कर सकता था । लेकिन वह एक निरंकुश सम्राट का मंत्री था । उसके समस्त अधिकार केवल सम्राट की इच्छा पर निर्भर करते थे । समस्त जर्मन राष्ट्र चाहते हुए भी बिस्मार्क को नहीं बचा सकता था यदि विलियम द्वितीय उसे पद से हटाना चाहे । और हुआ भी ऐसा ही ।

20 मार्च 1890 ई. को बिस्मार्क ने चान्सलर पद से त्यागपत्र दे दिया जिसे विलियम द्वितीय ने स्वीकार कर लिया । इस घटना पर इंग्लैण्ड के प्रसिद् कार्टूनिस्ट मैगजीन में एक कार्टून निकला जिसका शीर्षक था 'चालक को हटा दिया' (the pilot was dropped) इस कार्टून से दोनों व्यक्ति प्रसन्न हुए । बिस्मार्क इसलिए कि उसे चालक माना गया था, विलियम द्वितीय इसलिए कि उसने चालक को हटा दिया था ।

इस प्रकार बिस्मार्क के हटा दिये जाने से यह स्पष्ट होता था कि विलियम नीति में आमूल परिवर्तन लाना चाहेगा और उसने ऐसा ही किया भी । लेकिन एक बात यहाँ ध्यान रखने योग्य है कि जिस नीति का संचालन विलियम द्वितीय ने किया था वह अधिकांश मात्रा में बिस्मार्क की गति से भिन्न थी और इस नीति का परिणाम प्रथम विश्वयुद्ध हुआ ।

11.11 बोध प्रश्न

(1) 1879 की मैत्री संधि की मुख्य धाराओं का वर्णन कीजिए । इस संधि को बिस्मार्क की महान उपलब्धि क्यों कहा जाता है?

(2) बिस्मार्क की नीति किस सीमा तक यूरोपीय राजनीति में गुटवंदी प्रथा को बढ़ाने में सहायक हु ई?

(3) बिस्मार्क और विलियम द्वितीय के मतभेद विदेश नीति के क्षेत्र में अधिक महत्वपूर्ण थे' व्याख्या कीजिए ।

11.12 संदर्भ, ग्रंथ

1- Lee Benns : 'Europe Since 1870' (Chapts; I-II)

2- Roebertson : 'Bismarck'

3- A.J.P. Taylor 'The struggle for the mastery of Europe.'

इकाई -12

महान शक्तियों में विश्व सर्वोच्चता के लिए प्रतिस्पर्धा

इकाई की रूप रेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 साम्राज्यवाद के विभिन्न चरण तथा उसका बदलता स्वरूप

12.2.1 पुरातन साम्राज्यवाद

12.2.2 शिथिल साम्राज्यवाद

12.2.3 नवीन साम्राज्यवाद

12.2.4 नवीन साम्राज्यवाद के परिप्रेक्ष्य में रानजीतिज्ञों के विचार

12.3 प्रतिस्पर्धा के प्रेरक-तत्व

12.3.1 (अ) आर्थिक

12.3.1.1 अतिरिक्त उत्पादन

12.3.1.2 अतिरिक्त पूंजी

12.3.1.3 खाद्यान्नों की कमी

12.3.1.4 यातायात के साधनों का विकास

12.3.1.5 जनसंख्या में वृद्धि

12.3.2 (ब) राजनीतिक

12.3.2.1 उग्र राष्ट्रवाद

12.3.2.2 राष्ट्रीय प्रतिष्ठा

12.3.3.3 कुछ प्रशासकों व सेनानायकों की उपनिवेशवाद के लिए प्रेरणा

12.3.3 (स) अन्य

12.3.3.1 महत्वाकांक्षी पुरुषों व अन्वेषकों का योगदान

12.3.3.2 ईसाई धर्म प्रचारकों का योगदान

12.3.3.3 यूरोप के साम्राज्यवादी देशों द्वारा असभ्य लोगों को सभ्य बनाने का बहाना लेना

12.4 प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र

12.4.1 जनसंख्या का क्षेत्र

12.4.2 औद्योगिक क्षेत्र

12.4.2.1 प्रथम-काल (1815 से 1870 ई0 तक)

12.4.2.2 दूसरा काल (1871 से 1917 ई0 तक)

12.4.3 राजनयिक क्षेत्र

12.4.3.1 प्रथम काल (1815 से 1870 ई0 तक)

12.4.3.2 दूसरा काल (1871 से 1914 ई0 तक)

12.4.3.3 मोरक्को संकट

12.4.3.4 सैनिकवाद

12.4.3.5 आंग्ल-जर्मन नाविक प्रतिस्पर्धा

12.4.4 औपनिवेशिक क्षेत्र

12.4.4.1 (अ) अफ्रीका का बंटवारा

12.4.4.2 (ब) प्रशान्त महासागर

12.4.4.3 (स) रूस का विस्तार

12.4.4.4 (द) चीन में लूट

12.5.0 संदर्भ ग्रंथ

12.6.0 बोध-प्रश्न

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे :

1. साम्राज्यवाद के उन विभिन्न स्वरूपों का जिन्होंने विश्व-सर्वोच्चता के लिए भूमिका तैयार की ।
2. उन विभिन्न प्रेरक-तत्वों का जिन्होंने विश्व-शक्तियों को प्रतिस्पर्धा के लिए प्रेरित किया-

(अ) आर्थिक : अतिरिक्त उत्पादन, अतिरिक्त पूंजी, खाद्यान्नों की कमी, यातायात के साधनों का विकास व जनसंख्या में वृद्धि ।

(ब) राजनीतिक : उग्र-राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा, कुछ प्रशासकों व सेनानायकों द्वारा उपनिवेशवाद के लिए प्रेरणा ।

(स) अन्य : महत्वाकांक्षी पुरुषों व अन्वेषकों का योगदान, ईसाई धर्म प्रचारकों का योगदान तथा यूरोप के साम्राज्यवादी देशों द्वारा असभ्य लोगों को सभ्य बनाने का बहाना लेना।

3. प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र : जनसंख्या का क्षेत्र, औद्योगिक क्षेत्र - प्रथम-काल वक्त काल, राजनयिक क्षेत्र : मोरक्को संकट, सैनिकवाद, आंग्ल-जर्मन नाविक प्रतिस्पर्धा का क्षेत्र तथा औपनिवेशिक क्षेत्र अफ्रीका का बंटवारा, प्रशान्त महासागर, रूस का विस्तार, चीन में लूट ।
4. उपर्युक्त प्रतिस्पधाओं का निष्कर्ष ।

महान शक्तियों के विश्व-सर्वोच्चता के लिए प्रतिस्पर्धा

12.1 प्रस्तावना :

संघर्ष करना मानव का जन्म-जात गुण रहा है । इसीलिए उसने प्रकृति से निरन्तर संघर्ष कर वर्तमान विकसित स्वरूप को प्राप्त किया है । अपने को विकसित कर उसने मानव-समाज का गठन किया और विकसित समाज ने राज्य का आविर्भूत किया । मानव-संघर्ष का

गुण राज्यों के संप्रभुओं में भी व्याप्त रहा । राज्यों के संघर्षों के परिणामत: साम्राज्यों का आविर्भाव हुआ । 'साम्राज्य' शब्द का प्रचलन मानव-समाज में अति पुरातन है । पुरातन साम्राज्यों के विनाश तथा उनके स्थान पर नवीन साम्राज्यों के निर्माण का इतिहास हम प्राचीन काल से पढ़ते आ रहे हैं । स्पष्ट है कि यह महानता की प्रतिस्पर्धा भी मानव-इतिहास में अति प्राचीन काल से चली आ रही है । अशोक महान ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ महान साम्राज्य की स्थापना की तो सिकन्दर ने केवल अपनी साम्राज्यवादी सुधा की तुष्टि के लिए यूनान के छोटे से राज्य को महान साम्राज्य का स्वरूप प्रदान किया । आधुनिक इतिहासकारों ने निर्बल एवं अविकसित राज्यों पर जबरन राज्य करने की मनोवृत्ति को ही साम्राज्यवादी प्रवृत्ति माना है और साम्राज्यवादी भूख एक ऐसी भूख है जिसकी तृप्ति कभी नहीं होती है । यह निरन्तर महान साम्राज्य की स्थापना की ओर अग्रसर करती है और महान् शक्तियों में प्रतिस्पर्धा की भावना को उग्रतर बनाती रहती है ।[1] साम्राज्यवादी देश अपने राज्य की उत्तरोत्तर विस्तृत करना ही अपना परम लक्ष्य समझते हैं । अत: उनमें प्रतिस्पर्धा होना स्वाभाविक है ।

साम्यवाद के प्रबल समर्थक लेकिन (Lenin) ने साम्राज्यवाद का अन्तिम बिन्दु पूंजीवाद (Capitalism) को माना है । अत: स्पष्ट है कि साम्राज्यवाद के पीछे राष्ट्रों की महत्वाकांक्षाओं ने तो महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ही है पर उनकी आर्थिक परिस्थितियां भी साम्राज्यवाद के प्रेरक-तत्वों के रूप में प्रभावी रही हैं । निःसंदेह साम्राज्यवाद औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) से पूर्व भी अस्तित्व में था परन्तु देशों के औद्योगिक विकास के साथ-साथ यह और भी प्रखर एवं व्यापक होता चला गया । वास्तव में साम्राज्यवाद एक उस महान नदी के समान प्रभावी रहा है जिसकी गति कभी शिथिल और कभी वेगवती बन जाती है । इसी प्रकार सर्वोच्चता की प्रतियोगिता में भाग लेनेवाली शक्तियां भी समय-समय घटती-बढ़ती तथा निर्बल व सशक्त होती रही हैं ।

12.2 साम्राज्यवाद के विभिन्न चरण तथा उसका बदलता स्वरूप

19.2.1 (अ)

पुरातन साम्राज्यवाद - जैसा कि बताया जा चुका है कि साम्राज्यवाद का उद्भव अति प्राचीन है; परन्तु यूरोप में इसका प्रारम्भ 15वीं सदी से माना जाता है । 15वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में कोलम्बस ने नई दुनिया की खोज कर ली थी और भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर वास्कोडिगामा आ पहुंचा था । इन सामुद्रिक जन-मार्गों की खोज के साथ ही यूरोपीय (इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन, हालैण्ड व पुर्तगाल) देशों ने अमेरिका तथा एशिया महाद्वीप के प्रदेशों के साथ व्यापार करना आरम्भ कर दिया और व्यापारिक संबंधों के साथ ही उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित करना आरम्भ दिया । अत: पुरातन साम्राज्यवाद व्यापार-पद्धति (Mercantile System) पर आधारित था । इस पद्धति के अनुसार यूरोप के औद्योगिक देश अपना उसादित

1”It has been truly said that a large empire is the best possible reason for a larger empire.” Schuman

माल अपने उपनिवेशों में भेजते रहते थे और वहां का कच्चा माल अपने यहां मंगाते रहते थे । माल के निर्विघ्न रूप से जाने-आने के कारण यूरोपीय देशों में उस समय विशेष प्रतिस्पर्धा भी नहीं छिड़ी थी । परन्तु यह व्यापारिक पद्धति औद्योगिक क्रांति के प्रारम्भ तक ही बनी रही ।

18वी सदी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रांति के विकास के साथ-साथ यूरोपीय देशों का उत्पादन बढ़ने लगा । उन्हें उस अधिक उत्पादित सामान (Surplus Production) को खपाने और अपना उत्पादन बनाये रखने के लिए अधिकाधिक कच्चे माल की प्राप्ति की चिंता हुई । इस चिन्ता ने यूरोपीय देशों में प्रतिस्पर्धा की भावना को उत्पन्न किया । इसके अलावा इसी अंतराल में व्यापारिक पद्धति सिमटने लगी और एडम स्मिथ (Adam Smith) द्वारा प्रतिपादित तथा तुर्गो द्वारा समर्थित मुक्त व्यापार (Laissez-Faire) की नीति जोर पकड़ने लगी । पुर्तगाल इन परिस्थितियों में प्रतिस्पर्द्धा से हट गया और स्पेन व फ्रांस अमेरिका में चल रहे गुलामों (Slave Trade) के व्यापार के प्रश्न पर इंग्लैण्ड के विरुद्ध एक हो गये । अत: यह प्रतिस्पर्धा ब्रिटेन व फ्रांस के बीच ही सीमित रह गई । सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड स्पेन के 'अजय-आरमेड़ा (Invincible Armeda) को परास्त कर सामुद्रिक शक्ति में प्रथम देश बन गया था । इस अजय सामुद्रिक शक्ति के कारण ही इंग्लैण्ड प्रथम विश्व-युद्ध के अन्त तक विश्व की प्रथम शक्ति बना रहा ।

12.2.2 (ब)

शिथिल साम्राज्यवाद (Languid Inperialism) : इसका कार्य काल 1815 से 1870 तक माना जाता है । 1815 में वाटरलू (Waterloo) के युद्ध में परास्त हो जाने के कारण नेपोलियन का भाग्य रूपी सूर्य सदा के लिए आस्ताचल को चला गया । 1815 में ही आयोजित विएना कांग्रेस (Vienna Congress) यूरोप की महान शक्तियों (इंग्लैंड, आस्ट्रिया, प्रशा व रूस) के मध्य प्रतिस्पर्धा का कारण बनी; परन्तु इंग्लैण्ड की दूरदर्शिता तथा आस्ट्रिया के चांसलर मैटरनिरव की दृढ़ता के कारण युद्ध की नौबत नहीं आई । इससे 1848 तक यूरोप में शांति बनी रही । परन्तु विएना-कांग्रेस में भी इंग्लैण्ड व आस्ट्रिया अपने साम्राज्य-विस्तार में बाजी मार ले गये ।[1] निःसन्देह रूस ने अपने साम्राज्य विस्तार हेतु क्रीमिया का युद्ध (Crimean War, 1853.54) आरम्भ किया, परंतु 1856 के पेरिस सम्मेलन ने रूस के पर कतर दिए । जर्मनी ने 1866 में सेडावा तथा 1870 में सेडावा के युद्ध लड़े परन्तु वे युद्ध केवल अपनी राजनीतिक एकता की प्राप्ति के लिए लड़े गये थे । अन्यथा 1870 तक साम्राज्यवाद के क्षेत्र में उदासीनता ही बनी रही । उस समय यह धारणा जोर पकड़ती जा रही थी कि उपनिवेश तो उन फलों के समान हैं जो वृक्षों पर तभी तक लगे रहते हैं जब तक वे पक नहीं जाते । डिजरेली (Disraeli) जैसे कट्टर साम्राज्यवादी ने उपनिवेशवाद की आलोचना करते कहा था कि ये दुष्ट उपनिवेश शीघ्र ही ब्रिटेन से स्वतंत्र हो जावेंगे क्योंकि वे मातृ-भूमि के गले में बांधे पत्थरों के समान हैं ।[2] इसी अन्तराल में स्पेन के हाथ से लेटिन अमेरिका के उपनिवेश निकल गये । पुर्तगाल ब्राजील खो बैठा । इंग्लैण्ड के हाथ से अमेरिका के 13 उपनिवेश निकल गये । इन

घटनाओं ने उपनिवेशवादियों को यह सोचने को बाध्य कर दिया कि उपनिवेशों की स्थापना लाभदायक भी है या नहीं?

परन्तु साम्राज्यवाद के क्षेत्र में उत्पन्न यह शिथिलता व्यापक नहीं थी । स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त संयुक्त राज्य (U.S) ने लैटिन अमेरिका पर अपना प्रभाव बढ़ाना आरंभ कर दिया था । रूस पोलैण्ड पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर चीन में बढ़ रहा था । ब्रिटेन में उपनिवेशवाद उसकी परम्परागत नीति का अंग बन चुका था । उसका बढ़ता औद्योगिक विकास उसे उपनिवेशवाद के लिए विवश कर रहा था । हालैण्ड से केप कालोनी (Cape Colony) प्राप्त कर इंग्लैंड ने दक्षिण अफ्रीका में उपनिवेश स्थापित करना आरम्भ कर दिया था । उत्तरी अमेरिका में ऊपरी कनाडा, लोअर कनाडा, न्यूबुशविक, नोवा-स्कोशिया तथा न्यू फाउण्डलैण्ड ब्रिटेन के ही अधीन थे । सुदूर पूर्व में आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड उसके साम्राज्य के अंग थे । भारत में 1858 के उपरान्त उसके पैर सुदृढ़ता से जम ही चुके थे । अफीम-युद्धों (Opium Wars) में चीन को परास्त कर इंग्लैण्ड ने वहां भी अपने उपनिवेश स्थापित करना आरम्भ कर दिया था । अत: स्पष्ट है कि साम्राज्यवाद के उस उदासीनता के काल में भी ब्रिटेन ही सबसे आगे रहा ।

12.2.3 (स) नवीन साम्राज्यवाद (New Iemperialism- 1870-1917) 917)

1870-71 का वर्ष यूरोप के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है । इस वर्ष के साथ यूरोप के इतिहास में एक पुराने युग की समाप्ति तथा एक नवीन युग का आरंभ होता है । मैरियट (Marriot) ने 1870-71 का वर्ष यूरोप के इतिहास में राजनीतिक इतिहास का एक चरम बिन्दु माना है । 1870 के उपरान्त साम्राज्यवाद पुन: वेग से लौटा । परन्तु वह पुराने साम्राज्यवाद से उद्देश्य, विस्तार एवं प्रणाली में भिन्न था । फ्रांस के विदेश मंत्री जूल्स फेरी ने नवीन साम्राज्यवाद को स्पष्ट करते कहा था : “चह नये ढंग का उपनिवेशवाद है - जो उन लोगों के हित में है जिनके पास विदेशों में लगाने के लिए बहु त सी पूंजी है अथवा जिनके पास तैयार माल अधिक मात्रा में है ।" स्लोसन (Slosson) ने नवीन साम्राज्यवाद पर प्रकाश डालते लिखा है कि अब समस्या यूरोपीय लोगों को बसने योग्य प्रदेश ढूंढने की नहीं वरन् तैयार माल बेचने या पूंजी लगाने योग्य प्रदेशों को ढूंढने की थी ।[1] इसीलिए यूरोप के औद्योगिक देशों ने अफ्रीका के ऊष्ण जलवायु की भी चिन्ता न करते हु ए वहां अपने उपनिवेशों की स्थापना की प्रखर होड़ मचा दी । इसके परिणामस्वरूप यूरोपीय राजनीति विश्व-राजनीति का रूप धारण कर लेती है और संसार का एक प्रकार से यूरोपीयकरण भी आरम्भ हो जाता है ।

1 E.H. Carter- “A History of Britain. P. 757. “At the end of napolenic wars, great Britain was the greatest imperial power, a position which should unchallenged for two generations.”

2 “These wretched colomes will be independent in a few years and are like will stones round the neck of our mother land.” Disraeli.

12.2.4 नवीन समाज्यवाद के परिप्रेक्ष्य में राजनीतिज्ञों के विचार

डिजरेली ने साम्राज्यवादी होते हुए भी उपनिवेशवाद का विरोध किया था परन्तु 1869 में 'स्वेज नहर (Suez Canal) के बनते ही उसके विचार बदल गये । उसने 1872 में क्रिस्टल महल (Crystal Palace) में भाषण देते कहा कि इंग्लैण्ड की प्रतिष्ठा एवं प्रभाव बनाये रखने के लिए साम्राज्य को सुरक्षित रखना आवश्यक है । 1870 में आक्सफॉर्ड में भाषण देते प्रसिद्ध विचारक रस्किन (Ruskin) ने कहा था कि "इंग्लैण्ड को शीघ्रातिशीघ्र नवीन उपनिवेश स्थापित करना चाहिए । उसे जहां भी उपयोगी स्थान मिलता है उस पर अधिकार कर लेना चाहिए ..... यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो नष्ट हो जावेगा ।[2] फ्रांस के अर्थशास्त्री पाल लेरोयब्यूल (Paul Leroybaulieu) ने 1874 में लिखा था कि उन राज्यों के लिए जो सभ्यता के उच्च शिखर पर पहुंच चुके हैं - उपनिवेश स्थापित करना सबसे महत्वपूर्ण कार्य है । आगे चल कर उसने ही फिर कहा कि विशेष रूप से फ्रांस के लिए उपनिवेशीकरण जीवन और मरण का प्रश्न है । फ्रांस की राज्य- क्रांति की समाप्ति तथा नेपोलियन तृतीय के शासन में बढ़ते औद्योगिक विकास को देखकर फ्रांस के राजनीतिज्ञों को अपना माल खपाने के लिए बाजार की चिन्ता हुई । अत: जूल्सफेरी (Jules Ferry) ने भी नवीन साम्राज्यवाद का अर्थ युक्तियुक्त ढंग से स्पष्ट करते लिखा "यह प्रश्न निकट भविष्य का नहीं वरन् आगे आने वाले 50 या 100 वर्षों में हमारे देश के भविष्य का प्रश्न है - वर्तमान काल में यूरोप के विशाल राज्यों को, औद्योगिकरण करने के उपरान्त - उनके उत्पादन की खपत की समस्या का सामना करना पड़ता है । अत: हमारे लिए उपनिवेशवादी नीति अपनाना उतना ही आवश्यक है, जितना नवीन मण्डियों की खोज करना ।" औद्योगीकरण की नीति ही नवीन उपनिवेशवादी नीति की जन्मदात्री है । इस प्रकार इन राजनीतिज्ञों ने नवीन साम्राज्यवाद के अर्थ को तो स्पष्ट किया ही पर इसके साथ ही इन्होंने उपनिवेशवाद की ओर यूरोपीय देशों का ध्यान पुन: आकर्षित भी कर दिया और इसके लिए उनमें तीव्र होड़ उत्पन्न कर दी ।

उपर्युक्त विभिन्न राजनीतिज्ञों के विचारों से स्पष्ट है कि उपनिवेशवाद ही नवीन साम्राज्यवाद का प्रतिरूप था और उपनिवेशवाद को लेकर यूरोप व अन्य महाद्वीपों में प्रतिस्पर्धा की भावना तीव्र बनी थी । 1870 के उपरांत प्रत्येक शक्तिशाली देश अपनी प्रतिष्ठा के लिए नवीन उपनिवेशों की स्थापना करना परम आवश्यक कर्त्तव्य समझने लगा । विश्व में वही राष्ट्र शक्तिशाली एवं उन्नत समझा जाने लगा जिसके प्रभुत्व में अधिकाधिक उपनिवेश हों । अत: राष्ट्रों में उपनिवेश स्थापना की प्रतिस्पर्धा उत्तरोत्तर तीव्र होना स्वाभाविक था । परन्तु उन्नीसवीं सदी की इस प्रतिस्पर्धा में राजनीतिक कारणों की अपेक्षा आर्थिक कारण अधिक प्रेरणा के तत्व बने थे क्योंकि इस प्रतिस्पर्धा के मूल में देशों का औद्योगिक विकास था ।

12.3 प्रतिस्पर्धा के प्रेरक तत्व

1. Slosson - “Europe Since 1870” .p. 112
2. Langer _ “European Alliances and Allignments” p. 258

12.3.1 (अ) आर्थिक

12.3.1.1 (1) अतिरिक्त उत्पादन :

जब औद्योगिक देशों में उत्पादन उनकी आवश्यकता से अधिक होने लगा तो उन्हें उस अतिरिक्त उत्पादन (Surplus Product) को खपाने की चिन्ता हुई । ब्रिटेन तो इस दिशा में 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही उल्लेखनीय देश बन गया । उसके पास उपनिवेश भी थे जहां कि वह अपना अधिक उत्पादन आसानी से खपा दिया करता था । 19वीं सदी के आरंभ में फ्रांस की राज्य-क्रांति के परिणामस्वरूप यूरोप के कई औद्योगिक देशों का औद्योगीकरण अवरुद्ध रहा । परन्तु, 1848 की क्रांति के उपरान्त यूरोप के देशों में औद्योगिक विकास तीव्र गति से होने लगा । 1870 के उपरान्त इटली व जर्मनी भी औद्योगिक क्षेत्र में आगे बढ़ने लगे । जर्मनी का विकास इटली की अपेक्षा अधिक हुआ। उसका सामान गुणात्मक रूप से भी यूरोप के बाजार में ख्याति प्राप्त कर रहा था । इसके अलावा वह सस्ते दामों पर भी उपलब्ध था । यूरोप का बाजार उसके उत्पादन के लिए पर्याप्त सिद्ध नहीं हुआ। उधर गृह युद्ध (Civil War 1860-65) के समाप्त होते ही संयुक्त राज्य अमेरिका भी अपने औद्योगिक विकास में व्यस्त हो गया । उसका अतिरिक्त उत्पादन भी तेजी से यूरोप में आने लगा। इंग्लैण्ड को इससे चिन्ता होना स्वाभाविक था । इसी प्रकार इन औद्योगिक देशों को कच्चे माल की भी आवश्यकता हुई । 1870 से पूर्व तक तो यूरोप के देश अपने उपनिवेशों से कच्चा माल सुविधा प्राप्त करते रहे पर अतिरिक्त उत्पादन को बनाये रखने व उसे अधिक बढ़ाने हेतु उन्हें अधिक कच्चे माल की आवश्यकता हुई । अत: कच्चा माल के प्राप्ति में भी यूरोप के औद्योगिक देश आपस में प्रतियोगी बन गये ।

12.3.1.2 (2) अतिरिक्त पूंजी :

यूरोप के औद्योगिक देशों में पूंजीवाद बहुत पनप गया था । कारखानों के मालिकों ने इतना धन कमा लिया था कि वे उसे ऐसे स्थानों पर लगाना चाहते थे जहां कि उन्हें लाभ भी अच्छा मिले और उनका धन भी सुरक्षित रहे । पूंजीपतियों की इस मांग ने भी उपनिवेशवाद को प्रखर बना दिया । प्रथम तो धनी व्यापारियों ने ही विदेशों में जाकर अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित करना आरम्भ कर दिया । उन्होंने वहाँ भूमि खरीदना आरंभ कर दिया । खानों का पता लगाकर बहुमूल्य खानों को खरीदना आरंभ कर दिया । दक्षिण अमेरिका इन्हीं साधनों से ब्रिटेन का उपनिवेश बना था । उसमें सेसिल रोड (Cecil Rhodes) ने प्रमुख भूमिका निभाई थी । एक देश को लाभान्वित होता देख दूसरे देश भी अपनी पूँजी वहां लगाकर लाभ कमाने को आतुर हो गये ।

12.3.1.3 खाद्यान्नों की कमी :

यूरोप के देश औद्योगिक विकास के प्रति तो जागरूक रहे परन्तु भौतिक वस्तुओं का अधिकाधिक मात्रा में उत्पादन करना उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया था । इस कारण सिवाय फ्रांस के यूरोप के सभी औद्योगिक देशों के सामने खाद्य समस्या भंयकर बनी

हुई थी । किसान श्रमिकों में परिवर्तित हो गये थे । किसानों के लहलहाते खेतों के स्थान पर विशाल कारखाने खड़े हो रहे थे । इंग्लैण्ड व जर्मनी के सामने तो यह समस्या और भी भंयकर थी । इंग्लैण्ड तो फिर भी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अजैन्टीना (Argentina) व भारत से खाद्यानों का आयात कर लेता था पर जर्मनी 1890 तक इस स्थिति में नहीं पहुंचा था । अत: वह तो ऐसे स्थानों की तलाश करने लगा जहां से वह खाद्य पदार्थों का सुगमता से आयात कर सके । इंग्लैण्ड जैसे देश को दूरस्थ देशों से खाद्य सामग्री का आयात करना पड़ता था । अत: उसके आयात में अनेक आशंकाएं तो उपजती रहती ही थीं । अत: उनके निवारणार्थ वह समीप के सुरक्षित उपनिवेश तलाश करने लगा । इस प्रकार खाद्य समस्या के प्रश्न को लेकर भी यूरोप के औद्योगिक देशों में भारी प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गई थी ।

12.3.1.4 यातायात के साधनों का विकास :

यातायात के साधनों को लेकर भी यूरोप व अमेरिका में होड़ लगी हुई थी । औद्योगिक व साम्राज्यवादी देश इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे कि उनके उपनिवेशों की सुरक्षा तथा उद्योग-धन्धों का विकास उनके विकसित यातायात के साधनों पर ही अवलंबित है । इसीलिए ब्रिटेन अपने सामुद्रिक मार्गों को सुरक्षित एवं विकसित देखना चाहता था । वह नहीं चाहता था कि रूस काले सागर व भूमध्यसागर में अपना प्रभुत्व जमावे तथा जर्मनी अपने जल-यातायात को विकसित करे । रूस ने जब ग्रान्ड साइवेरियन रेलवे (Siberian Railway) बनाली तो अन्य यूरोपीय देश उससे ईर्ष्या करने लगे । जब 1902 में जर्मनी ने टर्की के सुल्तान से बगदाद रेल (Bagdad Railway) की अनुमति प्राप्त कर ली तो इससे इंग्लैण्ड को सर्वाधिक ईर्ष्या तथा आशंका हुई ।[1] चीन में रेल लाइनें बिछाने के प्रश्न को लेकर इंग्लैण्ड, फ्रांस व जर्मनी में प्रतिस्पर्धा हुई ।

12.3.1.5 जनसंख्या में वृद्धि :

उन्नीसवीं सदी में यूरोपीय देशों की जनसंख्या में आशातीत वृद्धि हुई । 1880-1914 के मध्य यूरोप की आबादी 45 करोड़ हो गई । इस बढ़ती हुई जनसंख्या ने उत्पादन को और बढ़ाने में सहायता दी । शहरीकरण को प्रोत्साहन मिला । शिक्षा व विज्ञान के विकास से आविष्कारक व वैज्ञानिक उत्पन्न हुए । जब उन वैज्ञानिकों को अपने देश में काम नहीं मिला तो उन्हें अन्यत्र जाना पड़ा । इसी प्रकार इटली, व जर्मनी की आबादी दुगुनी हो गई तो इन देशों को अपने लोगों को बसाने व रोजी उपलब्ध कराने हेतु नवीन उपनिवेशों की स्थापना करनी पड़ी और उपनिवेशों की स्थापना में उन्हें बड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा ।

12.3.2 (ब) राजनीतिक :

साधारणत: राजनीतिक व आर्थिक उद्देश्यौं के सम्मिलित प्रभाव के कारण ही उपनिवेशवाद को प्रोत्साहन मिलता है । फ्रांस की राज्य-क्रांति ने भी साम्राज्यवाद को बढ़ावा दिया था । इसके अलावा इस क्रांति ने इस प्रकार की कई धारणाएं उत्पन्न कर दी थीं जिनके कारण भी उपनिवेशों की स्थापना आवश्यक हो गई थी । इटली और जर्मनी के एकीकरण ने भी

यूरोप में इस प्रकार की राष्ट्रीय भावना उत्पन्न की कि वहां के निवासी व सरकार विदेशों में उपनिवेश स्थापित करने को लालायित हो उठे और इसके लिए उन्हें इंग्लैण्ड व फ्रांस से कड़ी टक्कर लेनी पड़ी । राष्ट्रों में सर्वोच्चता प्राप्ति के लिए उत्पन्न प्रतिस्पर्धा के राजनीतिक कारण निम्नलिखित थे -

12.3.2.1 उग्र राष्ट्रवाद :

उन्नीसवीं सदी राष्ट्रवाद की ही सदी मानी जाती है । परन्तु 1870-71 में इटली व जर्मनी का एकीकरण हो जाने के उपरान्त इस राष्ट्रवाद ने उग्र रूप धारण कर लिया । 1848 में जब राष्ट्रीयता का कट्टर प्रतिक्रियावादी मैटरनिख भेस बदल कर आस्ट्रिया से भाग खड़ा हुआ तो राष्ट्रवादियों ने इसे अपनी महान विजय समझी । इससे उग्र राष्ट्रवाद को और प्रेरणा प्राप्त हुई । जर्मनी के सम्राट विलियम द्वितीय ने अपने जर्मनवासियों को विश्व में सर्वश्रेष्ठ बताया और उसने विश्व-नीति पर आचरण किया । सम्राट की इस नीति ने जर्मनवासियों को उपनिवेशवाद की ओर अग्रसर किया । इसी प्रकार इटली के सम्राट विक्टर इमेनुअल ने अपने देशवासियों की राष्ट्रवादी भावना को तुष्ट करने हेतु साम्राज्यवाद को अपनाया । इसके अलावा इस काल में महान-शक्ति (Big Power) कहलाने का अधिकारी बनने के लिए उपनिवेशवादी होना आवश्यक था । जिस देश के पास जितने अधिक उपनिवेश होते थे वह विश्व में उतना ही महान राष्ट्र समझा जाता था । उदाहरणार्थ हम ब्रिटेन को ले सकते हैं । जर्मनी यूरोप में आस्ट्रिया को (1866) व फ्रांस को (1870) में परास्त कर अपने को यूरोप में एक महान शक्ति समझने लगा था । उपनिवेशवाद की प्रतिस्पर्धा में वह अफ्रीका में ब्रिटेन से टक्कर लेने की तैयारी कर रहा था । इसीलिए कहा जाता है कि राष्ट्रों में प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न करने की प्रमुख प्रेरक शक्ति उग्र राष्ट्रीयता थी ।[1]

12.2.2.2 राष्ट्रीय प्रतिष्ठा :

उग्र राष्ट्रीयता के माध्यम से यूरोप के साम्राज्यवादी देशों ने अपने लोगों की राष्ट्रीय भावना व देश-प्रेम को उग्र बना कर उन्हें राष्ट्र के गौरव की रक्षार्थ तैयार किया । इटली व जर्मनीवासी अपने राष्ट्र का मस्तक ऊंचा उठाने को सदैव तैयार रहते थे । इसी भावना से प्रेरित हो कर इटलीवासियों ने अफ्रीका के पूर्वी किनारे के बंजर प्रदेश पर आधिपत्य बनाये रखने हेतु करोड़ों रुपया खर्च कर दिया । लीबिया को उपनिवेश इटली ने केवल अपने राष्ट्र के गौरव के ही लिए बनाया था । विश्व के देशों को लाल रंग से रंगा देखकर अंग्रेज गर्वोन्नत हो सीना तान कर बात करते थे । इसी प्रकार सूर्य के नीचे जगह पाने के लिए जर्मन बहुत उत्सुक रहते थे और राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढ़ाने हेतु वे अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को सदा उद्यत रहते थे । हालांकि औद्योगिक विकास में रूस अधिक उन्नति नहीं कर सका था तथापि उसने अपने साम्राज्य का विस्तार किया । इसके पीछे उसका उद्देश्य मूलत: राजनीतिक ही था ।[1] उसका साम्राज्य विस्तार भी विश्व की शक्तियों में प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करने का एक कारण बना ।

12.3.3.3 कुछ प्रशासकों व सेनानायकों की उपनिवेशवाद के लिए प्रेरणा

यदि मिस्र को ब्रिटेन का उपनिवेश बनाने में लार्ड क्रोमर (Lord Cromer) का पूरा हाथ था तो नाइजेरिया को उपनिवेश बनाने में लार्ड लुगार्ड (Lord Lugard) का हाथ था । इसी प्रकार कैप कालोनी को लाल रंग से रंगने वाला मिलनर (Milner) था । मोरक्को प्रश्न बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी व स्पेन के बीच विवाद का कारण बन गया था । समीप स्थित होने तथा प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न होने के कारण फ्रांस के मार्शन ल्याते (Marsshal Lyautey) ने उसे फ्रांस की प्रतिष्ठा का प्रश्न बना दिया था और अन्त में 1911 में फ्रांस उसे ले कर ही माना । अफ्रीका के पूर्व में जो जर्मन उपनिवेश स्थापित हुए उसका श्रेय जर्मनी के राजनीतिज्ञ कार्लपीटर्स (Karl Peters) को विशेषरूप से जाता है । जैसा कि हम आगे उपयुक्त स्थान पर पावेंगे कि सैनिक क्षेत्र भी महान शक्तियों की प्रतिस्पर्धा के कारण स्थापित हुए थे और दूरस्थ देशों में उपनिवेश स्थापित होने के कारण सामरिक महत्व के बन्दरगाहों पर अधिकार करना सैनिक सलाहकारों का पुनीत कर्त्तव्य हो गया था । ब्रिटेन ने अपने कूटनीतिज्ञों तथा सैन्य सलाहकारों की मंत्रणा पर ही जिब्राल्टर, काहिरों, अदर, कोलम्बों, सिंगापुर तथा हांगकांग बन्दरगाहों को अपना उपनिवेश बनाया था । भू-मध्य सागर में नौ सेना का अड्डा बनाने की दृष्टि से ही इंग्लैण्ड ने साइप्रस (Cyprus) को अधिनस्थ किया था । इस प्रकार नवीन साम्राज्यवाद के अन्तर्गत उपनिवेशवाद की जब देशों में होड़ लग गई तो उनमें प्रतिस्पर्धा की भावना का उग्र होना स्वाभाविक ही था ।

12.3.3 (स) अन्य

12.3.3.1 महत्वाकांक्षी पुरुषों (Adventurers) व अन्वेषकों (Explorers) का योगदान :

विश्व के अनजान प्रदेशों की साहसिक व्यक्तियों ने खोज करके भी उपनिवेशवाद को प्रबल बनाया । डेविड लिविंगस्टन (David Livingstone) ने अफ्रीका के सहारा रेगिस्तान की यात्रा करके यूरोपीय शक्तियों का ध्यान अफ्रीका के मध्य-भाग की ओर आकर्षित किया । फ्रांस के डु चालू (Du Chaillu) व डिब्राजा (De Brazza) ने अफ्रीका के भू-मध्यरेखीय क्षेत्रों का पता लगा कर वहाँ साम्राज्यवादी ताकतों को पहुँचाने में सक्षम बना दिया । इसी प्रकार इंग्लैण्ड के हेनरी मार्टन स्टेनले ने बेल्जियम के सम्राट लियोपोल्ड (Leopold) का ध्यान कांगों पर केन्द्रित कर यूरोप के छोटे से देश को भी अफ्रीका के बंटवारे में महान भागीदार बना दिया । जर्मनी के कार्ल पीटर्स ने पूर्वी अफ्रीका में बड़ी उपयोगी खोजें की ।[2] उसकी खोजों ने जर्मनी को उपनिवेशव बना दिया । इस प्रकार अन्वेषकों ने भी अपने राष्ट्रों को सर्वोच्चता की होड़ में धकेल दिया ।

.1 David Thomson - “Europe Since Napolean/” p. 461

.2 David Thomson - “Europe Since Napolean/” p. 462.

12.3.3.2 ईसाई धर्म प्रचारकों का योगदान :

ईसाई धर्म प्रचारकों (Missonaries) ने ईसाई धर्म का प्रचार कर इसे विश्व का प्रथम धर्म तो बनाया ही पर साथ में उन्होंने यूरोप के ईसाई धर्मावलम्बी देशों को विश्व में साम्राज्यवादी भी बनाया । अविकसित व निर्बल देशों में आगे-आगे धर्म प्रचारक चलते थे और उनके पीछे उनके देश के सैनिक । अफ्रीका की खोज में हाथ बंटाने वाला इंग्लैण्ड का डेविड लिविंगस्टन प्रथम एक ईसाई धर्म का प्रचारक ही था । उसने 20 वर्ष तक अफ्रीका के दुर्गम रेगिस्तानी भाग में यात्रा की । दूषित गुलाम-प्रथा को समाप्त करा कर उसने अफ्रीका के मूल निवासियों की सहानुभूति प्राप्त कर ली तथा उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित कर अपना बना लिया । 1873 में अपनी मृत्यु से पूर्व उसने अपने देशवासियों को यह संदेश भेजा था कि अफ्रीका की भूमि व्यापार व ईसाई धर्म के प्रचार के लिए उपयुक्त है ।[1] जर्मन पादरी फबरी ने अफ्रीका में धर्म प्रचार की अपेक्षा वहाँ के लोगों में जर्मन-प्रशासन के प्रति अधिक अभिरुचि उत्पन्न की । तृतीय गणतंत्र के काल में फ्रांस के हजारों कैथोलिक धर्म प्रचारक, अफ्रीका व चीन में फैल गये । वहां उन्होंने धर्म का प्रचार किया । वहां की सरकार यदि उन्हें धर्म-प्रचार की सुविधा प्रदान नहीं करती तो वे फ्रांस से सैनिक बुलाकर वहां राजनीतिक प्रभुता स्थापित करवाते थे । इस दिशा में फ्रांस के कार्डिनल लेवीगिरी (Cardinal Lavigerie) का नाम उल्लेखनीय है । बेल्जियम के धर्म प्रचारकों ने भी इसी प्रकार कांगों क्षेत्र के लोगों को अपने सम्राट की जनता बनने को राजी किया । इस प्रकार धर्म प्रचारकों ने भी यूरोप के उपनिवेशवाद को व्यापक बनाने में महान सहयोग प्रदान किया । इससे भी प्रतिस्पर्धा की भावना दिनों दिन उग्र होती ही चल गईं ।

12.3.3.3 यूरोप के साम्राज्यवादी देशों द्वारा असभ्य लोगों को सभ्य बनाने का बहाना लेना :

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दर्शकों में जर्मनी व इटली द्वारा अपनी सभ्यता को सर्वोपरि बताने का प्रयास किया गया । इंग्लैण्ड ने विश्व के अर्द्धनग्न तथा असभ्य लोगों को शिक्षित करना अपना पुनीत कर्त्तव्य बताया । इसे गोरे लोगों का उत्तरदायित्व (White Man's Burdens) ठहराते हुए किपलिंग ने 1899 में लिखा था कि काले लोगों को सभ्य बनाना गोरे लोगों का कर्त्तव्य है । उसने अपनी कविता में लिखा था । :

'Take up the white Mans Burden,
Send forh the bestye breed,
go, Bind your sons to exile,
To serve your Captives need.

फ्रांस के साम्राज्यवादियों ने भी उपनिवेशवाद को सभ्यता-विस्तार का ही नाम दिया । इटली ने अशिक्षित लोगों को शिक्षित करना अपना पुनीत कर्त्तव्य (Sacred Duty) बताया । इस प्रकार धर्म प्रचार व असभ्य व्यक्तियों को सभ्य बनाने की भावना ने भी यूरोप के देशों में प्रतिस्पर्धा

I "New Caubridge History" Vol XI. P. 384.

की भावना उत्पन्न की । प्रत्येक देश अपने यहां से अधिकाधिक धर्म प्रचारक भेज कर विदेशों में अपने उपनिवेशों का विस्तार करने लगा ।

12.4.0 प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र

12.4.1 जनसंख्या का क्षेत्र :

1815 से 1870 के अन्तराल में साम्राज्य विस्तार में शिथिलता अवश्य आई, परंतु औद्योगिक विकास निरंतर चलता रहा । यदि हम यूरोप के तत्कालीन औद्योगिक देशों की आन्तरिक अवस्था का आंकलन करते हैं तो हमें पता चलता है कि इस औद्योगिक विकास के पीछे वहां की बढ़ती जनसंख्या का भार भी था । 1815 में यूरोप की जनसंख्या 2000 लाख थी और 1914 में वह बढ़कर 4000 लाख हो गई । स्पष्ट है कि सौ वर्षों में यह आबादी दुगनी हो गई और इसके साथ ही यूरोप का औद्योगिक विकास भी दुगना हो गया । परंतु आबादी की बढ़ोत्तरी यूरोप के सभी देशों में एक अनुपात में नहीं हुई । इंग्लैण्ड की आबादी उक्त एक सदी में तिगुनी हो गई । उसकी आबादी 1831 में 16 मिलयन थी तो वह 1914 में 48 मिलयन हो गई । जर्मनी व इटली में भी आबादी 100 वर्षों में दुगुनी हो गई । परन्तु फ्रांस की आबादी इसके विपरीत घटी । फ्रांस की भूमि भी खेती के उपयुक्त थी । यही कारण था कि 1914 तक फ्रांस की जनसंख्या के दो तिहाई लोग खेती करते थे तथा एक तिहाई लोग कारखानों में काम करते थे । इंग्लैण्ड में भी 1800 ई0 में 10 में से 9 व्यक्ति ग्रामीण होते थे। परन्तु औद्योगिक विकास से इंग्लैण्ड में नागरीकरण इतना तेजी से हुआ कि 1914 में वहां के लोगों में 10 में से 7 शहरों के निवासी हो गये ।

नि:सन्देह इंग्लैण्ड में 48 मिलियन लोगों के लिए खाद्यान्न नहीं उपजता था । 30 करोड कुशल अनाज प्रतिवर्ष इंग्लैण्ड को अमेरिका (U.S), आस्ट्रेलिया व अर्जेन्टाइना से मंगाना पड़ता था । हालांकि खाद्यान्नों के आयात के लिए इंग्लैण्ड के पास पर्याप्त जलपोत थे फिर भी उसे कई आशंकाएं बनी रहती थीं । परंतु इन कठिनाइयों से ब्रिटेन भयभीत नहीं था । उसने अपनी जनसंख्या की वृद्धि की ओर निरन्तर ध्यान दिया । श्रमिकों को अनेक सुविधाएं प्रदान कर उनका जीवन दीघार्यु बनाया । इंग्लैण्ड की सरकार इस तथ्य का अध्ययन कर रही थी कि यदि उसके श्रमिक शहरी बने रहे तो उसे लाभप्रद है । उनका जीवन स्तर उन्नत हो रहा है । उनके दैनिक जीवन की आवश्यकताएं बढ़ रही थीं । उनकी बढ़ती आवश्यकताओं से इंग्लैण्ड का माल खपता जा रहा था । अत: उसकी बढ़ती जनसंख्या उसे समस्यामूलक सिद्ध न हो कर लाभदायक ही सिद्ध हो रही थी । इसके अलावा उसके अधिकांश लोग उसके उपनिवेशों में जा कर बस रहे थे । इस बढ़ती जनसंख्या से इंग्लैण्ड को श्रमिक समस्या का भी सामना नहीं करना पड़ रहा था । परंतु फ्रांस की परिस्थिति इससे भिन्न थी । इसकी आबादी भी कम थी और फ्रांसीसी अन्यत्र जाकर वहां के निवासी बनकर बसना भी पसन्द नहीं करते थे । इसी कारण फ्रांस प्रतिस्पर्धा में सदैव इंग्लैण्ड से पीछे रहा ।

इटली व जर्मनी ने अपनी राजनीतिक एकता प्राप्त करते ही जनसंख्या का महत्व पहचान लिया था । इस कारण उन दोनों ने अपनी जनसंख्या की वृद्धि की ओर ध्यान दिया ।

इटली की जनसंख्या 1815 में, 18,000,000 थी और वह 1914 हमें 36,000,000 हो गई थी । परन्तु अपनी इस बढ़ती जनसंख्या का वह न तो औद्‌योगिक विकास में लाभ उठा सका और न उपनिवेश-विस्तार में ही । 19वीं सदी के अंतिम दशक में उसने इथोपिया (Ethopia) लेने का प्रयास अवश्य किया-परन्तु वह असफल रहा । 1881 में उसके देखते-देखते ट्‌यूनिसिया (Tunisa) भी फ्रांस की झोली में चला गया ।

इसके विपरीत जर्मनी ने अपनी बढ़ती जनसंख्या का पूरा लाभ उठाया । उग्र राष्ट्रवाद से प्रेरित होने के कारण जर्मनवासियों ने अपने देश का तेजी से औद्‌योगिक विकास किया । परिणामत: जर्मनी औद्‌योगिक क्षेत्र में यूरोप का अग्रिम देश बन गया । यहां के लोग विदेशों में जाकर बसने लगे । वहां से जर्मनी को विदेशी मुद्रा भेजने लगे । इसे बढ़ती जनसंख्या ने विलियम द्‌वितीय को अफ्रीका व चीन में अपने उपनिवेश स्थापित करने को बाध्य कर दिया । हालांकि इंग्लैण्ड की भांति जर्मनी को भी खाद्‌य-सामग्री बाहर से मंगानी पड़ती थी । परन्तु जर्मनी को इसकी चिन्ता इसलिए नहीं थी कि उसके श्रमिकों के परिश्रम से उत्पादित सामान विदेशों से खाद्‌य सामग्री आसानी से खैंच लाता था । अत: जर्मनी ने भी जनसंख्या की वृद्धि में इंग्लैण्ड से टक्कर लेनी चाही, पर वह इंग्लैण्ड को मात नहीं दे सका । बीसवीं सदी के प्रारम्भ में संयुक्त राज्य (U.S.) अमेरिका तथा जापान शक्ति-प्रदर्शन में आगे आये । अपनी शक्ति बढ़ाने हेतु उन्होंने भी अपनी जनसंख्या बढ़ाने का भरसक प्रयास किया । निःसंदेह बीसवीं सदी के प्रारम्भ में वे भी विश्व के माने हुए औद्‌योगिक देश बन गये । जापान को अपनी बढ़ती आबादी को बसाने हेतु कोरिया (Korea) लेना पड़ा और अमेरिका (U.S.) को अपनी बढ़ती आबादी का अनुपात बनाये रखने हेतु चीन, जापान, स्पेन से आने वालों पर प्रतिबंध लगा दिया।

अत: स्पष्ट है कि उन्नीसवीं सदी तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जनसंख्या की वृद्धि को लेकर देशों में प्रतिस्पर्धा चलती रही । इस जनसंख्या की बढ़ोत्तरी में ब्रिटेन ही सर्वोच्च रही तथा इससे वह सर्वोच्चता की प्रतिस्पर्धा में अग्रिम भी रहा ।

12.4.2. औद्‌योगिक क्षेत्र :

औद्‌योगिक प्रतिस्पर्धा ही विश्व के देशों में उपनिवेशवाद की प्रतियोगिता को जन्म देने वाली थी । इस औद्‌योगिक प्रतिस्पर्धा को हम दो विभागों में विभक्त कर समझाने का प्रयास करेंगे ।

12.4.2.1 प्रथम काल (1815-70) हालांकि फ्रांस की राज्य-क्रांति के कारण उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में औद्‌योगिक विकास भी अवरुद्ध हो गया था, फिर भी 1815 तक ब्रिटेन ने औद्‌योगिक क्षेत्र में प्रशंसनीय प्रगति कर ली थी । उसके व्यापारी विश्व के बाजारों में छा गये थे और उनसे प्रतिस्पर्धा करने वाला अन्य कोई देश नहीं था । परिणामत: औद्‌योगिक क्षेत्र में बढ़ने के इच्छुक देशों ने अपने प्रतिनिधियों को इंग्लैण्ड भेजा । उन्होंने वहां जाकर उन्होंने इंग्लैण्ड की सफलता का रहस्य जानना चाहा । उन्होंने इसे अपने जन्म-मरण का प्रश्न बना लिया । ब्रिटिश दस्तकारों को वे अपने देश ले आये तथा इंग्लैण्ड से मशीनें खरीद कर उन्हें अपने यहां स्थापित कीं । इस नीति के अपनाने से बेलियम औद्‌योगिक क्षेत्र में आगे बढ़ा । प्रशा जैसे राज्य ने भी अपनी नकारात्मक नीति के स्थान पर औद्‌योगीकरण का समर्थन करना

प्रारम्भ कर दिया । आस्ट्रिया भी अपने राजनीतिक सुधारों के कारण अपना औद्योगिक विकास करने की स्थिति में आ गया ।

इस औद्योगिकरण का विकास लोहे व कोयले की उपलब्धि पर अवलंबित था । अत: इनकी खानों का खनन आरंभ हो गया । इंग्लैण्ड में ये दोनों धातु पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे । अत: वह तो अपना औद्योगिक विकास निर्विघ्न करता रहा । उत्तरी फ्रांस, दक्षिणी बेल्जियम व सार के समीप स्थित जर्मनी के प्रदेश भी लोहा व कोयला के लिए पर्याप्त रूप से सम्पन्न थे । अत: वे देश भी औद्योगिक विकास का प्रयास करने लगे; पर वे इंग्लैण्ड की समता नहीं कर सके । 1850 तक बेल्जियम तो उद्योग-प्रधान देश बन गया पर अन्य देश 1870 तक इसमें अधिक प्रगति नहीं कर सके । फ्रांस ने 1830 में वाष्प इंजन का प्रयोग किया और 1848 तक अच्छी मात्रा में सूती व रेशमी वस्त्र का उत्पादन करने लग गया था । ऊनी वस्त्र का उत्पादन उसने 1850 के उपरान्त किया । परन्तु फ्रांस के व्यापारी कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में विदेशों से प्राप्त नहीं कर सके । अत: फ्रांस की सरकार को उनकी सहायता के लिए आगे आना पड़ा । फ्रांस की सरकार ने यातायात व संदेश वाहन के साधनों का विकास किया तथा बैंकों की स्थापना की । इसका परिणाम यह हुआ कि 1870 तक फ्रांस का उत्पादन 1851 की तुलना में तिगुना हो गया । 1836 से 1867 के अन्तराल में फ्रांस में लोहे की खपत तिगुनी हो गई और उसका विदेशी व्यापार भी तिगुना हो गया ।

जर्मनी इस क्षेत्र में विलम्ब से आया । अत: उसका औद्योगिक विकास भी 1870 तक धीमी गति से ही हुआ । इटली, स्विटजरलैण्ड और आस्ट्रिया भी इंग्लैण्ड का अनुकरण करने लगे, परन्तु 1830-70 के अन्तराल में ये देश इंग्लैण्ड तो क्या फ्रांस व जर्मनी के समकक्ष भी अपना उत्पादन नहीं बढ़ा सके । सच पूछा जाये तो 1850 के आस-पास स्वीडन में, 1860 में इटली में और 1870 में स्पेन में औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात हुआ । रूस में तो औद्योगिक विकास और भी विलम्ब से हुआ । 1850 तक तो वहां मुद्रा का ही प्रचलन नहीं हुआ था । उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में फ्रांस से आर्थिक सहायता मिलने पर वहाँ कल-कारखाने स्थापित हुए थे । अत: स्पष्ट है कि 1870 तक औद्योगिक क्षेत्र में ब्रिटेन का ही वर्चस्व बना रहा ।

दूसरा काल 1871 से 1917 ई0 तक - 1870-71 ई0 में इटली व जर्मनी का एकीकरण सम्पन्न हो गया था । अत: दोनों राष्ट्रों के निवासियों में उग्र राष्ट्रवाद प्रबल हो रहा था । इस कारण 1870 के उपरान्त इटली व जर्मनी दोनों ही औद्योगिक प्रतिस्पर्धा में ब्रिटेन से टक्कर लेने का प्रयास करने लगे । इनमें जर्मनी अधिक सफल रहा ।

12.4.2.2.1 जर्मनी -

राष्ट्रीय एकता प्राप्त कर लेने के उपरान्त जर्मनवासियों ने अनुभव किया कि उनके पास एक महान राष्ट्र बनने के साधन उपलब्ध हैं । जर्मनी के लोग बुद्धि सम्पन्न, मितव्ययी एवं परिश्रमी भी थे । उनके पास लोहे व कोयले के पर्याप्त भण्डार थे जो देश के औद्योगिक विकास के लिए परम-आवश्यक थे। इसके अलावा वे ब्रिटेन से मशीनें भी आसानी से खरीद सकते थे ।

एकीकरण के साथ ही जर्मन-व्यापारियों के लिए विस्तृत बाजार भी उपलब्ध हो गये । 1870 से 1914 के अन्तराल में जर्मनी का औद्योगिक उतादन 10 गुना हो गया तथा व्यापार भी कई गुणा बढ़ गया । जर्मनी के परिश्रमी श्रमिकों ने केवल देश का उत्पादन ही नहीं बढ़ाया वरन अपने यहां के उत्पादित सामान की गुणात्मक साख भी विश्व में स्थापित कर दी । यूरोप के समस्त देशों ने जर्मनी की उच्चस्तर पर निर्मित वस्तुओं का आदर किया । जर्मनी ने औद्योगिक क्षेत्र में इंग्लैण्ड को पीछे छोड़ दिया । कच्चे लोहे व इस्पात के उत्पादन में विश्व का वह दूसरा देश बन गया । प्रथम स्थान अमेरिका (U.S.A.) ने प्राप्त कर लिया था । 1870 में जर्मनी में लोहे का उत्पादन 29,000 मैट्रिक टन था । 1914 में बढ़कर वह 1,93,09,000 मैट्रिक टन हो गया । इंग्लैण्ड के सांसद अपने हाथों में जर्मनी की पैन्सिलें देख कर आश्चर्यचकित थे । इंग्लैण्ड के द्वारा मुक्त-व्यापार (Free trade) की नीति अपनाने के कारण जर्मन व्यापारी इंग्लैण्ड पहुंच गये । 1880 से 1914 के अन्तराल में ब्रिटेन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार 23 प्रतिशत से घट कर 17 प्रतिशत रह गया जबकि जर्मनी का व्यापार 9 प्रतिशत से बढ़कर 12 प्रतिशत हो गया । ब्रिटेन ने अपने औद्योगिक ह्रास का कारण जर्मनी के औद्योगिक विकास को माना ।

जर्मनी के बढ़ते औद्योगिक विकास से यूरोप के अन्य राष्ट्र ईर्ष्या करने लगे । वे उसके औद्योगिक विकास से भयभीत हो गये । जर्मन बैंकों के मालिकों ने सहयोग प्रदान कर देश के औद्योगिक विकास को और भी प्रखर बना दिया । विदेशों में कार्यरत जर्मनी के वाणिज्य दूतावासों की व्यापार-क्षेत्र में खोज संबंधी सजगता ने भी कुछ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दीं जिनका मुकाबला अन्य औद्योगिक राष्ट्र सुगमता से नहीं कर सके । जर्मनी ने उन देशों के बाजारों पर अधिकार कर लिया जिन पर पहले इंग्लैंड फ्रांस, बेल्जियम व संयुक्त राज्य का अधिकार था ।

12.4.2.2.2 इटली-

इटली ने भी राजनीतिक एकता 1870 में ही प्राप्त की । इटलीवासियों ने जर्मनी की भांति औद्योगिक प्रतिस्पर्धा में भाग लेना चाहा । परन्तु औद्योगिकरण के लिए तीन प्रमुख आवश्यकताएं होती हैं - प्राकृतिक साधन, पूंजी एवं श्रम । इन तीनों साधनों में ही इटली अशक्त था । प्राकृतिक साधनों में वह जर्मनी की भांति भाग्यशाली नहीं था । पूंजी का उसके पास सर्वथा अभाव था । श्रमिक इटली के पास काफी संख्या में थे । परन्तु वे किसान थे और किसान ही रहना चाहते थे । वे कारखानों के दक्ष मजदूर नहीं बनना चाहते थे । कोयला इटली को इंग्लैण्ड से मांगना पड़ता था । हालांकि कोयले के भण्डार उसके पास भी थे पर वे पर्याप्त नहीं थे । लोहे का खदान वाल्ड ओस्टा तथा एल्ब द्वीप में किया गया पर वह भी पर्याप्त नहीं रहा । कोयले के स्थान पर तेल का प्रयोग होने पर भी इटली उसका लाभ नहीं उठा सका । जल-विद्युत प्रयोग उसे लाभप्रद अवश्य सिद्ध हुआ, परन्तु मध्य वर्ग के छोटे व निर्धन होने के कारण दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की मांग इटली में नहीं बढ़ सकी । इटली के पास कच्चा माल मंगाने व अपना उत्पादित सामान खपाने को उपनिवेश भी नहीं थे । इन कारणों से इटली 1914 तक भी औद्योगिक क्षेत्र में श्लाघनीय प्रगति नहीं कर सका । परन्तु यातायात व संदेश

वाहन के साधनों के विकसित हो जाने पर इटली ने औद्योगिक क्षेत्र में विकास अवश्य किया । उसने अपनी जहाजरानी को विकसित किया । इसके परिणामस्वरूप इटली ने विदेशों को अपना उत्पादित सामान भेजना तथा वहां से कच्चा माल मंगाना आरम्भ किया । इटली का औद्योगीकरण रेशम के वस्त्र से आरम्भ हुआ । भूमध्यसागर में जिनोवा व मार्शेलीज उसके व्यापार के केन्द्र बन गये । मिलान में रेशम का उद्योग विकसित हुआ । पिडामौण्ट की राजधानी ट्यूरिन (Turin) धातुओं व मशीनों का केन्द्र बन गया । इटली की कारीगरी की विश्व में प्रशंसा की गई । फिर भी औद्योगिक प्रगति यूरोप के अन्य देशों की तुलना में वहां फीकी रही । 1914 में इटली का इस्पात उत्पादन लक्जमवर्ग से भी कम था । उसका निर्यात बेल्जियम से भी कम था क्षेत्रफल में इंग्लैण्ड के समान होते हुए भी इटली उत्पादन में इंग्लैण्ड की समता नहीं कर सका । फिर भी उसके उत्पादन में 1908 तक 87 प्रतिशत की वृद्धि हो गई थी ।

12.4.2.2.3 फ्रांस -

फ्रांस इस दिशा में तो यूरोप के औद्योगिक देशों से भाग्यशाली रहा कि उसे खाद्य-सामग्री का आयात नहीं करना पड़ता था क्योंकि वहां जनसंख्या के अनुपात में अधिक उत्पादन होता था । इसी कारण 1914 तक फ्रांस की जनसंख्या का दो तिहाई भाग किसान बना रहा और केवल एक तिहाई लोग ही कारखानों में काम करते थे । अत: स्पष्ट है कि फ्रांस का औद्योगिक विकास ब्रिटेन, जर्मनी व बेल्जियम की अपेक्षा शिथिल रहा । परन्तु 1870 के आरम्भ होते ही फ्रांस के औद्योगिक विकास ने नवीन स्वरूप धारण कर लिया । अल्सेस व लोरेन प्रदेशों पर जर्मनी का अधिकार हो जाने पर भी फ्रांस का औद्योगिक विकास जारी रहा । हालांकि 90 प्रतिशत लोहा और कुछ महत्वपूर्ण खनिज उसके हाथ से निकल चुके थे । 1900 में उसने व्यापार में अपना चौथा स्थान बना लिया । सूती वस्त्र के तथा लोहे के उत्पादन में उसने अपना तीसरा स्थान बना लिया । सूती वस्त्र के साथ-साथ उच्च कोटि का रेशमी वस्त्र भी फ्रांस में तैयार किया जाने लगा । इत्र, तेल, चमड़े का सामान, कांच के बर्तन, चीनी के बर्तन आदि के निर्माण में तैयार किया जाने लगा । फ्रांस ने अच्छी ख्याति प्राप्त की । 1866-80 के अन्तराल में शराब के उद्योग में भी फ्रांस अग्रिम हो चुका था । 1890 के उपरान्त फ्रांस ने औद्योगिक विकास में अच्छी प्रगति कर ली थी; परन्तु सामुद्रिक मार्गों पर प्रभुत्व न होने के कारण उसका उद्योगीकरण सदैव संभावनापूर्ण ही बना रहा और वह ब्रिटेन को मात नहीं दे सका।

12.4.2.2.4 संयुक्त राज्य अमेरिका (U.S.A.) -

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक से संयुक्त राज्य अमेरिका भी औद्योगिकरण की दौड़ में एक प्रमुख देश के रूप में आगे आया । वैसे वहां औद्योगिक विकास गृह-युद्ध (Civil War) के समाप्त होते ही आरंभ हो गया था । परन्तु अमेरिका के पूंजीपति उसके औद्योगिक विकास में सदा बाधा बने रहे । सर्वप्रथम उन्होंने अपने देश की मुक्त-व्यापार (Free trade) की नीति का विरोध किया । परंतु 1901 से 1909 के अन्तराल में राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट

(Theodore Roosevelt) ने पूंजीपति के संघों की शक्तियों को सीमित कर अमेरिका को विश्व-व्यापार में आगे लाने का प्रयास किया । बीसवीं सदी के प्रारम्भ में चीन का बंटवारा भी आरम्भ हो गया था । अत: अमेरिका ने यूरोप के बाजार पर प्रभुत्व जमाने के साथ-साथ चीन का बाजार भी अपने प्रभाव में लाने का प्रयास किया । परन्तु इस उद्योगीकरण के साथ-साथ अमेरिका को अनेक कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ा । इस उद्योगीकरण के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड की भांति अमेरिका में भी नगरों की संख्या बढ़ने लगी । न्यूयार्क शिकागो, बोस्टन, बाल्टी-मोर आदि नगरों में प्रवासियों की संख्या ही काफी बढ़ गई थी । अत: बीसवीं सदी के प्रारंभ से ही अमेरिका की सरकार ने अनेक प्रतिबन्ध लगा कर प्रवासियों की बाढ़ पर अंकुश लगाया । इसके उपरान्त यातायात के साधनों को विकसित कर अमेरिका के समस्त बड़े शहरों को मिला दिया । रेलों के इस विकास ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में अमेरिका के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

1860 तक तो अमेरिका कृषि प्रधान देश ही बना रहा । उत्तर-पश्चिम के राज्यों में छोटे कारखानों का सहयोग लिया जाता था । गृह-युद्ध (1860-65) के उपरान्त अनेक कारणों से अमेरिका का औद्योगिक विकास तीव्र गति से हुआ। इसका प्रमुख कारण यहां लोहा, कोयला व तेल का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना था । 19वीं सदी के अन्तिम वर्षों में ही कोयले का उत्पादन 1,60,00,000 टन से बढ़कर 26 करोड़ टन हो गया । सुपिरियर झील और मिनिसोटा (Minnesota) में लोहे का खदान आरम्भ हुआ। 1860 में लोहे का उत्पादन 8 लाख टन था । वह 1900 में एक करोड़ 14 लाख टन हो गया । इस्पात का उत्पादन 1 लाख 11 टन था। यूरोप के बाजारों में अमेरिका का इस्पात आने लगा । इस्पात के उत्पादन में वह विश्व का प्रथम देश बन गया था । ड्रेक ने पेन्सिलवानिया में तेल निकालना आरंभ किया । क्लीवलैंड (CleveLand) में अच्छी किस्म का तेल निकाला गया । विद्युत के आविष्कार ने फैक्टरियों के विकास में महान सहयोग दिया । 1890 तक अमेरिका में इतने कारपोरेशन (Corporation) स्थापित हो गये कि वे देश में तीन-चौथाई माल का उत्पादन करने लगे ।

1902 में कोयले की खानों के मजदूरों ने हड़ताल करके अपनी सरकार को उदार नीति पर चलने को बाध्य कर दिया । 1905 में अमेरिका में इन्डस्ट्रियल वर्कर्स ऑफ द वर्ल्ड (Industrial Workers of the World) नामक एक नवीन श्रमिक संघ स्थापित हुआ। इसके परिणामस्वरूप सरकार को पूंजीपतियों की अपेक्षा श्रमिकों के प्रति अधिक उदार नीति अपनानी पड़ी । इसके परिणामस्वरूप अमेरिका के औद्योगिक विकास में और तीव्रता आई । औद्योगिक तथा कृषि उत्पादन में अमेरिका विश्व का प्रधान देश बन गया । यूरोप व एशिया के बाजारों में वह छाने लगा । 1917 तक वह नई दुनिया में तो औद्योगिक क्षेत्र में प्रथम देश बन गया परंतु ब्रिटेन को वह पूरी तरह मात नहीं दे सका और जर्मनी भी उसे बार-बार चुनौती देता रहा ।

19.4.2.2.5 जापान-

जापान भी आज विश्व का प्रमुख औद्योगिक देश बना हुआ है । इसने इस क्षेत्र में बीसवीं सदी के प्रारम्भ में प्रमुख रूप से प्रवेश किया । प्रारम्भ में तो चीन की भांति जापान ने

भी यूरोपीय तौर-तरीकों तथा मशीनों का विरोध किया परन्तु पाश्चात्य प्रभाव से मुक्ति पाने का साधन भी उसे पश्चिमी मशीनों के उपयोग में ही दिखाई दिया । मुत्सोहितो (Mutsuhito) ने अपने शासनकाल (1868-1912) में जापान का आधुनिकीकरण करके उसे औद्योगिक क्षेत्र में अग्रसर बना दिया ।

जापान का क्षेत्रफल कैलिफोर्निया से भी कम है; परन्तु जनसंख्या में वहां भी वृद्धि तीव्र गति से हुई । 1852 में उसकी आबादी 27,000,000 थी जबकि 1910 में बढ़कर वह 49,700,000 हो गई । इसके आलावा वहां जो भूमि है वह भी समतल नहीं है । पहाड़ी भागों पर आधुनिक कृषि यंत्रों का भी प्रयोग सुगमता से नहीं किया जा सकता । रेशम व चाय वे अवश्य उत्पन्न करते थे । परन्तु जापान की खाद्य फसल चावल है । इस कारण जापान निवासियों के समक्ष खाद्य समस्या बनी रही । प्राकृतिक साधनों से भी जापान सम्पन्न नहीं था । इन कठिनाइयों के होते हुए भी जापान ने औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश किया । प्रथम उसने यातायात के साधनों को विकसित किया । इसके उपरान्त मशीनों का निर्माण कराया । परिणामत: 1890 में जापान ने औद्योगिक क्षेत्र में अच्छी प्रगति की । 1894 में चीन को परास्त कर वहां से उसने कच्चा सामान प्राप्त किया । 1910 में कोरिया को अधिनस्थ कर कच्चे सामान के अभाव को उसने पूरा किया और अपना उत्पादन बढ़ा कर कोरिया (Korea) को ही अपना अच्छा बाजार बना लिया । पश्चिमी ढंग पर बैंक तथा मुद्रा की प्रगति की गई । परिणामत: प्रथम विश्व के पूर्व तक जापान उद्योगीकरण में इतनी प्रगति कर गया कि वह पूर्वी ब्रिटेन (Britain of the East) कहा जाने लगा । इस प्रकार एशिया महाद्वीप में वह प्रथम श्रेणी का औद्योगिक देश बन गया । इस औद्योगिक विकास में वहां के पूंजीपतियों ने भी बड़ी भूमिका निभाई ।

12.4.3.0 राजनयिक (Diplomatic) क्षेत्र :

यूरोपीय देशों के राजनयिक संबंधों का उल्लेख भी हम यहां दो कालों में विभक्त करके करना चाहेंगे-प्रथम काल 1815 से 1870 तक । व दूसरा काल 1870 से 1914 तक ।

12.4.3.1 प्रथम काल (1815-1870) -

1815 का वर्ष यूरोप में नैपोलियन बोनापार्ट की पूर्ण पराजय से प्रारम्भ हुआ । उसके विजित महान साम्राज्य के भाग्य का फैसला करने विएना में यूरोप की चार महान शक्तियां एकत्रित हो चुकी थीं । वे चार शक्तियां थीं - इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, रूस व प्रशा । इंग्लैण्ड के विदेश मंत्री लार्ड कैसलरे के प्रयासों से चोमौंट (Treaty of Chaumont, 1814) की संधि सम्पन्न हुई थी । प्रारंभ में कैसलरे व आस्ट्रिया के चांसलर मैटरनिख के संबंध अच्छे रहे और इन दोनों के संयुक्त प्रयासों से रूस के साम्राज्यवादी इरादों पर अंकुश लगा रहा । रूस का नेपोलियन को परास्त करने में बड़ा हाथ था । अत: 1815 के उपरांत वह अपने आपको यूरोप का एक शक्तिशाली राष्ट्र समझता था । प्रशा प्रथम तो रूस के प्रभाव में रहा और बाद में 1848 तक वह आस्ट्रिया के प्रभाव में रहा । 1822 के उपरान्त इंग्लैण्ड व आस्ट्रिया के संबंध बिगड़ने लगे ।

आस्ट्रिया का चांसलर मैटरनिख एक महत्वाकांक्षी तथा प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञ था । जब उसने स्वतंत्रता व राष्ट्रीयता की भावनाओं का दमन करने हेतु दूसरे देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना आरम्भ किया तो इग्लैण्ड मैटरनिख की नीति का कट्टर विरोधी हो गया । कैसलरे और रूस के सम्राट अलजेक्जेण्डर प्रथम की सहमति से फ्रांस को 1816 में ही विएना कांग्रेस का सदस्य बना लिया गया था, फ्रान्स 1848 तक मैटरनिख की उपस्थिति में स्वतंत्र नीति पर आचरण नहीं कर सका । वह कभी इंग्लैण्ड का समर्थन करता तो कभी मैटरनिख का । 1848 की क्रांति के उपरान्त मैटरनिख युग (Metternich Era) हाथ का अवसान हो गया । मैटरनिख के पतन के साथ ही इटली व प्रशा में राष्ट्रवाद प्रबल हो गया और 1870-71 में उन दोनों देशों का एकीकरण हो गया । उनके एकीकरण के साथ ही यूरोप में दो शक्तियों का उदय हो गया । 1870 तक कोई भी देश इतना शक्तिशाली नहीं था जो यूरोप की शांति को भंग कर सकता था ।

12.4.3.2 दूसरा काल (1871-1914) -

इस काल में आस्ट्रिया शक्तिशाली देश नहीं रहा था । फ्रांस को नेपोलियन तृतीय ने शक्तिशाली बनाने का प्रयास अवश्य किया था । 1856 में क्रिमिया-युद्ध के संदर्भ में पेरिस में एक सम्मेलन का आयोजन करके उसने यूरोप की राजनीति में भी आने का प्रयास किया था । परन्तु 1870 में जब वह सेडान (Sedan) के युद्ध में प्रशा से परास्त हो गया तो वह यूरोप का पुन: एक निर्बल राष्ट्र बन गया ।

बिस्मार्क ने जर्मनी का एकीकरण फ्रांस को परास्त करके ही पूर्ण किया था । इस विजय के फलस्वरूप बिस्मार्क फ्रांस के एल्मेस (Alsace) और लोरेन (Lorraine) प्रदेश भी लेने में सफल हो गया था । ये दोनों प्रदेश प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न थे । इस कारण इनके चले जाने से फ्रांस के औद्योगिक विकास को महान आघात पहुंचा । उधर कूटनीतिज्ञ एवं दूरदर्शी बिस्मार्क इस तथ्य को भांप गया था कि फांस को यूरोप की राजनीति में अकेला रखने व जर्मनी की स्थिति को सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से उसने निम्न कूटनीतिज्ञ संबंध स्थापित किये-

(1) 1873 में उसने तीन सम्राटों का एक संघ बनाया । इस संघ के सदस्य रूस, जर्मनी व आस्ट्रिया के सम्राट थे ।

(2) 7 अक्टूबर, 1879 को उसने आस्ट्रिया के साथ एक समझौता किया । इस समझौते के सम्पन्न हो जाने से आस्ट्रिया व जर्मन राज्यों का एक ऐसा गुट बन गया जो हर तरह से अपनी रक्षा करने में समर्थ था । यह संधि बिस्मार्क-व्यवस्था की सबसे प्रमुख अंग थी और इससे 1918 तक आस्ट्रिया जर्मनी का मित्र बना रहा।[1]

(3) त्रिगुट का निर्माण - इटली को फ्रांस की मित्रता से वंचित करने की दृष्टि से बिस्मार्क ने 1882 में एक त्रिगुट (Triple Alliance) संघ का गठन किया । इसके सदस्य थे - इटली, जर्मनी और आस्ट्रिया । इस संधि के संदर्भ में लैंगर ने लिखा, है कि इस मैत्री से आस्ट्रिया और

1 Lauger - “European Alliances and Allignment” .p. 268.

जर्मनी को यह निश्चय हो गया कि इटली उनके विरोधी राज्यों से मित्रता नहीं कर सकेगा और आस्ट्रिया व रूस के मध्य युद्ध होने पूर वह पीछे से आस्ट्रिया पर आक्रमण नहीं कर सकेगा ।

इस प्रकार बिस्मार्क ने अपनी कूटनीति से यूरोप की राजनीति को अंतर्राष्ट्रीय बनाने का प्रयास किया । वह अपने इन राजनयिक संबंधों से फ्रांस को यूरोप की राजनीति में अकेला बनाने में तो सफल हो गया परंतु अन्य देशों को भी इसी प्रकार की संधियां करने का मार्गदर्शक बन गया ।

यूरोपीय संधियां व समझौते (1890-1907) - उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में बिस्मार्क के त्यग-पत्र (1890) देने पर यूरोप की राजनीति में पुन: बदलाव आया । फ्रांस ने अपना एकाकीपन दूर करने के लिए 1894 में रूस के साथ मित्रता कर ली ।[1] हालांकि आर्थिक दृष्टि से भी रूस फ्रांस को एक भार ही सिद्ध हुआ। परन्तु अफ्रीका के बंटवारे के कारण यूरोप की राजनीति में उस समय तेजी से परिवर्तन आ रहे थे । 1878 के उपरान्त रूस ने मध्य एशिया में बढ़ना आरम्भ कर दिया था । इससे भारत की सुरक्षा को संकट उत्पन्न हो गया था। अत: एशिया में रूस की शक्ति पर अंकुश लगाने की दृष्टि से ब्रिटेन ने 1902 में जापान से मित्रता कर ली । इसके उपरान्त ब्रिटेन ने जर्मनी से मित्रता करने के प्रयास किये । प्रयास में असफल रहने पर उसने 1904 में फ्रांस के साथ मित्रता कर ली । इससे यूरोप में भी ब्रिटेन का एकाकीपन समाप्त हो गया तथा मिस्र पर फ्रांस द्वारा उसका अधिकार मान लिया गया । इस संधि के संदर्भ में मैरियट ने लिखा है, कि वास्तव में यूरोप के राजनयिक इतिहास में इंग्लैण्ड और फ्रांस की सौहार्द मैत्री अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी ।[2] फ्रांस का मित्र पहले ही बन चुका था। अत: फ्रांस के सहयोग से 1907 में ब्रिटेन व रूस (Anglo Russian Convention) में मित्रता हो गई । यह त्रिपक्षीय समझौता बिस्मार्क के त्रिगुट से भी अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। लार्ड ग्रे ने अपने संस्मरण में लिखा है कि आंग्ल-रूसी संधि से रूस की अपेक्षा ब्रिटेन को अधिक लाभ हुआ है । हमने जो पाया वह वास्तविक था ।

इस संधि ने यूरोप को दो सैनिक कैम्पों में स्पष्ट रूप से विभक्त कर दिया । फ्रांस व रूस को इस संधि से मानसिक शांति मिली तो इससे जर्मनी की मानसिक शांति नष्ट हो गई । उधर ब्रिटेन को जर्मनी के साथ मित्रता होने की कोई आशा नहीं रही । परिणामत: अब ब्रिटेन व जर्मनी के मध्य प्रतिस्पर्धा प्रखर हो गई, परन्तु इन यूरोपीय समझौतों में भी ब्रिटेन का ही पलड़ा सर्वाधिक भारी रहा ।

12.4.3.3 मोरक्को संकट -

अफ्रीका के उत्तरी-पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित मोरक्को बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही फ्रांस व जर्मनी के मध्य झगड़े का कारण बन गया था । परन्तु यह संकट केवल फ्रांस व जर्मनी के मध्य तक ही सीमित नहीं रहा । इसने अन्तर्राष्ट्रीय धारण कर लिया । अमेरिका (U.S.A.) को भी इसके समाधान में भूमिका निभानी पड़ी थी । वास्तव में मोरक्को प्रश्न एक वह कसौटी सिद्ध हुआ जिस पर कि अब तक यूरोपीय देशों में चली आ रही सर्वोच्चता की प्रतिस्पर्धा की सच्ची परख हो गई ।

1905 में जब रूस मुकडन के युद्ध में जापान से परास्त हो गया तो फ्रांस को उसकी सहायता से वंचित समझ जर्मनी के सम्राट ने 31 मार्च 1905 को मोरक्को के बन्दरगाह टेन्जियर (Tanzier) पर अपना जहाजी बेड़ा भेज दिया । इंग्लैण्ड से सैनिक सहायता मिलने की दिशा में अधिक आशावान न होने के कारण फ्रांस के प्रधानमंत्री रूवियर (Rouvier) ने अपने विदेश मंत्री देलकास (Delcasse) के त्याग-पत्र की भी चिन्ता न करते हुए जर्मनी के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग को स्वीकार कर लिया । यह सम्मेलन 16 जनवरी, 1906 को एलजेसिराज (Algeeiras) में आयोजित हुआ। इसमे 13 राज्यों ने भाग लिया । इसमें जर्मनी को केवल आस्ट्रिया का समर्थन मिला । उसके मित्र इटली का भी समर्थन उसे न मिल सका । उधर इंग्लैण्ड की तरफ से फ्रांस को पूरा समर्थन मिल गया था । इसीलिए इस सम्मेलन की सफलता पर प्रोफेसर ब्रेन्डनबर्ग ने लिखा है : 'मोरक्को के संकट और एलजेसिराज सम्मेलन ने त्रिगुट (Tripple Alliance) को और निर्बल बना दिया, किन्तु उसने द्विगुट (Dual Entente) को किसी प्रकार हानि पहुंचाए बिना फ्रांस और इंग्लैण्ड की मित्रता को सुदृढ़ बना दिया।'[1]

एलजेसिराज सम्मेलन में मात खाने के उपरान्त भी जर्मनी ने कोई सबक नहीं सीखा । 1911 में मोरक्को प्रश्न पर जर्मनी ने अगादीर में अपना जहाजी बेड़ा पुन: भेज दिया । इस समय फेज (Fez) में विद्रोह हो गया था । सुलान हाफीद (Hafid) उसे दबा नहीं सका था । शांति स्थापना के बहाने जर्मनी ने हस्तक्षेप करना चाहा था । परन्तु अब इंग्लैण्ड को जर्मनी की उदीयमान शक्ति बर्दाशत नहीं थी । इसके अलावा इंग्लैण्ड को अब यह शंका और हो गई थी कि जर्मनी मोरक्को में अपना नाविक अड्डा (Naval Base) बनाना चाहता है । अत: इस बार इंग्लैण्ड ने फ्रांस का खुलकर समर्थन किया । जर्मनी ने इंग्लैण्ड से उलझना उचित नहीं समझा और वह जहर की सी घूंट पी कर बैठ गया । मोरक्को प्रश्न पर सिवाय जापान के विश्व की समस्त महान शक्तियां अपना शक्ति-प्रदर्शन को उद्यत हो गई थीं । अत: इस अगादीर संकट (जून, 1911 के संदर्भ में फे (Fay) ने लिखा है : अगादीर संकट के फलस्वरूप जर्मनी और इंग्लैण्ड के बीच में केवल उस समय ही संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई वरन् भविष्य के लिए भी ग्रे (Grey) को यह विश्वास हो गया कि जर्मनी युद्ध करना चाहता है किन्तु इस संकट से फ्रांस और इंग्लैण्ड के संबंध अधिक सुदृढ़ हो गये । फ्रांस ने लायड जार्ज (Lloyd George) के भाषण तथा कूटनीतिक सहयोग के लिए आभार प्रदर्शित किया ।[2]

12.4.3.4 सैनिकवाद -

1871 से 1917 का काल यूरोप के इतिहास में 'सशस्त्र शांति (Armed Peace) का काल माना जाता है । इस अन्तराल में यूरोप के लगभग सभी देश शांति के बहाने अपनी सैनिक वृद्धि में व्यस्त हो गये । उस समय यह आम धारणा बन गई थी कि राज्यों का अस्तित्व सैनिक शक्ति पर ही अवलंबित है । विलियम कैसर तो उग्र राष्ट्रवाद से प्रेरित था ही

1 Fay - “The Origin of the World war” - Vol. I. p. 117

2 Marriot - “Modern England”. p. 216.

वह विश्व-राजनीति में जर्मनी का स्थान महत्वपूर्ण बनाना चाहता था । उधर फ्रांस जर्मनी से बदला लेने को आतुर था । सैनिक शक्ति में वृद्धि करने के साथ-साथ सामरिक शस्त्रों में भी वृद्धि हो रही थी । अत: यूरोप के अधिकांश देश अपनी आय का 25 प्रतिशत सामरिक तैयारी में खर्च करने लगे थे । 1885 में फ्रांस की सेना 5,00,000 थी और जर्मनी की 4,27,000 परन्तु 1905 में फ्रांस की सेना 5,45,000 और जर्मनी की 505,00 हो गई । सिवाय इंग्लैण्ड के सभी यूरोपीय देशों में सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई ।

12.4.3.5 आंग्ल-जर्मन नाविक प्रतिस्पर्धा -

स्पेन के अजय आरमेड़ा (Invincible Armeda) को 1588 में परास्त कर इंग्लैण्ड ने यूरोप में अपनी सामुद्रिक शक्ति को प्रथम बना ली थी । 19वीं सदी के अन्त तक उसकी इस शक्ति को किसी देश ने चुनौती नहीं दी परन्तु बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही विलियम द्वितीय ने अपनी सामुद्रिक शक्ति में वृद्धि कर इंग्लैण्ड के आगे एक महान समस्या खड़ी कर दी । इंग्लैण्ड का विश्व में विशाल साम्राज्य उसकी सामुद्रिक शक्ति के सहारे ही सुरक्षित था । अत: अब जर्मनी के चांसलर बुलो (Bulow) ने कहा कि हमें अपने जहाजी बेड़े को ब्रिटेन की नाविक नीति को देखकर बनाना चाहिए । हम किसी पर आक्रमण करना नहीं चाहते । परंतु हम हमारी उपेक्षा भी नहीं देख सकते । अत: वान-तिरविट्ज (Von Tirpitz) के नेतृत्व में जर्मनी का जहाजी बेड़ा बढ़ाया जाने लगा और 1904 में तो वह इंग्लैण्ड के लिए एक चिन्ता का विषय बन गया । 1905 में इंग्लैण्ड ने पुराने जहाजों को समाप्त कर ड्रेडनॉट (Dread Naught) युद्धपोत बनाना आरम्भ कर दिया । ड्रेडनॉट विश्व का सबसे महान तथा सर्वाधिक शस्त्रों से सुसज्जित युद्धपोत था ।

जर्मनी में प्रतिक्रिया - इंग्लैण्ड में जब ड्रेडनॉट युद्धपोत निर्मित होने लगे थे तो जर्मनी चिन्ताग्रस्त हो गया । उसने 1907 में ड्रेडनॉट जहाजों का निर्माण आरम्भ कर दिया । परिणामत: दोनों देशों में सामुद्रिक शक्ति को लेकर होड़ आरम्भ हो गई । 1908 में लॉयड जार्ज ने लन्दन स्थित जर्मन राजदूत मैटरनिख के माध्यम से यह समझाने का प्रयास किया कि यदि जर्मनी अपनी नौसेना में वृद्धि बन्द कर दे तो इंग्लैण्ड उसके साथ मित्रता के संबंध स्थापित कर सकता है । इसके प्रत्युत्तर में विलियम केसर ने लिखा था : इंग्लैण्ड का यह सुझाव कि हमें अपनी नौ-सेना की शक्ति में कमी करनी चाहिए, एक अनावश्यक धृष्टता है और जर्मन राष्ट्र का अपमान करने के समान है ।[1]

इंग्लैण्ड की चिन्ता बढ़ती रही । इसके समाधान हेतु उसने ड्रेडनॉट युद्ध-पोतों का निर्माण जारी रखा । इंग्लैण्ड का जन मानस भी जर्मन विरोधी हो गया । सांसदों के माध्यम से उन्होंने कहलाया कि हमें टैक्स की चिन्ता नहीं । प्रति वर्ष हम आठ ड्रेडनॉट का निर्माण देखना चाहते हैं।[2] स्पष्ट है कि प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व दोनों देशों में नाविक शक्ति के लिए भयंकर प्रतिस्पर्धा

1 Branden Burg-“From Bismarek to the Great War.” p. 188.

2 Fay - “The Origin of the World war” p. 290-91.

मची हुई थी, परंतु युद्ध की समाप्ति ने इंग्लैण्ड की नाविक शक्ति को ही विश्व में प्रथम रखा ।

12.4.4.0 औपनिवेशिक क्षेत्र

नवीन साम्राज्यवाद और अफ्रीका महाद्वीप - नवीन साम्राज्यवाद का विकास 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ और इसके पूर्वार्द्ध में यूरोपीय देश उपनिवेशवाद के प्रति उदासीन बने रहे । परन्तु उदासीनता के दौर में भी ब्रिटेन का साम्राज्य विश्व में सबसे महान था । विश्व के एक चौथाई भाग पर उसका प्रभुत्व था और उसकी नाविक शक्ति के कारण ही वह सुरक्षित बना हुआ था ।

12.4.4.1.0 अफ्रीका का बंटवारा -

अफ्रकिा का बंटवारा 1870 से 1914 के अन्तराल में हुआ । इतिहासकार कैटल्बी नें अफ्रीका के विभाजन को इस काल की एक अत्यन्त असाधारण घटना बताया है ।[1] इसकी असाधारणता दो बातों में लक्षित होती है । प्रथम इस महाद्वीप का बंटवारा बिना किसी युद्ध के हुआ । दूसरे यह बंटवारा: मन्थर गति से न होकर तीव्र गति से हुआ । अफ्रीका में उपनिवेश स्थापित करने सर्वप्रथम जर्मनी व इटली अग्रसर हुए क्योंकि उनके पास कोई उपनिवेश अब तक नहीं थे और 1870 के उपरान्त वहां उग्र राष्ट्रवाद उत्ताल तरंगें मार रहा था । उनको इस ओर उन्मुख होते ही यूरोप के अन्य देश भी इस दिशा में जागरूक हो गए ।

हालांकि दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटेन का प्रभुत्व तो पहले ही स्थापित हो चुका था तथापि इस महाद्वीप के बंटवारे का श्रेय बेल्जियम के सम्राट लियोपोल्ड को जाता है । वह व्यावसायिक प्रवृत्ति का शासक था । डेविड लिविंगस्टन तथा स्टेनली की यात्राओं के वर्णन से उसे अफ्रीका महाद्वीप के विषय में बहुत कुछ जानकारी मिल गयी थी । फिर भी उसने 1876 में स्टनेली को कांगो (Congo) के क्षेत्र में अन्वेषण करने भेजा । स्टेनली की इस यात्रा का परिणाम यह हुआ कि कांगों का बेसिन लियोपोल्ड के प्रभुत्व में आ गया । इस पर फ्रांस ने डि-ब्राजा (De-Braza) को वहां भेजा और फ्रेंच-कांगो (French Congo) स्थापित हो गया । अफ्रीका में इस प्रकार लूट-खसोट होते देख कर पुर्तगाल से भी नहीं रहा गया । उसने इंग्लैण्ड का सहयोग लेकर कांगो में फ्रांस के हस्तक्षेप का विरोध करना चाहा । क्योंकि उस समय इंग्लैण्ड व फ्रांस में बड़ी प्रतिस्पर्धा चल रही थी । उनमें संबंध भी अच्छे नहीं थे । इंग्लैण्ड ने कांगो नदी के मुहाने पर पुर्तगाल का अधिकार स्वीकार कर लिया । इसके बदले पुर्तगाल ने कांगों नदी में सभी देशों को व्यापार करने की स्वतंत्रता प्रदान करने का आश्वासन दिया ।[2] परन्तु जर्मनी, बेल्जियम, फ्रांस व अमेरिका ने पुर्तगाल के इस कार्य का विरोध किया । स्पष्ट है कि अफ्रीका के बंटवारे ने अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को उग्र बना दिया । इस प्रतिस्पर्धा को शांत करने हेतु बर्लिन में 1884

. 1 Fay - "The Origin of the World War". p.239.

. 2 "We want eight and we won't wait."

में एक सम्मेलन आयोजित हुआ। फरवरी 1885 में कुछ निर्णय लिये गए । बर्लिन अधिनियम (Berlin Act.) के अंतर्गत कांगो राज्य (Free Congo State) को मान्यता मिल गई और कांगो नदी में सभी देशों को व्यापार करने की छूट मिल गई ।

बर्लिन निर्णयों का पालन पूरी तरह से नहीं किया गया । यहाँ तक कि बेल्जियम ने उसकी अवज्ञा करते हुए कांगो को बेल्जियम साम्राज्य का अंग बना लिया । 1908 में वहाँ उसने अपना व्यक्तिगत शासन लागू कर दिया ।[3] स्पेन ही एक ऐसा देश रहा जो अफ्रीका के विभाजन में विशेष लाभ नहीं उठा सका । अफ्रीका के पश्चिमी तट पर राय-डी-ओर (Rio-de-ore) का उपनिवेश तथा बीसवीं सदी में मोरक्को में व्यापार करने का उसे अधिकार मिला । इटली भी एक महत्वाकांक्षी देश था । परन्तु अफ्रीका की इस छीना-झपटी में उसे भी विशेष उपनिवेश नहीं मिले । 1911-12 की परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए यह त्रिपोली (Tripoli) व साइरीनिका पर अधिकार करने में अवश्य सफल रहा । ट्यूनिस पर भी वह अधिकार करना चाहता था परन्तु फ्रांस के विरोध के कारण नहीं कर सका । इरीटिया तथा सोमालीलैंड पर वह पहले ही अधिकार कर चुका था ।

12.4.4.1.1 जर्मनी -

अफ्रीका के विभाजन में जर्मनी ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । हालांकि बिस्मार्क उपनिवेशवाद का विरोधी था परन्तु 1884 में उसे भी अफ्रीका के बंटवारे में भागीदार बनना पड़ा। इसका प्रथम कारण देश की बढ़ती आबादी, दूसरा कारण उसे अफ्रीका के अलावा अन्य ऐसा भूखंड दृष्टिगत नहीं हुआ जहां कि वह अपने उपनिवेश स्थापित कर सकता था । तीसरा कारण यह था कि उसके कुछ व्यापारियों ने 1800 में ही जन्जीबार (Zanzibar) में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिये थे । 1884 में कार्ल पीटर्स ने जन्जीबार के सुल्तान से 60,000 वर्ग मील भूमि प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली । 1 इस प्रकार धीरे-धीरे जर्मनी अफ्रीका महाद्वीप में टोगोलैण्ड, कोमरून्स तथा दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका पर अधिकार करने में सफल हो गया था ।

12.4.4.1.2 फ्रांस-

1870 की पराजय के अपयश कोदूर करने व यूरोप में अपने को पुन: एक शक्तिशाली देश सिद्ध करने हेतु अफ्रीका की लूट में फ्रांस ने सक्रिय भाग लिया । परंतु यहां उसे ब्रिटेन से कड़ी टक्कर लेनी पड़ा । वह अफ्रीका के उत्तरी तथा समुद्रवर्ती प्रदेशों में अधिक रुचि रखता था। 1830 में उसने एल्जीरिया पर पहले ही अधिकार कर लिया था । ट्यूनिस उसे इंग्लैण्ड के सहयोग से मिल गया था । परंतु इसके बाद उसे इंग्लैण्ड को साइप्रस (Cyprus) देना पड़ा था।

1 Ketel by - "Attistory of Modiru Times" p. 481 - 82.

2 Cooch - "History of Modern Europe." P. 93.

3 Hayes and Cole - "History of Europe," Vol II p. 381.

मोरक्को उसे 1911 में इंग्लैण्ड के सहयोग से मिल ही गया था । मिस्र में उसकी इंग्लैण्ड से प्रमुख प्रतिस्पर्धा चली । परन्तु 1898 में फशोदा काण्ड (Fashoda event) ने पहले दोनों देशों में कटुता उत्पन्न की । अन्त में दोनों देशों की सूझबूझ से मिस्र की समस्या शांति से हल हो गई । मिस्र पर फ्रांस ने इंग्लैण्ड का अधिकार स्वीकार कर लिया ।

19.4.4.1.3 इंग्लैण्ड -

अफ्रीका के बंटवारे में भी इंग्लैण्ड सर्वाधिक लाभ में रहा । दक्षिण अफ्रीका, रोडेशिया, ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका, युगाण्डा, सोमालीलैण्ड, गेम्बिया, सियस, लियोन, नाइजीरिया आदि पर तो उसका अधिकार पहले ही हो गया था । यदि इन उपनिवेशों में जर्मन-पूर्वी अफ्रीका मिला दिया जाता तो केपटाउन से काहिरा (Cairo) तक ब्रिटिश साम्राज्य विस्तृत हो जाता ।

12.4.4.1.4 आंग्ल-फ्रांस प्रतिस्पर्धा -

अफ्रीका के बंटवारे में दोनों साम्राज्यवादी देश मिस्र में टकराये । 1869 में स्वेज नहर (Suez Canal) का निर्माण हुआ । इस निर्माण कार्य में मिस्र के खदीव (Khedive) को इंग्लैण्ड व फ्रांस से ऋण लेना पड़ा जब खदीव ऋण नहीं चुका सका तो इंग्लैण्ड व फ्रांस दोनों ने अपना संयुक्त नियंत्रण स्थापित कर लिया । खदीव नाममात्र का सुल्तान रह गया । उसने उनके संयुक्त नियंत्रण का विरोध किया । परिणामत: यह वह गद्दी से उतार दिया गया और उसके पुत्र तोफिक को खदीव बना दिया गया । इसके फलस्वरूप मिस्र के समस्त महत्वपूर्ण पदों पर अंग्रेज व फ्रांसीसी नियुक्त कर दिये गये । 1882 में जनता ने कर्नल अहमद अरबी के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया । विद्रोह दबाने के सन्दर्भ में इंग्लैण्ड व फ्रांस के बीच मतभेद हो गया । इंग्लैण्ड विद्रोह को शक्ति से दबाना चाहता था जबकि फ्रांस इसके विरुद्ध था । अंग्रेजों ने अपने सैनिकों की सहायता से विद्रोह दबा दिया और वेलेजली के नेतृत्व में स्वेज नहर पर अधिकार कर लिया । इंग्लैण्ड की इस कार्यवाही से फ्रांस उसका कट्टर प्रतिद्वन्द्वी हो गया ।

12.4.4.1.5. फशोदा काण्ड - सूडान मिस्र के खदीव के प्रभुत्व में ही था । 1884 में सूडान के दरवेशों के नेता मेहदी ने मिस्र के विरुद्ध बगावत कर दी । मिस्र के खदीव ने उसे दबाने हेतु सेना भेजी - परन्तु उसकी सेना परास्त हो गई । इस पर इंग्लैण्ड की सरकार ने जनरल गोर्डन (Corden) के नेतृत्व में मेहदी के विरुद्ध सेना भेजी । परन्तु गोर्डन भी खारतूम (Khartum) के मैदान में परास्त हो गया । गोर्डन तो मारा गया पर अंग्रेजों ने खारतूम पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त कर ली । इसके उपरान्त इंग्लैण्ड ने सूडान की ओर ध्यान नहीं दिया । इंग्लैण्ड की इस उदासीनता का लाभ उठाते हुए फ्रांस ने 1896 में अपने सेनापति मार्चन्द (Marchand) को नील नदी की ऊपरी घाटी पर अधिकार करने भेज दिया । उधर से अंग्रेजी सेना किचनर (kitchner) के नेतृत्व में आ पहुंची। सितम्बर, 1898 में दोनों सेनाएं फशोदा में आमने-सामने हो गई । परन्तु दोनों देशों के विदेश मंत्रियों की सूझ-बूझ से युद्ध टल गया । सूडान पर मिस्र व ब्रिटेन दोनों का संयुक्त अधिकार हो गया । इंग्लैण्ड ने अपनी इस उपलब्धि से भूमध्यसागर तथा काहिरा पर अधिकार कर भारत को सुरक्षित कर लिया ।

12.4.4.2.0 (ब) प्रशान्त सागर में यूरोपीय उपनिवेशों की स्थापना - प्रशान्त महासागर के द्वीपों की भी छीना-झपटी उसी समय आरंभ हो गई थी जबकि अफ्रीका महाद्वीप में लूट-खसोट चल रही थी । इस प्रतिस्पर्धा में बेल्जियम दूर रहा पर संयुक्त राज्य (U.S.A.) नयी शक्ति के रूप में आ कूदा । इस प्रतिस्पर्धा में इंग्लैण्ड, हालैण्ड व फ्रांस प्रथम प्रतियोगी थे । इस क्षेत्र में लूट का लाभ सर्वाधिक इंग्लैण्ड व फ्रांस को ही मिला । 1900 ई0 तक प्रशान्त महासागर के द्वीप किसी न किसी पश्चिमी देश के अधिकार में चले गये । जर्मनी ने 1884 में न्यूगिनी के विशाल भाग पर अधिकार किया । उसकी इस कार्यवाही से इंग्लैण्ड व आस्ट्रेलिया बहुत चिन्तित हुए । ब्रिटेन के विदेश मंत्री ने जर्मनी को सूचित किया कि उस भाग में आस्ट्रेलिया के हित संलग्न हैं । परन्तु जर्मनी ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया और सेमोओ (Samoa Islands) द्वीप समूह के दो महानद्वीपों पर अधिकार कर लिया । यहां अमेरिका (U.S.A.) तथा ब्रिटेन ने उसका विरोध किया । परन्तु जर्मनी ने प्रशान्त महासागर में अपना विस्तारवाद जारी रखा । स्पेन से केरोलीन (Caroline) व मेरियाना (Marriana) के द्वीप खरीद लिए । इस लूट में अमेरिका भी पीछे नहीं रहा । उसने गुआम (Guam) और फिलीपाइन द्वीप ले लिए । 1898 में हवाई द्वीप भी अमेरिका के अधिकार में आ गया । 1900 में जर्मनी से समझौता कर तथा इंग्लैण्ड के सहयोग से सेमोआ के समीप के टुटुइला (Tutuila) और पागो पागों द्वीप भी अमेरिका ने अपने अधीन कर लिए । परन्तु हालैण्ड के पास एशिया के दक्षिण-पश्चिम में पूर्वी इण्डीज के द्वीप समूह उसके साम्राज्य के अंग बने रहे । इस प्रकार प्रशान्त-महासागर के द्वीपों का यूरोपीय देशों व अमेरिका के बीच बंटवारा सम्पन्न हुआ ।

12.4.4.3 (स) रूस का विस्तार - रूस भी 19वीं सदी में यूरोप का एक शक्तिशाली देश था । नेपालियन बोनापार्ट को परास्त करने कें वह अपना योगदान प्रमुख समझता था । इस कारण विएना-कांग्रेस के निर्णयों से वह भी कुछ प्रदेश लेने में सफल हो गया था । परन्तु उसका प्रमुख उद्देश्य आटोमन साम्राज्य को समाप्त कर काला सागर, भूमध्य सागर व पूर्वी यूरोप पर अपना प्रभुत्व जमाना था । क्रीमिया युद्ध के फलस्वरूप आयोजित 1856 के पेरिस सम्मेलन ने उसकी आशाओं पर पानी फेर दिया । 1878 की बर्लिन कांग्रेस ने उसे यूरोप में अपना साम्राज्य विस्तार का इरादा छोड़ने को बाध्य कर दिया । इसके उपरान्त उसका ध्यान मध्य एशिया की ओर गया । उसने फारस व अफगानिस्तान को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाने का प्रयास किया । इससे उसकी ब्रिटेन से प्रतिस्पर्धा पुन: बढ़ गई और यह 1907 के समझौते तक चलती रही ।

12.4.4.4 (द) चीन में लूट-खसोट - सुदूर पूर्व में यूरोपीय देशों ने चीन की निर्बलता का लाभ उठा कर उसके विभिन्न महत्वपूर्ण प्रदेशों पर अधिकार करने के प्रयास आरंभ कर दिये । यहां की लूट में भी ब्रिटेन ही अग्रिम रहा । प्रथम अफीम युद्ध (Opium War, 1840-42) में उसने चीन को परास्त कर हांगकांग (Hongkong) पर अधिकार कर लिया । इसके उपरान्त इंग्लैण्ड व फ्रांस ने मिलकर चीन को टिन्टसिन (Tientsin) की संधि करने को बाध्य किया । इस संधि के अन्तर्गत ब्रिटेन, फ्रांस व रूस ने चीन के ग्यारह बन्दरगाहों में विशेषाधिकार प्राप्त

कर लिए । 1882 में फ्रांस ने कोचिन-चायना पर अपना संरक्षण स्थापित किया तथा अनाम और टेनिकन पर अधिकार कर लिया । चीन के लूट से पश्चिमी राष्ट्र कभी तुष्ट नहीं हुए । प्रथम विश्व-युद्ध ने उनकी इस विस्तारवाद की नीति पर कुछ अंकुश लगाया ।

12.4.4.4.0 जापान का लूट-खसोट में सम्मिलित होना - उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में जापान भी उपनिवेश स्थापित करने को तड़फड़ाने लगा । वह चीन में पश्चिमी देशों के करिश्में देश कर स्वयं भी चीन की लूट में भागीदार बनने को उत्सुक हो गया । 1895 में उसने चीन को परास्त कर पोर्ट-आर्थर (Port Arthur) और ल्योतुंग प्रायद्वीप (Liotung) को हथिया लिया । इसके अलावा चीन को कोरिया पर अपने प्रभुत्व का परित्याग करना पड़ा ।[1] 1905 में जापान ने रूस को परासत कर दिया । कोरिया में जापान के प्रभाव को रूस ने भी स्वीकार कर लिया और 1910 में जापान ने पूर्णत: कोरिया को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया तथा सखालीन का दक्षिणी आधा भाग उसने और प्राप्त कर लिया । जापान की साम्राज्यवादी सुधा यहीं शांत नहीं हुई । उसने प्रथम विश्व युद्ध में भी चीन के कई प्रदेश अपने अधिनस्थ कर लिए ।

निष्कर्ष : उपर्युक्त घटनाओं से स्पष्ट होता है कि 19वीं सदी के अन्त तक यूरोपीय शक्तियों ने अफ्रीका तथा एशिया महाद्वीपों में बड़े पैमाने पर बंटवारा किया इस बंटवारे के संदर्भ में प्रोफेसर रोबिन्सन ने लिखा है कि यह तथाकथित नव साम्राज्यवाद वास्तव में यूरोपीय राज्यों में पिछले (18वीं सदी के) साम्राज्यवादी विस्तार का एक साधारण-सा परिणाम-मात्र था ।[1] परन्तु अफ्रीका व एशिया का बंटवारा यूरोपीय शक्तियों ने बड़े पैमाने पर किया और बीसवीं सदी के लिए विशेष प्रदेश नहीं छोड़े । उत्तरी-पश्चिमी अफ्रीका में मोरक्को, एशिया में चीन तथा मध्य एशिया में फारस व टर्की शेष रहे थे । प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति तक इनका बंटवारा भी हो गया । परंतु चीन का पूरा बंटवारा जापान के अभ्युदय के कारण नहीं हो सका क्योंकि बीसवीं सदी के आरम्भ से ही उसने पश्चिमी शक्तियों के हस्तक्षेप को चुनौती देना आरंभ कर दिया था । वह विश्व की महान शक्ति माना जाने लगा गया था।[2] फारस का बंटवारा रूस व ब्रिटेन की प्रतिस्पर्धा के कारण रुक गया । मोरक्को विवाद का हल तो ढूंढ लिया गया था - परन्तु पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों की प्रतिस्पर्धा रूकी नहीं और इस प्रतिस्पर्धा के अन्तराल में ही प्रथम विश्व-युद्ध हो गया । यह प्रथम विश्व-युद्ध विश्व की शक्तियों की प्रतिस्पर्धा का प्रत्यक्ष परिणाम था । निःसंदेह इस दीर्घकालीन महान स्पर्धा का मूल कारण नवीन साम्राज्यवाद ही था और दूसरा था औद्योगिक विकास । अन्य प्रेरक तत्व इन दो के ही सहायक तत्व थे । इस प्रतिस्पर्धा का विशाल क्षेत्र भी साम्राज्यवाद व औद्योगिक विकास के कारण ही सृजित हुआ था। इस स्पर्धा के दीर्घ-काल में विश्व देशों में अनेक उत्थान व पतन लक्षित हुए । बीच-बीच में अनेक आशंकाएं भी उत्पन्न होती रहीं । परंतु प्रथम-विश्व युद्ध की समाप्ति पर ब्रिटेन ही विश्व

.1 “New Cambridge Modern History”. p. 639.

.2 Mowat - “contemporary Europe and Overseas”, p. 137.

की सर्वोच्च शक्ति के रूप में सर्वमान्य हुआ और उसका साम्राज्य ही विश्व में सबसे विशाल रहा।

12.5.0 सन्दर्भ ग्रंथ

1- Schuman : 'International Politics'

2- E.H.Carter "History of Britain."

3- Slosson : 'Europe Since 1870'.

4- Langer : 'European Alliances and Allignments.'

5- Marriot : 'Europe and Beyond.'

6- Hayes and cole : "History of Europe."

7- David Thomoson : "Europe Since Napolean."

8- Fay : 'The origins of the World War.'

9- Marriot : 'Modern England.'

10- Ketelbey : 'History of Modern Times."

11- Gooch : 'History of Modern Europe.'

12- Moon : 'Imjperialism and world Politics.'

13- Herbert H. Clide : 'Far East.'

14- New Cambridge Modern History.

15- Mowat : 'Contemporary Europe and Over Seas.'

12.6.0 बोध प्रश्न

1- 1815 से 1870 के काल को उपनिवेश विस्तार के संदर्भ में उदासीनता का काल स्वीकार करना कहां तक न्यायोचित है?

2- 'विश्व के देशों में प्रतिस्पर्धा भावना मूल रूप से उनके औद्योगिक विकास के कारण उत्पन्न हुई ।' इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए ।

3- अफ्रीका का बंटवारा किन परिस्थितियों में हुआ? उसका विश्व सर्वोच्चता की प्रतिस्पर्धा में क्या भूमिका रही?

4- "चीन का बंटवारा भी संभवतया अफ्रीका महाद्वीप की भांति ही हो जाता पर ऐसा जापान के अभ्युदय के कारण नहीं हो सका ।" इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए ।

5- "यूरोप में जर्मनी तथा एशिया में जापान औद्योगिक क्षेत्र में ब्रिटेन की सर्वोच्चता को चुनौती देने वाले देश सिद्ध हुए ।" सिद्ध कीजिए ।

इकाई - 13

सुदूर पूर्व में जापान का उत्थान

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 जापान का पश्चिम से व्यापक सम्पर्क

13.3 शपथ पत्र

13.4 महत्ता

13.5 आधुनिकीकरण का प्रारम्भ

13.5.1 शिक्षा

13.5.2 अर्थव्यवस्था

13.5.3 सेना का आधुनिकीकरण

13.6 शक्तिशाली जापान द्वारा सैनिक साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का प्रकटीकरण कोरिया

13.6.1 शिमोनोसेकी की संधि

13.6.2 परिणाम

13.6.3 त्रिपक्षीय हस्तक्षेप

13.7 रूस जापान युद्ध 1904-1905

13.7.1 कोरिया में रूस और जापान

13.7.2 मंचूरिया में रूस जापान के स्वार्थ

13.7.3 पोर्टस माऊथ की संधि,

13.7.4 परिणाम

13.7.5 आंग्ल जापानी समझौता 1902 ई0

13.8 जापानी साम्राज्यवाद तथा प्रथम विश्व युद्ध

13.9 साम्राज्य प्रसार के कारण

13.10 फारमोसा पर प्रभुत्व

13.11 कोरिया पर प्रभुत्व

13.12 मंचूरिया में जापान

13.13 इक्कीस मांगे

13.14 बोध प्रश्न

13.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप निम्न पक्षों की जानकारी पा सकेंगे ।

1. एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में जापान का उत्थान

2. जापान के आधुनिकीकरण का प्रारम्भ

3. जापान की अर्थव्यवस्था

4. रूस-जापान संघर्ष

सुदूर पूर्व में जापान का उत्थान

13.1 प्रस्तावना

जापान का एक आधुनिक, शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उत्थान एक विस्मयकारी तथा प्रेरणादायक घटना है । दो दशकों के अल्पकाल में सामंती, मध्ययुगीन राज्य से आधुनिक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में जापान का रूपान्तर समझने के लिए जापानी समाज का संक्षिप्त वर्णन करना होगा ।

जापान का क्षेत्र उत्तर में कामयाटका से लेकर दक्षिण में फारमोसा तक विस्तृत द्वीप श्रृंखला का सबसे बड़ा समूह था । कोरिया और सखालीन से आने वाली जाति तत्वों से मिलकर जापानी बनें । कोरिया और चीन से जापान को अपनी संस्कृति मिली । यह देश ज्वालामुखी पहाड़ी होने के कारण कोई भी 'ब्लेक वेव' (काली धारा) इस देश की जलवायु पर पूर्ण रूप से अपना प्रभाव नहीं डाल पायी । यह धारा उसी तरह जैसे दक्षिणी पूर्वी अमेरिका के लिए खाड़ी धारा (गल्फ स्ट्रीम) वरदान है । पर्वतों की अनेक चोटियाँ देश को छोटी-छोटी घाटियों में विभाजित करती है । जापान में अनेक छोटी-छोटी नदियां है । जापान में अनेक बन्दरगाह होने के कारण उसका व्यापार लगभग प्रत्येक देश में है ।

जापानी समाज मुख्यत: दो भागों में विभाजित था - शासक और शासित । शासक वर्ग में उच्च नागरिक अधिकारियों का अहलकारी समाज आता था । शासक वर्गों में सैनिक शासक शनै: शनै: बलशाली होते गये । मध्ययुग में बलशाली सामंतों ने सत्ता पर प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से अपना अधिकार स्थापित करा लिया । यह सामन्ती सरदार सम्राट पर नियंत्रण रखने का प्रयास किया करते थे । सन् 1192 ई0 के बाद सम्राट एक के बाद दूसरे दाइमियों या सामन्तों के हाथ की कठपुतली बने रहने लगे थे । सम्राट को कभी-भी उसे उसके पद से नहीं हटाया गया किन्तु कुशल दाइमों को शोगून का पद और उपाधि देने को बाध्य थे । शोगून का अर्थ था - बर्बों का दमन करने वाला सवोत्तम सेनानायक । तभी से जापान की सरकार का स्वरूप सैनिक बन गया ।

12वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में शोगुन वास्तविक शासक हो गया था । सबसे पहले शोगुन 'कामाकुरा' वंश से बना और 150 वर्षो तक उसने देश को कुशल शासन व्यवस्था प्रदान की । सम्राट और शोगुन में अपने-अपने अधिकारों के प्रयोग करने पर आपस में झगड़े हुए । इस प्रकार शोगुन प्रणाली एक कुल से दूसरे कुल में पहुंचती रही । सन् 1603 ई0 में सम्राट ने ईयाशू के हाथ में सत्ता देकर शोगुन नियुक्त किया । ईयाशू टोकूगावा श्रृंखला में प्रथम व्यक्ति था जिसने 1867 ई0 तक जापान पर लगातार ढाई सौ वर्षो तक शासन किया । तोकूगावा ईयाशू ने वेदो नामक नगर बसाया जो बाद में टोकियो हो गया ।

जापान का योद्धा वर्ग समूराई था । इस वर्ग का कभी-कभी देश अथवा स्वामियों के हितों की रक्षा के लिए युद्ध में जाना होता था, शेष समय खाली बैठकर उनका भरण पोषण

किया जाता था, सन् 1853 ई0 तक समुराई बहुत अधिक विशेषाधिकारों व सुविधाओं का देश बुन गया था क्योंकि अपनी सत्ता संगठित करने के बाद तोकूगावा कुल ने जापान की भीतरी व बाह्य शांति भी स्थापित की थी और इस प्रकार समुराई की विशिष्ट योग्यताओं तथा प्रशिक्षण पर अनावश्यक रूप से अधिक निर्भरता होने लगी थी । कालान्तर में यही समुराई वर्ग जापानी आधुनिकीकरण की आधार शिला बना ।

तोकूगावा काल से पूर्व जापान की अर्थव्यवस्था उज्जवल थी । दाईमयों समुराई तथा अन्य वर्गों की आय वहां प्रचलित सिक्कों में नहीं बल्कि चावल के परिमाण से नापी जाती थी । धन- सम्पत्ति का माप चावल था क्योंकि भोजन व विनिमय दोनों का सबसे अधिक महत्व चावल ही था लेकिन जैसे धातु, द्रव्य जनता के आर्थिक जीवन में प्रवेश पाने लगा विनिमय के माध्यम के रूप में चावल का उपयोग कम होने लगा और सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक पहुंचते-पहुंचते चावल का यह प्रयोग पूर्णत: लुप्त हो गया ।

आधुनिक युग से पूर्व चीन और जापान की संस्कृति व सामाजिक संगठन में अनेक समान और विपरीत दोनों ही लक्षण थे । आधुनिक युग में जापानी संस्कृति का अधिक प्रभाव था । दोनों देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ जिसमें शिन्तोवाद (देवताओं का मार्ग) का स्थान ले लिया गया । टोकूगावा शोगून कन्फयूशियस के ग्रंथों के अध्ययन को प्रोत्साहन देते थे । लेकिन शासक वर्ग बौद्ध धर्म के भी संरक्षक थे । सामान्य जनता में बौद्ध धर्म ही प्रचलित था । कन्फ़ूशियस-वाद का उस पर कोई प्रभाव नहीं था । जापान पर चीनी संस्कृति का कोई प्रभाव नहीं था । पड़ोसी देशों और यदा-कदा जापान में रोमन कैथोलिक धर्म प्रचारकों के क्रियाक्लापों ने जापानी शासन को विदेशियों से संशकित कर दिया, दोहरी निष्ठा जापानी राष्ट्रवाद और शासन को असह्य थी ।

जापान को 'सन्यासी राज्य' कहा जाता है क्योंकि इस का बाह्य संसार से सम्पर्क नहीं था । सत्रहवीं शताब्दी में ईसाई धर्म निषिद्ध घोषित कर दिया गया अर्थात् जापानियों का विदेशियों से सम्पर्क रोक दिया गया । जापानी जहाज विदेश जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया । इस प्रकार जापान के दरवाजे सन् 1636 ई0 में बन्द कर दिये गये । जो विदेशी रह गये थे उनको देश से बाहर निकाल दिया गया । सन् 1641 ई0 में डचभी नागासाकी बन्दरगाह से निकाल दिये गये । इसी तरह सारे सम्पर्क तोड़ दिये गये और अपने को अलगाववाद में रख लिया गया । यद्यपि बाह्य संसार सेजापान अलग-थल पड़ गया था फिर भी जिज्ञासु समुराई वर्ग के लोग देशिमा के बन्दरगाह पर लंगर डालने वाले विदेशी जहाजों में रात्रि के अन्धकार में सम्पर्क करते थे । लुक-छिप कर पश्चिमी ज्ञान की कुछ किरणें जापान में आती रही । दो सौ वर्षों से अधिक तक जापान का संसार से और यहां तक अपने पड़ोसियों देश चीन तथा कोरिया से भी कोई सम्पर्क नहीं रहा ।

शोगून की शक्ति कम होने से अन्य बलशाली कुलों की शक्ति बढ़ने लगी, इन कुलों की शक्ति बढ़ने से तोकूगावा कूल के आदेशों के पालन में अनिच्छा प्रकट होने लगी और प्रान्तों में भी स्वतंत्रता की ओर पग बढ़ने लगे । सन् 1853 ई0 तक केन्द्रीय शासन की निर्बलता इस सीमा तक थी कि विद्रोह के सफल होने की पूर्ण संभावना थी शोगूनों ने शिक्षा और संस्कृति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया । छात्रों को शास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन कराने से पुरातन धर्म

शिनतोवाद का फिर से उत्थान हुआ । सन् 1715 ई0 में विस्तृत इतिहास लिखा गया जिससे प्रकट हुआ कि जो मूलत: सम्राट के अधिकार थे, उन्हें शोगूनों ने हड़प लिया था । इस प्रकार शोगून संस्था के प्रति निष्ठा व सम्मान में कमी आई ।

परिवर्तनों को रोके रखना इतना आसान नहीं होता । यद्यपि बाहय लगाव बन्द कर दिये गये थे, लेकिन जापान के अन्दर ही परिवर्तन काम कर रहा था । अन्य देशों की भांति यहां की सामन्ती प्रणाली आर्थिक तबाही की तरफ जाने लगी । शोगन शासन का प्रमुख होने के कारण इसका शिकार बनने लगा । शिन्तो पूजा के कारण सम्राट का आदर होने लगा क्योंकि उसे सूर्य वंश का माना जाता था । इसलिए असंतोष के कारण राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हुई और इसी भावना ने जिसकी नींव अर्थव्यवस्था के खंडहरों पर थी वास्तव में परिवर्तन लाने वाली और जापान के द्वार बाहय संसार के लिए खोलने वाली बन गई ।

पश्चिमी संसार के देशों ने जापान का द्वार खोलने का बहुत प्रयत्न किया था लेकिन सब विफल रहा । 19वीं सदी के मध्य में अमेरिका ने इस ओर रुचि ली क्योंकि उसका व्यापार चीन से खुला था । रसद लेने के लिए जापानी बन्दरगाह जरूरी थे इसलिए पेरी के नेतृत्व में एक अमेरिकन दस्ता 1853 ई0 में राष्ट्रपति फिलमौर का पत्र जापान लेकर आया । जापानियों ने भॉप से चलने वाले जहाजों को सबसे पहले देखा । शोगून दो बन्दरगाहों को खोलने के लिए राजी को गया । जब रूसियों, डचों तथा अंग्रेजों ने सुना तो उन्होंने भी शोगून से इसी तरह की सन्धियां की । इस तरह फिर जापान के द्वार बाहय जगत के लिए खुल गये । जापान में अमेरिकन कमाण्डर पेरी के अभियान के उद्देश्य निम्नलिखित थे -

(1) अगर कोई अमेरिकी जहाज जापान के समुन्द्र तट पर टूट जाता है तो उसके नागरिकों तथा यात्रियों को जापान आश्रय देगा ।

(2) जापान के बन्दरगाहों से कोयला, जल व खाद्य सामग्री आदि प्राप्त करने की अनुमति प्रदान करेगा ।

(3) जापान के बन्दरगाह अमेरिकन व्यापार के लिये खोल दिये गये ।

पेरी पुन: फरवरी- 1854 ई0 में जापान आ धमका और याकोहामा में लंगर डाल दिया। इस बार उसका भव्य स्वागत हुआ और उन्हीं शर्तों पर संधियां हुई जिन शर्तों को वह चाहते थे। नागासाकी के अतिरिक्त दो बन्दरगाह (शिमोडा तथा हैकोडेट के बन्दरगाह) और खुलने के लिए तय पाये गये । शिमोडा में एक वाणिज्य दूत का निवास स्वीकार कर लिया गया । इस अभियान की सफलता का लाभ उठाकर अन्य देशों ने भी सन्धि कर ली । हंग्लैण्ड ने सन् 1854 ई0, रूस ने 1855 ई0 तथा फ्रांस ने तथा इंग्लैण्ड ने 1855-57 ई0 में संधियाँ की । इस प्रकार पश्चिमी प्रवेश,प्रसार और प्रभाव के लिए जापान के दरवाजे खुल गये ।

13.2 जापान का पश्चिम से व्यापक सम्पर्क

कानागावां की संधि के द्वारा अमेरिका को अपने प्रतिनिधि भेजने तथा रहने का अधिकार दिया गया और टाऊन सैन्ड हैरिस को प्रथम दूत बनाकर भेजा गया । हैरिस 1856 ई0 में जापान पहुंचा तो वहां पर विदेश विरोधी भावना बड़ी उग्र थी लेकिन बड़ी कुशलता के साथ हैरिस ने जापानियों के साथ राजनैतिक संबंध स्थापित किये । जापानियों को भी यह

अनुभव हो गया कि विश्व की बदलती परिस्थितियों में जापान के लिए पाश्चात्य देशों से पृथक रहना असंभव था और जापान को यह विचार तुरन्त समझ में आ गया कि 'मैत्री और सद्भाव ही अधिक उचित है' ।

जापान के द्वार खुलने के बाद दूसरा कदम जुलाई 29, 1858 ई0 में उठाया गया जब एक नई संधि की गई जिसके अन्तर्गत चार बन्दरगाह (कनागावा, नागासाकी, निगेता और हैयोगो) व्यापार के लिए खोल दिये गये । अमेरिका ने जापान को आश्वासन दिया कि अगर किसी भी राष्ट्र से झगड़ा होने पर अमेरिका जापान की मदद करेगा । जापान में होने वाले आयात-निर्यात की शुल्क-दर निश्चित की गई । विदेशी मुद्रा का भी जापान में प्रवेश हो सकेगा, जापानी मुद्रा का निर्यात भी हो सकेगा । व्यापार के निर्मित नागरिकों पर अमेरिकी कानून ही लागू होंगे । उनके अभियोगों का फैसला अमेरिकी अदालतें ही करेंगी ।

जापान के द्वार खुलना शोगुन तथा सरकार के लिए समस्या थी क्योंकि जापान में दाईमयों और समुराई वर्ग आपस में विभाजित थे । समुराई वर्ग विदेशियों के विरुद्ध था और दाईमयों के पक्ष में थे । जबकि अलगाव की नीति को आरम्भ करने वाले तोकूगावा शोगून ही थे और यह राष्ट्रीय नीति भी बन चुकी थी । सम्राट ने भी इसे अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी थी । सम्राट प्राचीन अलगाव नीति का समर्थक था । शोगून का सेना पर अधिक प्रभाव नहीं रहा था और दिन प्रति-दिन उसकी शक्ति का ह्रास हो रहा था । पेरी की मांगो को शोगून ने दाईमयों के पास भेज दी थी जिस पर काफी वाद-विवाद और आलोचना हुई और शोगून को इस स्थिति को नियंत्रण करने में असमर्थ समझा गया । लेकिन इसी बीच कुछ घटनाएं घटी जिसमें विदेशी संबंधों तथा आन्तरिक राजनीति को प्रभावित किया । शोगन के शत्रु, सत्सुमा तथा चोश वर्गों ने अच्छा अवसर समझा कि शोगन की इस दुर्बलता से विदेशियों का आगमन हुआ है इसलिए इसको हटा दिया जाये । इस वर्ग ने अन्य असन्तुष्टों का साथ लेकर नारेबाजी की 'सम्राट को सम्मान दो और विदेशियों को बाहर निकालो इस प्रकार के नारों से देश गज उठा जिसके परिणामस्वरूप हिंसा और विदेशी विरोधी घटनाएं हुई । रूस, अमेरिकन प्रतिनिधियों की हत्याएं की गई । वेदो में ब्रिटिश दूतावास पर हमला किया गया जिसमें कैफीन रिचर्डसन मारा गया । इस हिंसा को रोकने के लिये ब्रिटिश सेना भेजी गई और शिमोनोसेकी पर बमबारी की गई । तोकूगावा शेगनेट शक्तिहीन हो गया था उसमें पश्चिमी देशों की मुकाबला करने की क्षमता न थी और न ही आन्तरिक शांति स्थापित कर सका । इससे शेख के विरुद्ध जापान की शक्तियां उठ खड़ी हुई ।

विदेशी और स्थानीय लोगों के झगड़ों से ज्ञात हो गया कि पश्चिमी शस्त्रों के विरुद्ध जापान की शक्ति दुर्बल है । इसलिए जापान ने पश्चिमी देशों की शस्त्र तथा कुटिल नीति को समझते हुए अपने ही में परिवर्तन करना आवश्यक समझा । सत्सुमा तथा चोशू वंशों ने शीघ्र ही अनुभव कर लिया कि हम विदेशियों को चुनौती नहीं दे सकते । इसलिए ब्रिटिश प्रतिनिधि सर हैनरी पार्कस ने सम्राट के समुख संधि की संपुष्टि का प्रस्ताव रखा और अन्ततः सम्राट की स्वीकृति प्राप्त की ।

पश्चिम से मुकाबला करने के लिए तकनीकी तथा विज्ञान का ज्ञान जरूरी था । विदेश जाने पर प्रतिबन्ध थे लेकिन बड़े सामन्तों एवं परिवारों में युवकों को भिन्न-भिन्न देशों को

विज्ञान एवं टेक्योलॉजी की शिक्षा लेने के लिए भेजा । शोगन ने भी गुप्त रूप से कुछ युवकों को ब्रिटेन में राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में ज्ञान प्राप्त हेतु भेजा जो बाद में चलकर जापान के नेता बने । एक रक्तहीन शगून विरोधी सम्राट समर्थक क्रांति ने जापान को 'आधुनिकता की चौखट पर लाकर खड़ा कर दिया । शोगून के सभी अधिकार सम्राट ने 1868 ई० में वापस ले लिये थे । वैसे चोशू वर्ग ने सत्ता हड़पने का प्रयत्न किया जिससे फिर से शोगून प्रणाली को पुनस्थापित किया जा सकें । लेकिन सफलता न मिलने पर उनको दण्डित किया गया । शोगून की बिना पुत्र के मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर राजकुमार मिन्टो शोगुन बनाया गया । सम्राट कोमई की भी 1867 में मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर मुत्सोहितों को जापान की गद्दी पर बिठाया गया ।

सन् 1867 ई0 में 14 वर्ष की अवस्था में मुत्सोहितों गद्दी पर बैठा । यह शासन 'प्रबुद्ध शासन का युग कहलाया' । मुत्सोहितों के शासन काल में ही जापान ने प्रगति की और पश्चिमी देशों का अनुकरण करके उनकी बराबरी करने लगा । जापान एक बड़ा औद्योगिक देश हो गया और पश्चिमी राष्ट्रों के ढंग का साम्राज्यवादी राष्ट्र बन गया ।

इन परिवर्तनों के लिए अमीर सरदार वर्ग के कुछ दूरदर्शी लोग थे जो 'बुजुर्ग' राजनीतिज्ञ थे । लेकिन जापान ने पश्चिम विरोधी दंगों के बाद विदेशी जंगी जहाजों ने बम बरसाये तो जापानियों को अपनी बेबसी का आभास हुआ और अपमान का घुंट पीकर रह गये । लेकिन अपने भाग्य सबक सीखने को फैसला और सिर पिटने के बजाय उन्होंने पराजय और अपमान से सब सिखने का फैसला किया । देश के वयस्क लोगों ने सुधार का कार्यक्रम बनाया और उन पर चलने का निर्णय किया ।

13.3 शपथ-पत्र

6 अप्रैल, 1968 ई0 को सम्राट मेईजी ने क्योतो में एकत्र सामन्तों, कुलीनों तथा कर्मचारियों के सम्मुख पांच अनुच्छेद वाले शपथ-पत्र की घोषणा की । यही 'शपथ-पत्र' आधुनिक जापान के व्यवसायीकरण, पश्चिमीकरण, सुदृढ़ केन्द्रिय शासन तथा बहुमुखी उन्नति का आधार बना । इस शपथ-पत्र में निम्न पांच बातें कहीं गई हैं -

(1) विधानसभा की स्थापना की जायेगी और राज्य नीतियों का निर्धारण उसकी सम्मति व परामर्श से होगा ।
(2) जनता के सारे वर्गों को चाहे वह शासक हो अथवा शासित, राष्ट्र की उन्नति तथा विकास के लिए एक हो जाना चाहिए ।
(3) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार व्यवसाय चुनने का अवसर प्रदान किया जायेगा ।
(4) व्यर्थ के रीति रिवाज तथा प्राचीन बुराइयों को त्याग कर न्याय करते समय सब मनुष्यों के साथ एक समान बर्ताव किया जायेगा ।
(5) साम्राज्य की नींव को दृढ़ करने के लिए किसी भी देश से बुद्धिमता तथा ज्ञान निःसंकोच ग्रहण किया जायेगा ।

महत्ता

पांच अनुच्छेद वाले ' शपथ-पत्र' भावी विकास की आधारशिला बना । यदि पांचों अनुच्छेदों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाये तो उसका अर्थ था सामंत वाद की समाप्ति तथा पश्चिम की श्रेष्ठ वैज्ञानिक परम्पराओं के अनुरूप राष्ट्रीय एकता की स्थापना करना और उन तत्वों को राष्ट्र की मुख्य धारा में लाना जो सामन्ती व्यवस्था में राष्ट्र की मुख्यधारा से कट गये थे । इस प्रकार राष्ट्रीय सहमति की सरकार जापान में बनी और जापान तेजी से विकास और आधुनिकतावाद के मार्ग पर अग्रसर हुआ । ' शपथ-पत्र' इसी प्रक्रिया का प्रतीक और आधार स्तम्भ था ।

मेईजी के सिंहासन पर बैठने मात्र से ही जापान की समस्याओं का न तो अन्त हुआ और न ही जनजीवन तथा राजनीति में घर कर गई अव्यवस्था तथा कुरीतियां समाप्त हुई । किशोर सम्राट तथा जापान के नये नेताओं को आन्तरिक विषमताओं तथा बाह्य विपत्तियों के रूप में अनेक चुनौतियों का सामना करना था । अन्तिम शोगून केइकी ने त्याग पत्र दे दिया था और स्वयं समस्त शक्तियों व अधिकारों को भिकाडो (सम्राट) को लौटा दिया था । अब पश्चिमी कुलों के सामन्तों ने शोगून का स्थान प्रापत करने का निश्चय किया लेकिन मेईजी को अधिकार वापस मिले आन्दोलन से पश्चिमी कुलों के नेता शोगन के स्थान पर सम्राट का व्यक्तिगत शासन कदापि नहीं चाहते थे । वे शोगून को सम्राट के परामर्श दाता के पद से हटा कर स्वयं उक्त पद को प्राप्त करना चाहते थे । शोगून के अनुयायियों ने जब यह देखा कि शक्ति सम्राट हाथों में नहीं है वरन् पश्चिमी कुलों के सरदारों के पास जा रही है तो उन्होंने 'अपने हितों की रक्षा के लिए हथियार उठा लिये । इधर सम्राट 'शपथ-पत्र' की घोषणा कर रहा था उधर शोगून के अनुयायियों और विरोधियों में भयंकर युद्ध चल रहा था । नये शासन ने शोगून के अनुयायियों के विद्रोह का दृढ़तापूर्वक सामना किया और सन् 1869 ई0 तक पूर्ण रूप से उनका दमन कर गया ।

विदशी शक्तियां तो इस अवसर का लाभ उठाने की तलाश में ही थी । फ्रांस का सम्राट नेपोलियन तृतीय येडो तथा क्योतो के मध्य युद्ध में शोगून को मदद देने की इच्छा व्यक्त की थी लेकिन आन्तरिक कलह और विदेशी हस्तक्षेप के भय से दूसरी गंभीर समस्या न्याय, समता और 'शपथ-पत्र' के सिद्घांतों की विरोधी जापान की सदियों पुरानी सामन्ती व्यवस्था थी । संक्षेप में नये प्रशासन को आन्तरिक व्यवस्था सुधारनी थी, यद्यपि विदेश विरोध और एकान्त की नीति त्यागी जा चुकी थी, फिर भी पर राष्ट्र नीति में आमूल-मूल परिवर्तन करना था ।

आधुनिकीकरण का प्रारम्भ

13.5.1 शिक्षा

सम्राट के पुर्न संस्थापन के उपरान्त जापान की सर्वागीण उन्नति का लक्ष्य प्रशासन के सामने था । सामन्तवादी पद्धति से धरोहर में प्राप्त अज्ञानता तथा अशिक्षा जापानी सरकार की दृष्टि में राष्ट्र की प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी । चरित्र निर्माण, राष्ट्र एवं सम्राट के प्रति भक्ति तथा पश्चिमी सभ्यता के भौतिकवादी पहलुओं का विकास नई जापानी शिक्षा के प्रमुख ध्येय थे । सन् 1871 ई0 में शिक्षा विभाग की स्थापना की गई और अगले वर्ष ही जापानियों ने अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा के सिद्धांत । को अपनाकर शिक्षा का पुनर्गठन किया

गया । फ्रांस को आधार मानकर शिक्षा का केन्द्रीयकरण किया गया । जापान को 8 जिलों में, प्रत्येक विश्वविद्यालय जिले को 32 सेकेन्ड्री स्कूल जिलों में और प्रत्येक सेकेन्ड्री स्कूल जिले को 210 एलिमेन्ट्री स्कूल जिलों में विभाजित किया गया । छः वर्ष की उम्र से ही बालक-बालिकाओं के लिए 4 वर्षों तक पाठशालाओं में पढ़ना अनिवार्य कर दिया गया । फिर यह अवधि 6 वर्ष कर दी गई । मानसिक अनुशासन के साथ-साथ चरित्र निर्माण गठन पर भी बल दिया गया । माध्यमिक स्तर पर उन विद्यार्थियों को विशेष प्रशिक्षण मिलता था जो आगे पढ़ना नहीं चाहते थे । अन्य सभी छात्रों को विश्वविद्यालय के प्रवेश के लिए तैयार किया जाता था ।

शिक्षा के पुनर्गठन का आधार अगर फ्रेंच था तो प्रारम्भिक स्कूलों के पाठ्यक्रम का आधार अमेरिकन था । सन् 1872 ई० में योग्य तथा प्रशिक्षित शिक्षकों के निर्माण के लिए टोकियों में नार्मल स्कूल खोला गया और अमेरिका सेमेरियन एक-स्काट को अध्यापन के लिए तथा शिक्षा सलाहकार बनने के लिए आमंत्रित किया गया । अमेरिकन पाठ्य पुस्तकें, पठन सामग्री तथा दूभाषिये की सहायता से अंग्रेजी भाषा में स्काट में शिक्षा कार्य जापान में किया । 1873 ई० में डॉ. डेविड मुरे नामक एक अन्य अमेरिकन शिखा सलाहकार जापान होकर आये । डॉ. मुरे ने अनेक शिक्षा में सुधार किये । माध्यमिक और उच्च विद्यालयों में अंग्रेजी भाषा का ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया । स्त्री शिक्षा की नींव रखने का श्रेय भी डॉ. मुरे को है । 1879 ई0 में शिक्षा विभाग ने अमेरिका के आधार पर शिक्षा का फिर से पुनर्गठन किया तथा शिक्षा संस्थाओं के लिए आन्तरिक स्वतंत्रता के सिद्धांत को मान्यता प्रदान की ।

जापान की शिक्षा पद्धति पर तीसरा प्रभाव जर्मनी का दृष्टिगोचर होता है । मार्च 1886 ई० में एक शाही अध्यादेश द्वारा उच्च शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा के नवीन दर्शन तथा शाही विश्वविद्यालयों के कार्यों को परिभाषित किया गया । विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षित युवकों के मस्तिष्क में एक नवीन चेतना तथा जागृति उत्पन्न हो रही थी । जर्मनी के आधार पर शिक्षा संस्थाओं में गुरूओं तथा विद्यार्थियों, शिक्षकों तथा शिक्षितों को एक ही स्थान पर घनिष्ट सम्पर्क में रहना, अनिवार्य सैनिक शिक्षा, राष्ट्रीय गुणों का विकास तथा कठोर अनुशासन पर विशेष बल दिया गया । जर्मन प्रभाव के कारण राष्ट्रीय नैतिकता का विकास ही जापानी शिक्षा का प्रमुख ध्येय था । मेईजी युग के प्रारम्भ में विश्वविद्यालयों में राजनीति, कानून तथा व्यवसाय में प्रशिक्षित व्यक्तियों की कितनी कमी थी और जापान की सरकार और प्रबुद्ध वर्ग इस कमी की पूर्ति के लिए बड़ी तेजी से संलग्न थे । प्राइवेट विश्वविद्यालय केओ प्राचीनतम था । 1879 ई० में होसी, 1880 ई० में शेन्शू 1881 में चूओ विश्वविद्यालय खोले गये । इन विश्वविद्यालयों में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के अध्ययन की ओर जापानी युवक विशेषतया आकृष्ट हुए । 1882 ई० में वाशिदा विश्वविद्यालय की स्थापना हुई । इसका प्रमुख उद्देश्य जापान के निव-निर्माण के लिए योग्य एवं सक्षम नेताओं को उत्पन्न करना था । यही कारण है कि इस विश्वविद्यालय में राजनीति, कानून तथा अर्थशास्त्र पर विशेष बल दिया गया।

जापान की शिक्षा - नीति का आधार पांच अनुच्छेदों वाले 'शपथ-पत्र' का आखिरी अनुच्छेद था जिसमें कहा गया था कि 'साम्राज्य की नींव को सुदृढ़ करने के लिए किसी भी देश

से बुद्धिमत्ता व ज्ञान निःसंकोच ग्रहण किया जायेगा । 1870 ई० के पश्चात जापानी शिक्षा के इतिहास को यूरोपिय तथा अमेरिकी शिक्षा पद्धति का निरन्तर अनुकरण का इतिहास कहा जाये तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

13.5.2 अर्थव्यवस्था

पश्चिमी विज्ञान, तकनीकी शासन तथा पूंजीवाद के कारण मेईजी युग से एक आर्थिक क्रांति का आरंभ हुआ जिसमें सामन्तवादी अर्थव्यवस्था का विनाश कर जापान को पूंजीवादी अर्थव्यवस्था दी । संचार तथा परिवहन के साधनों का विकास किसी भी प्रगतिशील अर्थव्यवस्था का मेरूदंड होता है अत: जापान ने सर्वप्रथम संचार-साधनों के विकास की ओर ध्यान दिया । इस संचार साधनों से राष्ट्रीय एकता को भी पुष्ट मिला । 1873 ई० में टोक्यो से योकोहामा तक 18 मील लम्बी लाइन का निर्माण किया गया । यह निर्माण कार्य आरम्भ में सार्वजनिक निर्माण विभाग के अन्तर्गत सरकारी निरीक्षण में हुआ । 1885 ई० में सार्वजनिक निर्माण विभाग को समाप्त करके प्रत्यक्ष मंत्री मण्डल के अधीन रेलवे ब्यूरो की स्थापना की । 1890 ई० में ब्यूरो का नाम बदलकर रेलवे बोर्ड कर दिया गया । रेलवे लाइनों के निर्माण में प्राइवेट कम्पनी की सेवाएं भी प्राप्त की गई । इस प्राइवेट कम्पनियों ने निप्पन रेलवे कम्पनी जो टोक्यो - ओमोकी लाइन का निर्माण किया । 1894-95 ई० में सरकारी तथा व्यक्तिगत प्रयासों के कारण 2118 मील लम्बी रेलवे लाइन जापान में बिछ चुकी थी । रेलवे लाइनों के निर्माण में जापान, इंग्लैण्ड का विशेष रूप से ऋणी हैं सड्कों, नदियों के सुधार तथा निर्माण की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया ।

पेरी ने 1853 ई० में जापान को तार-यंत्रों को उपहार स्वरूप भेंट किया था । 1869 ई० में बुर्नटन ने टोक्यो से योकोहामा तक तार लाइन का निर्माण किया । सरकारी प्रवलों के कारण तार की लाईनों का निरन्तर विकास होता रहा । 1894-95 तक जनता के 762 तार घरों की स्थापना की गई । शोगून व्यवस्था में डाक की कोई नियमित व्यवस्था न थी । सम्राट के पुनर्संस्थापन के बाद जापान के हाराकारी प्रथा के स्थानं पर एक नई डाक व्यवस्था की शुरूआत हुई । जनवरी 1871 ई० में नई डाक सेवा पद्धति का उद्घाटन किया गया । 1877 ई० में जापान अन्तर्राष्ट्रीय डाक संघ का सदस्य हो गया । जापान की डाक व्यवस्था पश्चिमी देशों की डाक व्यवस्था के आधार पर उन्नत और उच्च कोटि की हो गई ।

व्यवसायिक क्षेत्र में पाशचात्य राष्ट्रों के समान ही उन्नतिशील होने के लिए जापानियों ने बड़ी तेजी के साथ यूरोप और अमेरिका के वैज्ञानिक अविष्कारों तथा मशीनरी को आयात कर बड़ी तेजी से राष्ट्र का उद्योगीकरण आरम्भ किया । सरकार स्वयं अपने धन से विदेशों से मशीनरी मंगवाकर आधुनिक कल कारखानों का निर्माण किया । समुराई तथा प्रतिष्ठित कुलीन परिवारों ने उद्योग धन्यों व व्यवसाय में रूचि लेने के लिए अनेक सरकारी सुविधाएं प्रदान की । सरकार की नई व्यवसायिक तथा आर्थिक नीति के कारण कुछ ही समय में जापान में व्यवसायिक क्रांति हो गई और वहां के उन्नत और विशाल कारखानों में कपड़ा, रेशम, लोहे का सामान प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होने लगा । पुरानी उद्योग श्रेणियों के स्थान पर नये व्यापारिक संगठनों को प्रोत्साहन दिया गया । खाने खोदी गई, बारूद तथा विभित्र प्रकार के अस्त्र शस्त्रों

को तैयार करने के लिए कल कारखानों का विकास किया गया । 1890 ई० तक जापान में वाष्प शक्ति से चलने वाले 250 से भी अधिक कारखाने थे । 1890 ई० के बाद जापान का मशीनीकरण तथा औद्योगीकरण बड़ी तीव्रता के साथ हुआ। प्राचीन सामन्तों का स्थान अब इस वर्ग ने ले लिया ।

आर्थिक क्षेत्र में मेईजी सरकार का महत्वपूर्ण कदम मुद्रा - विनिमय था । विनिमय के लिए सोना और चांदी प्रयोग होता था । साथ ही साथ शोगून तथा अनेक सामन्तों ने अपने - 2 सिक्के जारी कर रखे थे, विदेशी अपने देश से चांदी मंगा लेते थे और जापान की चांदी से बदल लेते थे । इस जापानी चांदी को सोने में बदलकर उसका निर्यात करते थे । इस प्रकार जापान का सोना विदेशों में खिंचता रहा । शोगून से खाली खजाना मिला था । कर प्रणाली बदलने के बावजूद भी आर्थिक स्थिति दयनीय थी । इसलिए सरकार को कागज की मुद्रा के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था कि सोने को चांदी में न बदली जा सके । बैंकों की भी अधिक सुविधा न थी । मुद्रा-विनिमय तथा बैंकों की समस्या को हल करने की दिशा में पहला कदम 1872 ई० में उठाया गया । अमेरिका विनिमय मुद्रा तथा बैंकिंग प्रणाली का विशेष अध्ययन कर ईटों ने सुझाव दिया कि अमेरिकन पद्धति पर राष्ट्रीय बैंकों का विनिमय किया जाये और बैंकों को इनकनवरटेबिल नोट्स जारी करने का अधिकार दिया जाये । 1873 ई० में प्रथम नेशनल बैंक की स्थापना हुई जिसमें दो धनवान कुलों को आदेश दिया गया कि वे इस बैंक को चलायें । 1876 ई० में चार बैंक ही जापान में थे । बैंकों के नियमन में संशोधन करके नोटों की मुद्रा में परिवर्तन की अनुमति दी गई इससे बैंकों का भारी विकास हुआ। 1879 ई० तक 151 बैंकों की स्थापना हुई जिसमें 1,20,00,000 येन जमा थे । इस प्रकार जापान का व्यवसायिक, उन्नत, बैंकिंग का विकास और रेलवे आदि के निर्माण से जापान की आर्थिक स्थिति में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ।

1868 ई० के बाद सम्राट ने किसानों की दशा को भी उन्नत किया । सरकार ने किसानों की भूमि के स्वामित्व के सिद्धांत को प्रतिपादित किया । 1872 ई० में किसानों को भूमि के प्रमाण पत्र (चिकेन) दिये गये और बहुत बड़ी संख्या में किसान भू-स्वामी बने । उसी वर्ष कृषि पर लगे प्रतिबन्ध हटा दिये गये । चावल की औसत उपज और पांच वर्ष में चावल की औसत कीमत के आधार पर खेतों के मूल्य निर्धारित किये गये । इन परिवर्तनों के उपरान्त ही भूमि कर - प्रणाली लागू की गई और अनाज के रूप में लगान वसूल करने की सामन्ती प्रणाली समाप्त हुई। नया भूमि कर 1873 ई० से लागू हुआ जो अब तक राज्य की राजस्व प्रणाली का आधार बना । किसान भू-स्वामी अपनी उपज का एक अंश नकद रुपयों के रूप में राजकोष में जमा करने लगा । मालगुजारी की रकम को अदा करने के लिए किसान को अपनी उपज बेचने के लिए बाजारों में जाना पड़ता था । सरकारी मालगुजारी किसानों की उपज की 25 से 30 प्रतिशत तक होती थी । छोटे किसानों को असुविधाओं का सामना करना पड़ता । कीमतों के उतार-चढ़ाव की कठिनाइयों का भी उन्हें सामना करना पड़ता था । इस नई भूमि-व्यवस्था से एक नया बोझ आ पड़ा कि सामूहिक भूमि के उपयोग से किसान वंचित हो गये थे क्योंकि इसका स्वामित्व किसी विशेष व्यक्ति के हाथों में न होकर राज्य में निहित था । धीरे-धीरे इन

कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना किया गया । जापानी कृषक विश्व के किसी भी देश के कृषक-वर्ग से कम सम्पत्र तथा प्रगतिशील नहीं है ।

13.5.3 सेना का आधुनिकीकरण

मेइजी के नये शासकों ने सेना का पुनर्गठन व आधुनिकीकरण किया । 1854 ई० में जिन अपमानजनक परिस्थितियों में जापान के द्वार खोले गये थे उससे यह साफ स्पष्ट था कि जापान के निर्माता अपना ध्यान जापान के सैनिकी-करण की ओर देंगे । जापान के पास न कोई राष्ट्रीय सेना थी और आंग्ल-चीनी युद्ध (1839-42) पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा 1863 ई० में कोगोशिमा तथा 1864 ई० में शिमोनोसेकी पर बमबारी ने पश्चिमी सैनिक-शक्ति से जापानियों को भली-भांति अवगत करा दिया था । पश्चिमी-राष्ट्रों की भूांति सैन्य संगठन के आधुनिकीकरण का महत्व उनके सामने था । जापान को उन्नत राष्ट्रों की पंक्ति में ला खड़ा करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ जापानी नेता स्थल सेना तथा नौसेना के आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण एवं विकास में पूर्ण तन्मयता के साथ जुट गये ।

1872 ई० में सैनिक मामलों के विभाग को दो विभागों में - युद्ध तथा नौसेना में - विभाजित कर दिया गया । यामागाटा के प्रभाव में राष्ट्रीय सैन्य शक्ति को तीन भागों में सगंठित किया गया । (1) नियमित-सेना, (2) रिजर्व सेना,(3) राष्ट्रीय सेना । 21 वर्ष की आयु वाले प्रत्येक पुरुष को सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई । अनिवार्य सैनिक शिक्षा के प्रथम तीन वर्षों में युवक नियमित भाग में, उसके बाद के 3 वर्ष रिजर्व सेना में तथा शेष 40 वर्ष की आयु तक राष्ट्रीय सेना में रहेगा । अनिवार्य सैनिक पद्धति अध्यादेश की शर्तें बड़ी उदार थीं । अनिवार्य शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत समुराई वर्ग का सैनिक -सेवाओं का एकाधिकार समाप्त हो गया ।

पेरी के आगमन के पश्चात जापानी सामुहिक शक्ति का विकास भी उसकी सेना के समान ही कम विस्मयकारी नहीं है । जापान की आधुनिक नौसेना का विकास 1855 से आरम्भ हुआ । तोकूगावा शोगून ने नौसैनिक अधिकारियों को नोसैनिक विज्ञान के प्रशिक्षण के लिए जापान में निमंत्रित किया गया । ' जापान के कुलों ने भी शोगून के अन्तिम वर्षों में नौ सेना का संगठन शुरू कर दिया था । 1869 ई० में नौ सैनिक प्रशिक्षण स्कूल खोल गया जिसके अधिकारी अंग्रेज थे । अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी गई । जापान को सबसे योग्य अधिकारी एडमिरल टोगो की शिक्षा ब्रिटेन ' की उच्च नौ सैनिक परम्परा में हुई थी । एडमिरल उरयू ने भी अमेरिका के नौ सैनिक स्कूल में शिक्षा प्राप्त की थी । 1872 ई० में नौसेना विभाग का निर्माण किया गया और नौ सेना के विकास का कार्य पूर्ण गंभीरता से शुरू किया गया । पहला युद्धपोत तैयार किया गया । 1878 ई० में जापानी नागरिकों द्वारा चालित 900 टन वाला जहाज 'सेकी' यूरोप की यात्रा पर गया । 1882 ई० तक जापान नौ-सैनिक क्षेत्र में अपने पैरों पर खड़ा हो गया और उसने विदेशी नौ सैनिक शिक्षकों को अलग खड़ा कर दिया । 1894 तक जापान की सेना में 57,600 टन वाले 28 जहाज तथा 28 पनडुब्बियां थीं । किन्तु

1894-95 का चीन-जापान युद्ध मुख्यत: विदेशी युद्धपोतों से लड़ा 'गया था । इससे जापान के युद्ध पोतों के निर्माण में तीव्रता से कारखाने बनवाने लगा ।

13.6 शक्तिशाली जापान द्वारा सैनिक साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का प्रगटीकरण:-

कोरिया उद्योगीकरण, आर्थिक विकास और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था जिस प्रकार पश्चिमी देशों को साम्राज्यवाद और सैनिक वाद के रास्तों पर ले गई उसी प्रकार जापान में भी इन प्रवृत्तियों का उदय उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ । 1875 में कोरिया, चीन-जापान सम्बन्धों की धुरी बन गया । निरन्तर कोरिया को लेकर दोनों देशों के संबंध बिगड़ते गये । जापान में पूंजीवादी व्यवस्था तथा आधुनिकरण अपने पोषण के लिए बाजार तथा कच्चे माल की तलाश में थे । स्वाभाविक था कि जापान का ध्यान कोरिया, मंचूरिया तथा चीन की ओर जाता । सन् 1894-95 के चीन-जापान युद्ध का वर्णन करने से पूर्व, जापान में गैर-सरकारी परिवर्तनों को बताना भी आवश्यक होगा । ये परिवर्तन हैं जापान का यूरोपियनों से संबंधों का विकास, तथा इस अवधि में विस्तार आदि-आदि ।

1858 ई० तथा उसके बाद जापान के यूरोपिय देशों से जो समझौते हुए उनसे उनकी न्यायिक, वित्तीय सर्वोच्च सत्ता व स्वतंत्रता पर कड़े प्रतिबंध थे । सन् 1870 से 1894 तक जापान के विदेशी सम्यकों और अनेक आन्तरिक निर्णयों की पृष्ठभूमि यही थी । 1871 ई० में इवाकुरा मिशन सन्धियों के सुधार व पुर्ननिरीक्षण के लिए विदेश भेजा गया । लेकिन इस मिशन को अपने प्रयासों में सफलता न मिल सकी । इस प्रकार इस मिशन ने सभी राष्ट्रों व उनके नेताओं के साथ सम्पर्क स्थापित किया लेकिन फिर भी अपने प्रयासों में सफलता नहीं मिली । इवाकुरा ने लौ कर अपनी सरकार को सूचित किया कि इन संधियों में संशोधन तभी संभव हो सकेगा जबकि जापान अपनी न्याय व्यवस्था, दण्ड विधान व न्याय विभाग में पश्चिमी आधार पर आवश्यक संशोधन कर लेगा । जापान की सरकार ने न्याय पद्धति, देश की दीवानी और फौजदारी कानूनों का नये सिरे से निर्माण किया । फ्रांस की न्याय पद्धति को ही जापान की न्याय प्रणाली का आधार माना । इस मिशन के उत्तर में विदेशी देशों ने यह भी कहा कि अगर जापान अपनी स्वतंत्रता चाहता है तो उसे काफी लम्बी तैयारी करनी पड़ेगी । तटकर और सीमा शुल्क निर्धारित करने की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए यूरोपियन देशों को यह आश्वासन देना आवश्यक होगा कि उन्हें व्यापार के लिए देश में आने जाने की पूर्ण सुविधा होगी और सीमा - शुल्क इस उद्देश्य से नहीं लगाया जायेगा कि सीमित व्यापार की पुरानी स्थिति पर लौटने का प्रयत्न किया जाये ।

सन् 1894 ई० के पूर्व ही जापान ने अपनी सीमाएं निर्धारित कर ली थीं । फारमोसा काण्ड के बाद चीन ने लूचू द्वीप पर अपने अधिकार को त्याग दिया था । सन् 1875 ई० में रूस ने एक समझौते के फलस्वरूप जापान ने सखालीन द्वीप से अपना अधिकार समाप्त कर लिया था और उत्तरी कुरील द्वीपों पर जापान का अधिकार स्वीकार कर लिया था और बौनीन द्वीपों पर भी पाश्चात्य शक्तियों ने जापान के आधिपत्य को मान्यता प्रदान की । 1875 ई०

की संधि से जापान और रूस के बीच कोई स्थायी मैत्री आधार नहीं बना । लेकिन कुछ समय तक दोनों देशों के बीच तनाव कम हो गया ।

इस प्रकार जापान का 1894 ई० तक पूर्ण आधुनिकरण हो चुका था । आधुनिक समाज के जन्म प्रसव पीड़ा को पार कर चुका था । सन् 1894 ई० तक संक्रमण काल का संकट समाप्त हो चुका था । सरकार का पूर्ण रूप से पुनर्गठन हो चुका था और नये विधान के पिछले कई वर्षों में परीक्षा हो चुकी थी । पश्चिमी आदेशों के अनुकूल स्थल और जल सेनाओं का संगठन हो चुका था । आधुनिक शिक्षा प्रणाली सफलतापूर्वक चल रही थी, सीमा-शुल्क और न्याय प्रणाली की स्वाधीनता मिलने ही वाली थी । उद्योग तथा व्यावसाय भविष्य की उन्नति का आश्वासन दे रहे थे । पुनर्गठन का कार्य अभी पूर्ण नहीं हुआ था परन्तु उसके परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे किन्तु जापान को आधुनिक संसार के रूप में टालने के लिए जो धक्का लगा था उसका प्रभाव समाप्त हो चुका था । सन् 1894 ई० के उपरान्त पुनर्गठित जापान का प्रसार हो रहा था और वह समानता के आधार पर प्रमुख राष्ट्रों के परिवार का महत्वपूर्ण सदस्य बनने के मार्ग पर अग्रसर हो रहा था ।

1894 ई० 1912 ई० तक जापान अपने मेइजी क्रांति के द्वितीय चरण में प्रवेश कर चुका था । जापान का उदय एक अर्द्ध उपनिवेशिक असमान संधियों की स्थिति से उठकर एक बड़ी शक्ति के रूप में पर्दापण किया था जिसने रूस को पराजित किया था, एशिया के अधिकांश भू-भाग पर पश्चिमी देशों का प्रभुत्व था । । अब 1894-95 के प्रारंभ में चीन को पराजित करके पूर्व की एक शक्तिशाली शक्ति के रूप में उदित हो गया था । एक शताब्दी बाद ही यूरोप की महान शक्ति से मैत्री भी स्थापित कर ली थी और वह था इंग्लैंड । पांच वर्षों के अन्दर ही पश्चिमी यूरोप की एक शक्ति रूस को चुनौती दे डाली और कोरिया और उसके समीप मंचूरिया पर नियंत्रण स्थापित कर लिया था । इस तरह जापान के उन्नीसवीं शताब्दी के भय तथा संदेहों का अन्त हो चुका था । कोई भी राष्ट्र इसकी आर्थिक, सैनिक तथा राजनैतिक सम्मान शक्ति के क्षेत्र में सन्देह नहीं कर सकता था । उसकी सकाकाजकल प्रगति, आधुनिक संस्थाओं ने आर्थिक क्षेत्र में नये मार्ग का विस्तार किया था । इस प्रकार जापान उफनती हुई शक्ति का मार्ग ढूंढना चाहता था । जापान ने कोरियाई सरकार को सूचना देते हुए मांग रखी थी कि कोरिया एवं जापान की मैत्री और प्राचीन संबंधों की पुनरावृत्ति की जाये लेकिन अपमानजनक रूप में जापान के प्रस्ताव को ठुकरा दिया गया था । जापान को इस प्रकस के व्यवहार का पता चला तो सारे देश में अपमान और क्रोध की लहर दौड़ गई और युद्ध की मांग होने लगी । लेकिन जापान के युवा सम्राट ने बुद्धिमत्ता तथा दूरदर्शिता का परिचय देते हुए शान्तिवादी मंत्रीमंडल को समर्थन दिया और आन्तरिक सुधार तथा पुनर्गठन की योजनाओं में व्यस्त हो गया ।

लेकिन जापान उपर्युक्त अवसर की तलाश में रहा वैसे जापान को रूस से भी भय था क्योंकि रूस दैत्य की भांति अपने पैर फैला रहा था । एशिया में प्रसारवाद में व्यस्त रूस का आधिपत्य यदि कोरिया में स्थापित हो गया तो जापान की प्रादेशिक अखण्डता व स्वतंत्रता को खतरा हो सकता है । कोरिया में किसी भी देश से मुकाबला करने की क्षमता न थी । जापान की राजनैतिक महत्वाकांक्षा तथा आर्थिक आवश्यकताओं ने उसे कोरिया में हस्तक्षेप करने को

विवश कर दिया था । जैसा अमेरिका ने जापान में और जापान ने कोरिया में करने का निश्चय किया और उसके एकाकीपन को समाप्त कर अन्तरर्राष्ट्रीय सम्पर्क के लिए खोल दिया । 26 फरवरी, 1876 को कोरिया पर विजय प्राप्त की तथा कोरिया ने जापान को सीमा शुल्क निर्धारण की सार्वभौमिकता सौंप दी । जापान का दूतावास सिऊल में स्थापित हो गया जिसको जापान ने पश्चिमी शक्तियों की भांति अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त हो गये । सन् 1876 ई० में जापान ने कोरिया की सार्वभौमिकता तथा स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान की । लेकिन चीन कोरिया पर अपने प्राचीन आधिपत्य को समाप्त नहीं करना चाहता था और न ही कोरिया ही अपने अधिकार चीन की सुरक्षा और सलाह से वांछित होना चाहता था । चीनी वायसराय ली-हुंग-चांग इससमय चीनी विदेश नीति का संचालक था, उसने कोरिया में चीनी हितों की रक्षा के लिए अपने विश्वासपात्र तथा योग्य युचानसिकाई को रेजीडेण्ट जनरल करके भेजा । जापान कोरियाई सरकार पर सुधारों की योजनाओं करने का प्रस्ताव रखा किन्तु युवान सिकाई के हस्तक्षेप एवं प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार व अयोग्यता ने सुधारों की योजना को विफल कर दिया ।

कोरियाई राजदरबार में जब चीनी तथा जापानी स्वार्थों का टकराव हो रहा था उसी समय कोरिया में टांग-हॉक विद्रोह में टकराव को युद्ध में परिवर्तित दिया । वायेसराय लीं-हुंग-चांग ने सेना भेजने का निर्णय लिया और लगभग तीन हजार सैनिक कोरिया भेज दिये गये लेकिन 1885 के टींटसीन समझौते के अनुसार ली-ईटो कन्वेशन के ' अनुसार चीन-जापान में यह तय पाया गया था कि यदि कोरिया में सेना भेजने की आवश्यकता पड़ी तो दोनों ही राष्ट्र उसकी पूर्व सूचना एक दूसरे को भेजेंगे । चीन ने सैनिक सहायता की सूचना जापान. को दे दी और जापान ने आठ हजार सैनिकों की एक टुकड़ी कोरिया भेज दी ।

लेकिन जब तक चीनी सेना पहुंची तब तक विद्रोह दबा दिया गया । लेकिन चीन ने अपनी सेना हटाने से मना कर दिया, जब तक जापान की सेना वहां से स्वदेश वापिस न हो जाए । सेना हटाने की बजाए दोनों देशों ने सेना की संख्या और बढ़ा दी । जापान ने प्रस्ताव रखा कि वह और चीन दोनों मिलकर कोरिया सरकार पर आवश्यक सुधार करने के लिए दबाव डाले ।

चीन ने इससे इनकार कर दिया और कहा दोनों देशों की सेनाएं कोरिया खाली कर दें । और कोरिया सरकार को अपने मनोनुकूल सुधार करने की स्वतंत्रता दें । लेकिन चीन के इस प्रस्ताव को जापान ने अमान्य कर दिया ।

चीन व जापान के मध्य युद्ध के कई कारण थे - (1) जापानी राजनैतिक परिस्थिति, (2) महाद्वीप के प्रसार के लिए कोरिया के द्वार से घुसने की सदियों पुरानी जापान की इच्छा, (3) किसी सशक्त विदेश राष्ट्र द्वारा कोरिया पर कब्जा जमाने का जापान का राष्ट्रीय भय, (4) कोरिया प्रायद्वीप के साधनों के नियंत्रण में नयी पैदा हुई रूचि तथा कोरिया को बाजार के रूप में प्रयोग करने की संभावना ।

जब दोनों देशों चीन और जापान के मध्य वार्ता चल रही थी तभी एक घटना घटी जिसके कारण दोनों के बीच युद्ध का कारण बना । ली-हुंग-चांग ने ब्रिटिश जहाज 'कोसिंग' को

1500 सैनिकों के साथ कोरिया भेजा । जापान ने भी टोगो के नेतृत्व में जो बाद में विश्व में एडमिरल टोजो के नाम से विख्यात हुआ, कोसींगकोरोका लेकिन न रूकने के कारण जापान के द्वारा भेजे गये सैनिकों ने सभी चीनियों को मार दिया । इस घटना के 7 दिन बाद 1 अगस्त 1894 को युद्ध घोषित कर दिया । यूरोपियन शक्ति इस युद्ध में तटस्थ रही ।

कोरिया के थल और जल पर जापान का अधिकार हो गया । सितम्बर 16, 1894 को चीनियों के शहर हिजों पर अधिकार हो गया । एडमिरल ईटों ने एडमिरल टिंग को पीले समुद्र के किनारे यालु नदी के मुहाने पर पराजित किया । सेनापति यामागाटा के नेतृत्व में दूसरी सेना ने यालु नदी पार की और मंचुरिया पहुंच गये । सन् 1895 ई० तक शान्तुग प्रदेश के कई स्थानों पर जापानियों का कब्जा हो गया । 12 फरवरी को चीनी सेनापति तुंग ने अपने युद्ध को तथा सैनिक सामग्री को एडमिरल ईटो को समर्पित कर आत्मसमर्पण कर दिया । जापान की प्रत्येक दिशा में जीत हुई । वह भी चीन से संधि करने वाली पश्चिमी शक्तियों की बराबरी करने वाला बन गया । जापान ने चीन को जीत कर अपनी हैसियत का परिचय दिया ।

13.6.1 शिमोनोसेकी की सन्धि

17 अप्रैल, 1895 को एक माह की शान्ति वार्ता के उपरान्त दोनों राष्ट्रों के मध्य शिमोनोसेकी की संधि के द्वारा शांति की स्थापना हुई । इस संधि से जापान को लियाओतुंग प्रायद्वीप, फारमोसा, पैस्काडोरसं द्वीप समूह मिले और 200,000,000 तायल आठ किश्तों में जापान को देना स्वीकार किया । शन्शी, चुंगकिंग, सूचों तथा हुगचो नामक चार नगरों को जापान के व्यापार तथा व्यवसाय के लिए खोल दिये । एक विद्वान के अनुसार संसार के, सबसे बड़े, प्राचीन तथा सर्वाधिक जनबल वाले राष्ट्रीय शक्ति तथा स्रोत से भरपूर एक सुविस्तृत महाद्वीपीय साम्राज्य को एक छोटे से पड़ोसी राज्य को अपनी सैनिक शक्ति से युद्ध में पराजित कर दिया ।

13.6.2 परिणाम

इस युद्ध से जापान को अपने ध्येय में सफलता मिली । चीन को कोरिया से खदेड़ दिया गया । जापान कोरिया में अपने भौतिक हितों की प्राप्ति के लिए सुधार-योजना अपनी इच्छानुसार कार्यान्वित करने की स्थिति में था ।

मंचूवंश की नींव को बुरी तरह से हिला दिया और दो दशाब्दियों से कम समय में ही इस वंश का पतन हो गया । विश्व के देशों ने जापान की प्रशंसा की और उसका महाशक्ति के रूप में स्वागत हुआ । पश्चिमी शक्तियों ने इस तथ्य को जान लिया कि सुदूर पूर्व की राजनीति में जापान की अवहेलना नहीं की जा सकती ।

इस युद्ध से जापान की गृहनीति पर भी गहरे प्रभाव पड़े । चीन से प्राप्त धन और भूमि कोरिया में व्यापारिक व व्यवसायिक अधिकारों की प्राप्ति में राष्ट्रीय विकास को नयी दिशा प्रदान की । विजय गर्व में चूर जापान ने शस्त्रों की निर्माण की विशाल योजना बनायी, साथ ही जापान को विश्व के उच्चतम सैनिकों में स्थान प्राप्त हो सके । सैनिकवाद और प्रसारवाद इस

विजय के परिणाम थे । आर्थिक, व्यापारिक, व्यवसायिक तथा वित्तीय क्रियाकलापों को इस युद्ध से प्रोत्साहन मिला ।

इस युद्ध के परिणामस्वरूप ही चीन के प्रति यूरोपीय शक्तियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया । सन् 1895 ई० पूर्व चीन के साथ इतने बड़े पैमाने पर किसी का युद्ध नहीं हुआ था । 'सोते हुए अजगर' चीन को जगाने की किसी राष्ट्र ने न तो चिन्ता की थी न ही ऐसा साहस किया था । चीन-जापान युद्ध के तुरन्त बाद ही पश्चिमी शक्तियों ने चीन में अपने प्रभाव क्षेत्र को दृढ़ करने के लिए संघर्ष और होड़ आरम्भ कर दी । शक्तियों ने नयी-नयी मांगे सरकार पर दबाब डालकर चीनी विघटन का खतरा उत्पन्न कर दिया था ।

जापान के सम्मान और शक्ति के उदय के अतिरिक्त, युद्ध से धन सामग्री तथा भूमि का काफी लाभ हुआ । चीन को कोरिया से निकाल दिया गया और जापान ने अपनी सुधार योजनाओं को लागू करने में उसे कोई बाधा न थी । इस विजय ने 1910 में कोरिया पर कब्जा करने का मार्ग प्रशस्त किया । जापान ने चीन से प्राप्त धन की राशि से जल और थल सेना में भारी वृद्धि की । इसके अतिरिक्त औद्योगिक, सैनिक और प्रसारवाद की ओर अग्रसर हुआ ।

इस युद्ध से चीन का खोखलापन उजागर हो गया । मंचूवंश की नींव को हिला दिया गया जो थोड़े ही वर्षों में समाप्त हो गया । लेकिन इसके बावजूद भी चीन के कांग यू-वी ने मई, 1895 में सुधारा की योजना प्रस्तुत की जो 10,000 शब्दों का 'स्मरण पत्र' था । इस स्मरण पत्र से चीन में सुधारों का युग आरम्भ हुआ ।

क्लाईट के अनुसार, ' 'जापान की जल ओर थल सेना की विजय से सुदूर पूर्व में एक नवीन युग का आरम्भ हुआ जिसके प्रभाव यूरोप और एशिया के देशों में भी दृष्टिगोचर हुए । सी० यनागा के अनुसार, " विदेशी सैनिक पर्यवेक्षकों ने जापान की जल और थल सेना की भूरी-भूरी प्रसंशा की और संसार के देशों ने उसे अपने परिवार में स्वागत किया । उन्होंने ठीक से समझ लिया था कि अब जापान को सुदूर पूर्व की राजनीति से अलग नहीं रखा जा सकता । जापान की इस मदपूर्ण विजय ने चीन और अन्तर्राष्ट्रीय योजनाओं का संतुलन दोनों को बिगाड़ दिया था । " अभी तक ब्रिटेन चीन के पक्ष में अपना झुकाव रखता था लेकिन तुरन्त ही उसके व्यवहार में परिवर्तन आया । चीन की अकुशलता तथा जापान की योग्यता को देखकर इंग्लैण्ड का झुकाव उसकी ओर बदल गया । रूस भी जापान से लियाओतुंग प्रायद्वीप को राजनीति के आधार पर प्राप्त कर लेना चाहता था ।

13.6.3 त्रिपक्षीय हस्तक्षेप

शिमोनोसकी की सन्धि पर हस्ताक्षरों की स्याही अभी सूख भी न पायी कि यूरोप की तीन शक्ति - रूस, फ्रांस एवं जर्मनी - के प्रतिनिधियों ने जापानी विदेश मंत्रालय में जाकर सरकार को यह सलाह दी कि वह चीन को लियाओतुग प्रायद्वीप वापिस कर दें । अपनी मांग के समर्थन में इन प्रतिनिधियों ने कहा कि जापान का लियाओंतुंग पर अधिकार कोरिया की स्वतंत्रता, सुदूरपूर्व की शांति तथा पेकिंग के निकट होने के कारण चीन के लिए खतरनाक है । वस्तुत: रूस की प्रसारवादी महत्वाकांक्षा, ट्राससाइबेरियन रेलवे की निर्माण की योजना में रूस को सुदूरपूर्व में ला खड़ा किया । यूरोप की राजनीति से अपने एकाकीपन को समाप्त करने के लिए

आतुर, रूस की मैत्री के लिए लालायित फ्रांस हर कीमत पर रूस का साथ देने के लिए प्रस्तुत था । सन् 1893 ई० में फ्रांस और रूस द्विगुट संधि में जर्मनी की सुरक्षा और यूरोप पर उसके एकाधिपत्य को चुनौती दी थी । जर्मनी का विचार था कि वह इस हस्तक्षेप द्वारा फ्रांस और रूस को सुदूरपूर्व में उलझा कर एक ओर जर्मनी की पूर्वी और पश्चिमी सीमाओं से रूस और फ्रांस के सैनिक जमाव को कम कर सकेगा तथा दूसरी ओर जर्मनी की 'विश्व राजनीति' के सिद्धांत का प्रसार भी करने में सफल होगा । अत: फ्रांस ने इस हस्तक्षेप मैं रूस का तथा जर्मनी ने फ्रांस और रूस दोनों का समर्थन किया ।

जापान के नेताओं के एक सम्मेलन में प्रधानमंत्री ईटो ने इस नई समस्या का सामना करने के लिए तीन सुझाव रखे - (1) फ्रांस, रूस तथा जर्मनी की सलाह को अस्वीकार कर दिया जाये और युद्ध के खतरे के लिए तैयार हो जाये । (2) लियाओतुंग प्रायद्वीप की समस्या को सुलझाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया जाये । (3) तीनों की सलाह मानकर लियाओतुंग चीन को वापस कर दिया जाये ।

जापान युद्ध में थक चुका था । उसके सैनिक विशेषज्ञों ने घोषणा कर दी थी कि जापान तीन शक्तियों का मुकाबला नहीं कर सकता था इसलिए युद्ध का सुझाव मानना मूर्खता थी । तृतीय सुझाव को मानने के अतिरिक्त जापान के सामने और कोई विकल्प न था । युवा सम्राट मेइजी ने घोषणा की जापान ने पूर्व में शान्ति की स्थापना के हेतु शस्त्र उठाये थे और तीनों शक्तियों की सलाह के पीछे- शांति स्थापना की ही भावना है और चीन को लियाओंतुंग वापस करने की सलाह को स्वीकार करते हैं और इस प्रकार लियाओतुंग चीन को वापिस कर दिया गया । चीन ने जापान को 30,000,000 तायल क्षति के रूपा में दिये ।

इस त्रिपक्षीय अपमान की कड्वी गोली गले के नीचे न उतर सकी । इस हस्तक्षेप को आधुनिक जापानी इतिहास का सबसे दुःखद अध्याय माना गया है । आगे आने वाले दस वर्षों तक जापान इस अपमान को न भूल सका । जापान की जनता राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए कटिबद्ध हो गयी । इस हस्तक्षेप में जापान और रूस की भावी युद्ध की आवश्यंभाविता को भी स्पष्ट कर दिया

13.7 रूस-जापान युद्ध - 1904-1905

शिमोनोसेकी की संधि के उपरान्त त्रिपक्षीय हस्तक्षेप और सुदूरपूर्व में रूस की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं ने रूस-जापान युद्ध की संभावनाओं का आभास करा दिया । रूस-जापान युद्ध आंग्ल-जापान समझौते का परिणाम था । इस संधि के पीछे जापान का उद्देश्य रूस को पृथक करना था । रूस-जापान सुदूरपूर्व में एक दूसरे के कट्टर शत्रु थे । मेइजी नेताओं को एहसास हो गया था कि रूस उनकी महत्वाकांक्षाओं में बाधक है । तीन यूरोपियन शक्तियों के हस्तक्षेप ने उसकी विजय को एक कड़ी गोली के रूप में सहन करना पड़ा । 1896 ई० में रूस ने चीन के साथ एक गुप्त संधि की (ली-लैबोनोव) जो जापान के विरुद्ध सुरक्षात्मक और आक्रात्मक थी । इस संधि ने गलत अफवाहों तथा मंतव्यों के कारण रूस-जापान के संबंधों में और अधिक कड़वाहट आयी । दोनों देशों के मध्य संबंध खराब तब और हो गये जब लियाओंतुंग प्रायद्वीप जापान से वापस लेकिन रूस को तीनों शक्तियों ने दे दिया । सुदूरपूर्व में रूस के प्रसारवादी

महत्वाकांक्षा के कारण 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में और कटुता आ गयी । कोरिया, मंचूरिया और चीन के कारण दोनों राष्ट्रों में खुली शत्रुता हो गयी । इन संघर्षमयी स्वाथ्रो के कारण भविष्य में रूस जापान युद्ध की भूमिका बनी ।

13.7.1 कोरिया में रूस और जापान

चीन 'से युद्ध और युद्ध के कुछ समय उपरान्त तक सिऊल में जापान के हित सर्वोपरि थे । जापान ने कोरिया के साथ स्वामी के समान व्यवहार किया । जापान ने सुधारों की योजना को कार्यान्वित कर सुशासित और पिछड़े हुए कोरिया को आधुनिक बनाना चाहा । कोरिया में जापानी नीति को कार्य रूप में परिणत करने का दायित्व ईनोई को सौंपा गया । ईनोई को वापिस बुलाकर उसके स्थान पर वाइकाउंट प्यूरा को भेजा गया । लेकिन जापान द्वारा किये गये सुधारों का विरोधक एक रूढ़िवादी गुट रानी के नेतृत्व में बाधक था । म्यूरा ने अपनी देश की सभ्यता तथा अपने दायित्वों को भुलाकर कोरिया की रानी की हत्या करवा दी । म्यूरा को तुरन्त टोक्यो वापिस बुला लिया गया और छोड़ दिया गया । इस घटना से कोरिया में जापान का प्रभाव मृत प्राय: हो गया । रूस के युद्ध के उपरान्त ही पुन: प्रभाव स्थापित हो सका ।

चीन-जापान युद्ध तक युआनसिकाई और उसके बाद ईनोई कोरिया के वास्तविक शासक थे । लेकिन युवान तथा ईनोई का स्थान रूस ने ले लिया और यह कोरिया का वास्तविक शासक बन बैठा । रानी की हत्या से कोरिया में जापान के विरुद्ध आक्रोश की लहर फैल गयी । 11 फरवरी 1896 ई० को कोरिया का राजा और युवराज ने रूसी दूतावास में शरण ली । अर्थात कोरिया में जापान के प्रभाव के स्थान पर रूसी प्रभाव छा गया । जापानियों द्वारा प्रशिक्षित सेना को भंग कर दिया गया । जापानी व्यापारी तथा मल्लाह कोरिया छोड़कर जापान लौटने लगे । रूस ने कोरिया के अन्दर सुधारों की लेशमात्र चिन्ता न की । क्योंकि वह कोरिया में अराजकता तथा अव्यवस्था चाहता था ताकि कोरिया पर नियंत्रण बना रहे । तथा वह रूस पर पूर्ण रूप से आश्रित बना रहे । रूस सुदूरपूर्व में अपने नियंत्रण को दृढ़करने के लिए ट्रांससाइबेरियन रेलवे का निर्माण कर रहा था और दूसरी ओर रूस के सैनिक अफसर, वित्तीय सलाहकार, नागरिक प्रशासक तथा व्यापारी, कोरिया की सेना, वित्त व्यवस्था, नागरिक प्रशासन, व्यापार पर अधिकार दृढ़ कर रहे थे । कोरिया पर रूस का बढ़ता प्रभाव जापान की सुरक्षा के लिए एक चुनौती था । जापान कोरिया को अपने सीने पर तनी हुई 'पिस्टल' समझता था और रूस के शक्तिशाली हाथों में 'इस पिस्टल' का होना जापान के लिए चिन्ता का विषय था । कोरिया में आपसी स्वार्थों के टकराव तथा बिगड़ते हुए संबंधों को सुधारने के लिए रूस-जापान के बीच उपसंधि हुई जिसे निशि-रोजेन संधि कहते हैं । दोनों देशों ने पुन: कोरिया की सार्वभौमिकता एवं स्वतंत्रता का आश्वासन दिया और दोनों कोरिया की सैनिक व वित्तीय पुनर्गठन में हस्तक्षेप न करने को राजी हो गये । लेकिन इससे कोरिया की समस्या का समाधान नहीं हुआ । समय-समय पर रूस कोरिया में सक्रिय हो उठता और कोरिया सरकार से बन्दरगाहों के उपयोग तथा अन्य रियायतों की मांग कर बैठता । उधर जापान कोरिया में अपनी स्थिति दृढ़ करने पर उतारू था जिस तरह से वह मंचूरिया में बढ़ रहा था । जापान की बढ़ती आबादी, देश का बढ़ता व्यवसायीकरण एवं आर्थिक प्रगति, जापान निर्मित माल की खपत के

लिए बाजारों की आवश्यकता,. राष्ट्रीय सुरक्षा की भावना, एवं साम्राज्यवाद के स्पप्न को साकार करने की अभिलाषा ने जापान को इस बात के लिए प्रेरित किया कि कोरिया पर वह अपना एकाधिपत्य स्थापित कर ले । आर्थिक क्षेत्र में जापान का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी अमेरिका था । वह भी कोरिया में बढते हुये जापान के आर्थिक प्रभाव को रोकने में असमर्थ था । अन्तत: जापान इस नतीजे पहुँचा कि रूस मंचूरिया में अपनी विशेष स्थिति की स्थापना कर ले और इसके बदले उसे कोरिया में विशेष स्थान प्राप्त करने दे । लेकिन रूस जापान के इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया जिसके अनुसार रूस और जापान का युद्ध अनिवार्य हो गया ।

13.7.2 मंचूरिया में रूस-जापान के स्वार्थ:

चीन के उत्तरी भाग में स्थित, उसके 18 प्रान्तों से महान दीवार द्वारा पृथक, उत्पादन की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण मंचूरिया 1895 के उपरान्त अर्न्राष्टीय दिलचस्पी. तथा हस्तक्षेप का विषय बन गया । सोयाबीन, गेहूँ तथा मोटै अनाज की प्रचुर मात्रा में उपज के कारण मंचूरिया भविष्य के लिये एक बडा भोजनागार बन सकता था । कृषि उपज के अतिरिक्त लकडी, कोयला, लोहा, सोना, जैसे खनिज पदार्थ का भी वहां बाहुल्य था । तीन लाख पैंसठ हजार वर्ग वाली मंचूरिया में उर्वरा भूमि में लियाओंतुंग प्रायद्वीप (जिसमें पोर्ट आर्थिक स्थित है) भी था जिस पर रूस, जापान तथा अनेक राष्ट्रों की दृष्टि गडी हुई थी । राजनीति व शासन की दृष्टि से मंचूरिया चीनी साम्राज्य का अविच्छिन्न अंग था और तत्कालीन मंचूवंश के शासक मूलत: यहीं के निवासी थे ।

मंचूरिया में कोरिया की भाँति रूस के स्वार्थ राजनीतिक व सामरिक अधिक थे आर्थिक कम । रूस के पोर्ट आर्थर तथा डालनी पर अधिकार के पूर्व सुदूरपूर्व में रूसी प्रसार के पीछे आर्थिक कारण थे । उत्तरी मंचूरिया में साईबेरियन रेलवे लाईन बिछानी की छूट प्राप्त करने के पीछे भी रूस का आर्थिक दृष्टिकोण था । वह शान्ति से चीन से आर्थिक जीवन में प्रवेश करना चाहता था । इस आर्थिक प्रवेश की आड़ू में रूस की कुत्सित राजनीतिक महत्वाकांक्षा भी छुपी हुई थी । रूस के चीन में इतने व्यापारिक हित विद्यमान न थे कि वह चीन सरकार से विशेष सुविधाओं व अधिकारों की मांग करता । वास्तव में, जिस प्रकार रूस टर्की को 'यूरोप का बीमार आदमी समझता था और उसके विघटन व विभाजन के लिए लालायित था उसी प्रकार उसकी दृष्टि में चीन 'एशिया का बीमार आदमी' था । जिसका विघटन किसी भी समय हो सकता था ।

रूस अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए उसने चीन से एक संधि की जिसमें उसने अपने को चीन रक्षक का प्रदर्शन किया । इससे उसकी राजनीतिक इच्छाएं खुलकर सामने आ गयी । 'उदित सूर्य के देश' की जनता के हितों की कीमत पर 'रूसी भालू तथा 'चीनी दैत्य' एक दूसरे के साथी हो गये । मंचूली से ब्लाडीवास्टक तक रेल लाइन 'चीनी पूर्वी रेलवे' बिछाने की आज्ञा प्राप्त कर रूस ने सुदूरपूर्व में प्रसार के लिए कदम उठाने शुरू कर दिये । चीन की रक्षा के घोषित इरादे के उपरान्त भी रूस ने चीन सरकार से 25 वर्षों के पट्टे पर पोर्ट आर्थर प्रापत कर लिया और शीघ्र पोर्ट आर्थर को सैनिक अड्डा बना लिया गया । अब रूस की नीति अधिकाधिक आक्रामक और मंचूरिया में सरकारी अधिकार हस्तगत करने की हो गयी । काउन्ट विटे का कहना था कि मंचूरिया की शतरंज पर अनेक रूसी चालों का उद्देश्य

राजनीतिक प्रसार था । रूस ने पोर्ट आर्थर को अड्डा बनाकर मंचूरिया पर नियंत्रण रखना चाहा । 1900 ई० के उपरान्त रूस ने मंचूरिया को चीनी नियंत्रण से मुक्त कराने का हर संभव प्रयत्न किया जिससे वह उसको रूसी साम्राज्य का एक प्रदेश बना सकें । चीन में रूस के बढ़ते हुए प्रसार को जापान के सैन्यवादी (गैवाटसू) बड़े ध्यान से देख रहे थे ।

इस बीच 1900 ई० में चीन में बाक्सर ब्रिदोह हुआ था । यह विदेश विरोधी विद्रोह था । 1895 ई० की चीन की अपमानजनक हार और उसके उपरान्त चीनी साम्राज्य की लूट-खसोट के विरुद्ध एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी । इन विद्रोहियों ने विदेशी दूतावासों, कार्यालयों को घेर लिया और विदेशियों को समुद्र में डुबो दो का घोष बुलन्द किया । पश्चिमी शक्तियों ने जापान से प्रार्थना की वह घिरे हुए विदेशियों को मुक्त कराने के लिए अपनी सेनाएं भेजे । जापान ने एक सेना पेकिंग भेज दी जिसकी संख्या यूरोपीय सैनिकों से कहीं अधिक थी । जापानी सेनाओं के साहस और अनुशासन ने पुन: समस्त शक्तियों को प्रभावित किया । बॉक्सर विद्रोहियों के कारण रूस का मंचूरिया में अधिकार स्थापित हो गया और रेलवेलाइन की सुरक्षा के लिए सैनिक भी तैनात कर दिये । विदेशी दूतावासों की सुरक्षा के अभियान में रूस ने भी भाग लिया । रूस ने यूरोपीय शक्तियों से कह दिया कि रूस का मंचूरिया पर सैनिक कब्जा अस्थायी है । और जैसे ही शान्ति स्थापित हो जायेगी रूसी सैनिक वापिस हो जायेंगे । लेकिन रूस ने मुकदेन के वायसराय के साथ एक संधि की जिसमें रूस ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया । अगर इस संधि को व्यवहार रूप से परिणित केर टिया जाता तो रूस का एकाधिकार तथा संरक्षण स्थापित हो जाता । इस उप संधि में पैंकिग में हल-चल मच गयी और चीन की सरकार ने मदद की याचना विश्व के देशों से की । रूस ने घोषणा की कि उसका मंचूरिया पर आधिपत्य करने का कोई इरादा नहीं है ।

लेकिन रूस ने सेना मंचूरिया से नहीं हटायी क्योंकि उसके इरादे से यह ज्ञात हुआ कि चीन से वह शर्तों को मनवाना चाहता है । चीन के मंत्री यांग तथा रूस के विदेश मंत्री लेम्सडोर्फ में एक गुप्त वार्ता हुई । इस समझौते का अर्थ था रूस का मंचूरिया पर व्यवहार रूप में अधिकार स्थापित हो जाना । इस समझौते का सुराग इंग्लैण्ड को भी चल गया और उसके विरोध के कारण रूस-चीन को यह समझौता त्यागना पड़ा । अमेरिका ने चीन में 'खुले द्वार' और 'प्रादेशिक अखण्डता' तथा अविच्छिन्नता की नीति का समर्थन किया । लेकिन रूस ने अमेरिका, इंग्लैंड तथा जापान के विरोध की कोई चिन्ता न की और मंचूरिया के प्रति आक्रामक एवं साम्राज्य, वादी नीति पर दृढ़ रहा, जैसे कि रूऐसी विदेश मंत्री लैम्सडोर्फ के अमेरिकी सचिव हे के विरोध पत्र के उत्तर में दिये गये शब्दों में स्पष्ट है, ' 'दो स्वतंत्र पूर्ण देशों के मध्य समझौते अन्य देशों की स्वीकृति पर आश्रित नहीं होते" । रूस द्वारा मंचूरिया में किये गये वायदों का उल्लंघन अन्त: रूस-जापान युद्ध में परिणित हो गया ।

सन् 1895 ई० से 1990 ई० के बीच ऐसी परिस्थितियां उत्पत्र हो गयी थी कि जिन्होंने रूस-जापान युद्ध को अवश्यंभावी बना दिव्य । कोरिया में रूस-जापान विरोधी स्वार्थ, नौसैनिक और व्यापारिक विकास के लिए 12 महीने काम आन वाले बन्दरगाह पर रूसी अधिकार की प्रबल आकांक्षा, रूसी-जापानी साम्राज्यवाद की टक्कर, अतल-जापानी समझौते आदि

में रूस-जापान युद्ध का ताना-बाना बुनकर तैयार कर दिया । 1902-1903 में कोरिया व मंचूरिया के प्रश्न आपस में जुड़ गये थे और जापान दोनों क्षेत्रों की समस्याओं के संयुक्त समाधान के लिए प्रयत्नशीन था । 1903 में जापान ने सेंट पिर्टसर्का में स्थित अपने राजदूत को आदेश दिया कि वह रूसी सरकार से दोनों देशों के पूर्वी हितों की पूर्ण व्याख्या के लिए बातचीत शुरू करें । रूसी सरकार के तैयार होने पर जापानी राजदूत ने अनेक प्रस्ताव विचार-विमर्श के लिए प्रस्तुत किये । जापान ने सुझाव रखा कि (1) दोनों देश चीन व कोरिया की जनता व प्रादेशिक अखण्डता का स्वागत करें और 'खुले द्वार' की नीति को लागू रखें । (2) रूस कोरिया में जापान के विशेष हितों को मान्यता दें और उनके विकास तथा कोरियायायी सरकार को सुधारों के लिए परामर्श की स्वतंत्रता दें । (3) जापान-रूस के विशेष हितों को मंचूरिया में स्वीकार करेगा । रूसी सरकार ने कुछ और सुझाव दिया कि (1) दोनों देश कोरिया की स्वतंत्रता का आदर करते हैं । (2) रूस कोरिया में जापान के विशेष हितों को स्वीकार करता है और जापानी विकास कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा । (3) कोरिया की भूमि सामरिक कार्यों के लिए प्रयोग नहीं की जायेगी और न ही तटों पर किलेबन्दी की जायेगी । (4) जापान स्वीकार करें कि मंचूरिया और उसके तटवर्ती क्षेत्रों में जापान का कोई हित नहीं है और यह क्षेत्र जापानी प्रभाव के बाहर रहेगा । (5) 39वे अक्षांश उत्तर में कोरियाई क्षेत्र को तटस्थ क्षेत्र बना दिया जाये । संक्षिप्त में, इन सुझावों का तात्पर्य था कि जापान रूस को चीन व मंचूरिया में खुली छूट दे दें और रूस जापान को कोरिया में केवल व्यवसायिक व औद्योगिक हितों के विकास का अवसर दें । जापान ने इन प्रस्तावों को थोड़ा और उदार करने को कहा किन्तु रूस अपने मूल प्रस्तावों पर अडिग रहा । जापान ने इस पर रूस से अपने कूटनीतिक संबंध विच्छेद कर लिये और फरवरी, 1904 ई० में युद्ध आरम्भ हो गया ।

चीन ने इस युद्ध में तटस्थता की घोषणा की । अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट व्यक्तिगत रूप से जापान के प्रति हार्दिक सहानुभूति रखते थे । लेकिन इस युद्ध में अमेरिका पूर्णरूपेण तटस्थ था । अमेरिका ने जर्मनी तथा फ्रांस को भी सूचित कर दिया कि सन् 1895 ई० की भांति मिलकर जापान के विरूद कोई कार्यवाही न की जाये । और अगर रूस का साथ दिया गया तो अमेरिका जापान का समर्थन करेगा । इंग्लैण्ड का 1902 ई० में जापान के साथ समझौता हो ही चुका था । इस विदेशी जनमत के कारण यह युद्ध रूस-जापान के मध्य ही सीमित रहा ।

10 फरवरी, 1904 ई० को जापानी सम्राट ने युद्ध की विधिवत घोषणा कर दी । यूरोप को और जार को इस पर आश्चर्य हुआ । यह युद्ध एक बौने और दैत्य के बीच था । बौना पूर्ण रूप से तैयार था, दैत्य नहीं । इस युद्ध में जापान की सेना और नौ सेना सुशिक्षित, अनुशासित तथा अक्षम, जबकि रूस की सेना कागज पर तो भयानक थी किन्तु उसका अनुशासन ढीला और नेतृत्व निम्न स्तर का था ।

रूसी-जापानी संघर्ष का सबसे निर्णायक युद्ध मुकदेन की लड़ाई 20 फरवरी से 16 मार्च, 1905 तक तीन सप्ताह से अधिक चला । इस लड़ाई में जापान का अधिकार स्थापित हुआ ।

इस युद्ध में डेढ़ लाख रूसी सैनिक और 50 हजार जापानी सैनिक हताहत हुए । रूसी सेनाओं को मंचूरिया से खदेड़ दिया गया ।

फ्रांस के प्रधानमंत्री डेलकासे ने दोनों देशों के बीच मध्यस्थता का सुझाव रखा, जापान ने फ्रांस की अपेक्षा अमेरिका की मध्यस्थता को मान्यता दी । अमेरिकन राष्ट्रपति के आग्रह पर दोनों देशों को शांति वार्ता के लिए आमंत्रित किया । यूरोप के सभी देश युद्ध नहीं चाहते थे । जर्मनी का रूस को कमजोर करने का ध्येय पूर्ण हो चुका था और फ्रांस की भी इच्छा थी कि इस युद्ध से मुक्त होकर फ्रैंको -रूसी संधि के दायित्वों को निभायें । रूस में आन्तरिक क्रांति की संभावनायें दिखायी पड़ रही थी । इंग्लैण्ड भी शान्ति का इत्सुक था । जल और थल पर जापान भी थक गया था ।

13.7.3 पोर्टस माऊथ की संधि

रूसी प्रतिनिधि काउन्ट वीटे तथा जापानी प्रतिनिधि वाइकाउण्ट कोला ने पोर्ट्समाऊथ के शांति सम्मेलन में भाग लिया । दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने अपनी ओर से ऐसी शर्तें रखी जो उनके राष्ट्र हित और जनमत के अनुकूल हो । विजयोन्मत्त जापान सखालीन तथा क्षतिपूर्ति के रूप में धनराशि की मांग रूस से की जिसके लिए काउण्ड विटे तत्पर न था । ऐसी प्रतीत होने लगा कि शांति-वार्ता विफल हो जायेगी । लेकिन अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट के प्रयलों के स्वरूप और देशों की आर्थिक परिस्थितियों ने रूस-जापान को आपस में समझौता करने के लिए विवश कर दिया । 5 सितम्बर, 1905 को पोर्ट्समाऊथ की संधि पर हस्ताक्षर हुए । इस सधि के अनुसार -

(1) जापान के कोरिया में सर्वोपरि राजनैतिक, सैनिक व आर्थिक हित स्वीकार कर लिये गये ।

(2) लियाओतुग प्रायद्वीप में रूस के जो अधिकार थे वे जापान को हस्तान्तरित कर दिये गये ।

(3) मंचूरिया रेल-लाइन की दक्षिणी शाखा जापान को दे दी गई ।

(4) 50वे अक्षांश के दक्षिण में स्थित सखालीन का भाग जापान को मिला ।

(5) रेल-लाइन के रक्षकों को छोड़कर जापान तथा रूस समस्त सैनिकों को मंचूरिया से हटा लें ।

(6) मंचूरिया के व्यापारिक तथा व्यवसायिक विकास के लिये चीन के ऐसे प्रयत्न जो सब देशों के लिये समान हो, उनमें रूस व जापान किसी प्रकार की बाधा न डालेंगे । तथा

(7) लियाओतुग प्रायद्वीप को छोड़कर, मंचूरिया में रेलवे-लाइनों का प्रयोग केवल औद्योगिक तथा व्यावसायिक कार्यों के लिये होगा, सामरिक कार्यों के लिए नहीं ।

13.7.4 परिणाम

संधि शर्तों का जब जापानी जनता को पता चला तो उन्होंने सरकार की 'मुलायम' संधि करने के लिए भर्त्सना की । जनता को विश्वास था कि चीन-जापान युद्ध की भांति अब की जापान को क्षतिपूर्ती के रूप में विशाल धनराशि प्राप्त होगी किन्तु रूस ने एक रूबल भी नहीं

दिया । टोकियो में विशाल प्रदर्शन हुआ और अखबार में सरकार की नीति की आलोचना की । कटसूरा सरकार का जनवरी - 1906 ई० में उसका पतन हो गया ।

इस विजय के परिणामस्वरूप वह दक्षिणी मंचूरिया में रूस का उत्तराधिकारी बन गया और कोरिया उसके नियंत्रण में आ गया । इस युद्ध में जापान को चीन ने यूरोपीय राष्ट्रों का प्रतिद्वन्द्वी बना दिया, चीन की लूट-खसोट में वह भी भागीदार बन गया । सन् 1910 ई० में कोरिया हड़प लिया, शान्तुंग पर कब्जा कर लिया और प्रथम विश्व युद्ध के दौरान चीन के सामने 21 मांगें रखी । इस युद्ध के बाद जापान का व्यापार, व्यवसाय तथा आर्थिक विकास बड़ी तेजी से हुआ । राष्ट्रों के परिवार में जापान का विश्व शक्ति के रूप में स्वागत हुआ । महाद्वीपीय प्रसार का उसका स्वप्न, जिसे त्रिपक्षीय हस्तक्षेप ने 1895 में धूमिल कर दिया था, अब यथार्थ हो उठा । उसकी इस विजय पर शक्तियों ने बधाइयां दी लेकिन दूसरी ओर जापान के इस शक्ति प्रदर्शन से वे चिताकुल हो उठे । सुदूर पूर्व में शान्ति सन्तुलन बिगड़ जाने के कारण उनके द्वारा जापानियों की प्रशंसा धीरे-धीरे घृणा में बदल गई ।

रूस-जापान युद्ध के प्रभाव यूरोप की राजनीति पर भी कम महत्वपूर्ण न था । युद्ध के दौरान में ही रूसी जनता ने जार की निरंकुशता का विरोध किया और राष्ट्रीय सभा (ड्यूमा) की स्थापना की मांग की । इस युद्ध के परिणामस्वरूप कुछ समय के लिए रोमोनावे साम्राज्य का सुदूर पूर्व में प्रसार रूक गया । रूस ने निकट पूर्व अथवा बात्कान प्रदेश में पुन: सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया । यूरोप में शक्तियों के गठ-बन्धन पर भी इसका प्रभाव पड़ा । इंग्लैण्ड रूसी पराजय के कारण द्विगुटात्मक संधि की शक्तियों (रूस-फ्रांस) के सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित हो गये जो अन्तत: 1906 ई० में ट्रिपिल एन्टेट में परिणित हुए ।

चीन भी जापान की विजय से विस्मित हो गया और उसके जागरण में इस युद्ध का विशेष योगदान है । चीन का पहली बार ध्यान जापान की ओर गया और चीन के विद्यार्थी जापान में शिक्षा प्राप्ति के लिए जाने लगे । सन् 1911 ई० में चीन में गणतंत्र का उदय रूस-जापान युद्ध तथा चीन में अन्तर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप का परिणाम था । एशिया की जनता में यह बात घर गई थी कि 'यूरोप अविजय है' किन्तु जापान की विजय ने इस आत्मविश्वास का भण्डाफोड़ कर दिया और एशिया ने भी पराधीन जनता को एक नई चेतना, स्फूर्ति तथा आत्मविश्वास प्रदान किया । सुरेन्द्रनाथ बनर्जी लिखते हैं "पूर्व में सूर्य का अरूणोदय हुआ" है । जापान ने उगते हुए सूर्य का अभिनन्दन किया है । सूर्य अपनी पूर्ण तेज के समय भारत के क्षितिज पर भी आयेगा और भारत को भी प्रकाशित करेगा" । जापान की विजय एशिया की स्वतंत्रता का प्रभात था ।

13.7.5 आंग्ल-जापानी समझौता 1902 ई०

आंग्ल-जापानी मैत्री इस युद्ध की एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना थी जिसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को व्यापक रूप से प्रभावित किया । सुदूर पूर्व में प्रसार के कारण जापान के सामने दो मार्ग थे

(1) रूस के प्रभुत्व व शक्ति प्रसार को सुदूर पूर्व में स्वीकार कर इन क्षेत्रों पर प्रभुत्व स्थापित करने में रूस का साथ दें । (2) दूसरा मार्ग इंग्लैण्ड से मित्रता था । जर्मनी के विचारानुसार रूस जापान समझौते के कारण, रूस सुदूर पूर्व की ओर से आश्वस्त होकर यूरोप की ओर ध्यानाकर्षण के लिए स्वतंत्र हो जायेगा । परन्तु इंग्लैण्ड और जापान की संधि सुदूर पूर्व में एक शक्तिशाली चुनौती बन जायेगी । जापान की विदेश नीति का उद्देश्य चीन की प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा, 'उज़क्त द्वार' की नीति का समर्थन एवं कोरिया में अपने हितों की रक्षा था । इंग्लैण्ड का भी सुदूर पूर्व में यही उद्देश्य था । बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उत्पन्न कुछ कारणों ने इंग्लैण्ड को शानदार एकाकीपन की नीति त्यागने को विवश कर दिया । 1894 ई० तक यूरोप दो गुटों में- इटली, जर्मनी तथा आस्ट्रिया एवं फ्रांस तथा रूस में विभक्त हो चुका था । इंग्लैण्ड के उप निवेश सचिव चेम्बरलेन की जर्मनी से मित्रता की चेष्टा तीव्रता से परिवर्तित होने वाली, अस्थिर जर्मन-विदेश नीति व अनेक आशंकाओं के कारण परिपूर्ण न हो सकी । 1897 ई० में इंग्लैण्ड तथा जापान सुदूरपूर्व में रूस की गति विधियों से चिंतित थे । 1 मार्च को अंग्रेजी संसद में घोषित किया गया कि इंग्लैण्ड चीन में अपने हितों के प्रति जागरूक है और वह उत्तरी चीन से रूस को जापानी मदद से बाहर निकाल देगा । 17 मार्च को चेम्बरलेन-केटो के मध्य वार्ता में रूसी गति विधियों पर चिंता व्यक्त की गई । 1901 ई० में टोकियो में नियुक्त रूसी मंत्री इसबोलस्की में रूसी-जापानी सहयोग का प्रस्ताव रखा लेकिन इंग्लैण्ड इस संधि के विरुद्ध था । इंग्लैण्ड का विश्वास था कि यदि वह जापान से मित्रता नहीं करेगा तो वह रूस की ओर मित्रता का हाथ बढ़ा देगा । जापान का विचार था कि यदि रूस से समझौता न हुआ तब युद्ध की स्थिति उत्पत्र हो सकती है । जापान 1895 ई० की पुनरावृत्ति नही चाहता था । अत: 1902 ई० में उसने फ्रांस-रूस गुट की शक्ति को संतुलित करने के एक ओर जर्मनी से तटस्थता का आश्वासन प्राप्त किया, दूसरी ओर इंग्लैण्ड से संधि कर ली ।

1902 ई० में की गई इंग्लैण्ड तथा जापान की संधि का उद्देश्य दोनों राष्ट्रों के अनुसार सुदूर पूर्व में शांति की स्थापना एवं पूर्व स्थिति को बनाये रखना था । यह तथ्य भी स्वीकार किया गया कि ब्रिटेन के स्वार्थ मुख्य चीन में तथा जापान के चीन और कोरिया में है । दोनों राष्ट्रों ने अपनी रक्षा के लिए आवश्यक कदम उठाने का निश्चय किया । इस संधि का काल पांच वर्ष निश्चित किया गया ।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के इतिहास में आधुनिक युग की यह प्रथम संधि थी जो समानता के आधार पर स्थापित की गई थी । इस संधि द्वारा विश्व की राजनीति में एक नवीन युग का प्रादुर्भाव हुआ तथा इंग्लैण्ड द्वारा जापान की महत्वाकांक्षाओं और उसके विश्व शक्ति बनने के प्रयासों को स्वीकृति प्रदान की गई । 19वीं शताब्दी के अन्त में प्रारम्भ किये गये प्रसारवादी जापानी कार्यक्रमों को भी मान्यता प्रदान कर दी गई । इस संधि से जापान में आत्म विश्वास का उदय हुआ और वह बाह्य हस्तक्षेप के भय मुक्त होकर रूस से निबट सकने की स्थिति में आ गया । इस संधि के बाद जापान के विरुद्ध शक्तियों का संध निर्मित नहीं किया जा सकता था । यह संधि इंग्लैण्ड के लिए भी उतनी ही महत्वपूर्ण थी जितनी जापान के लिए थी । इंग्लैण्ड का ' शानदार अलगाव' साम्राज्य की सुरक्षा के लिए खतरनाक था । इस संधि से रूस

का सुदूर पूर्व में प्रसार रोक दिया गया तथा जापान को शक्तिशाली बना दिया गया । इस प्रकार इंग्लैण्ड ने हांगकाग, मलाया, बर्मा तथा भारत में अपने राजनैतिक तथा व्यापारिक हितों की रक्षा की । जापान के राजनीतिज्ञों ने इसे एक 'आदर्श संधि' माना क्योंकि यह राष्ट्रों के स्वार्थ के अनुकूल तथा एशिया में शान्ति स्थापना में सहायक थी ।

13.8 जापानी साम्राज्यवाद तथा प्रथम विश्व युद्ध

1914-18 ई० के उपरान्त यह स्थिति बन गई कि जापान संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्रों में गिना जाने लगा और उसकी जल सेना का विश्व में तीसरा स्थान था ऋण लेने वाले के स्थान पर वह ऋण देने वाला बन गया था । आयात-निर्यात का संतुलन जापान के पक्ष में हो गया । अपर्याप्त स्वर्ण प्रारक्षण (गोल्ड रिजर्वस) की जगह उसके पास अतिरिक्त सोना था । उत्पादन के पश्चिमी साधनों को अपनाकर उसने अपने बाजारों का विकास कर लिया और धीरे-धीरे जापान द्वारा निर्मित वस्तुएं विश्व बाजारों में स्थान पाने लगी । आर्थिक समृद्धि से भरपूर, सैनिक दृष्टि से पूर्ण तैयार, संसार की शक्तियों की निगाहों में महान जापान के लिए यह स्वाभाविक था कि पूर्वी एशिया में अपने प्रभुत्व का दावा कर साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रयत्नशील हो । जब राज शक्ति अतिशयता तथा सैनिकवाद का किसी राष्ट्र में उदय होता है तो वे मधान्द हो निर्बल देशों को अपने साम्राज्यवाद का शिकार बनाने लगते हैं । जापान इस ऐतिहासिक तथ्य का अपवाद नहीं है वरन प्रथम विश्व युद्ध जापान की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति की स्वर्णिम अवसर के रूप में आया । जब यूरोप की शक्तियां अपने अस्तिव के लिए एक दूसरे से आत्मघाती विश्व युद्ध में सूझ रही थी तब बाहम हस्तक्षेप के भय से मुक्त जापान को अपने साम्राज्य विस्तार का पूर्ण अवसर मिला । विश्व की बदलती हुई राजनैतिक परिस्थिति तथा आन्तरिक तैयारी के कारण ही जापान सुदूर पूर्व में अपना प्रभुत्व, चाहे वह अस्थायी क्यों न हो, जमा सकने में सफल हुआ था ।

13.9 साम्राज्य-प्रसार के कारण

1972 के पश्चात आबादी में वृद्धि के कारण जापान को पश्चिमी राष्ट्रों की ही भांति उप-निवेशों की आवश्यकता का अनुभव हुआ । पाश्चात्य देश अपनी बढ़ती आबादी के लिए उपनिवेश प्राप्त कर चुके थे । प्रारम्भ में जापानी संयुक्त राज्य अमेरिका - के विशाल मैदानों मे जाकर बस गये जिनकी संख्या 1920 ई० तक 1,10,000 हो गयी थी । अत: अमेरिका संघ तथा उसके विधि राज्यों ने प्रतिबंध लगा दिये ।

ज्ञान विज्ञान एवं तकनीकीकरण के कारण जापान का आर्थिक विकास एवं व्यवसायिक उन्नति अत्यन्त तीव्रता के साथ हुई । अत: जापान को ऐसे बाजारों की आवश्यकता थी जहां उत्पन्न वस्तुएं सुरक्षित रूप से बेची जा सकें व कच्चा माल कम मूल्य पर प्राप्त किया जा सकें । इसके लिए जापान को उपनिवेशों की आवश्यकता थी । उग्र राष्ट्रवाद एवं सैनिकवाद में जापान को साम्राज्य विस्तार की प्रेरणा दी । 19वीं शताब्दी के अन्त और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उपनिवेश का होना राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक माना जाता था । विश्व शक्ति बनने के इच्छुक जापान साम्राज्य विस्तार के लिए अत्यन्त लालायित था ।

1895 ई० में फ्रांस, रूस तथा जर्मनी के त्रिपक्षीय हस्तक्षेप में जापान की प्रसारवादी भावनाओं को चोट पहुंची थी इस घटना से जापान की प्रसारवादी भावना और भी बलवती हो उठी थी । प्रसारवादी सभाओं के प्रचार ने जापान को आक्रामक नीति अपनाने की प्रेरणा दी । प्रसारवादी लेखकों एवं दार्शनिकों ने भी इस नीति को अपनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया । एशिया पर जापानी प्रभुत्व की स्थापना उसका ध्येय था । अमेरिका नौसैनिक अधिकारी अल्फ़ेड थेयर महान के प्रसिद्ध ग्रंथ 'दी इनफ़्लूएन्स ऑफ सी पावर अपऑन हिस्ट्री' ने जापानियों को विशेषतया विश्व-विख्यात जापानी एडमिरल टोगो को विशेष रूप से प्रभावित किया । इंग्लैण्ड और जर्मनी के मध्य हो रही नौ सैनिक प्रतिद्वन्द्विता को जापान बड़े ध्यान से देख रहा था । जापानियों ने तेजी के साथ अपनी नौसेना का विकास करना आरम्भ किया । औपनिवेशिक विकास बिना नौसेना के' असंभव है ।

13.10 फारमोसा पर प्रभुत्व

फारमोसा को ताइवान द्वीप भी कहा जाता है । फारमोसा जापान के दूर दक्षिण में एक रक्षक चौकी थी । फारमोसा द्वारा ही फूकिन प्रान्त से उत्तर के समस्त चीनी समुद्र तट पर प्रवेश एवं नियंत्रण स्थापित किया जा सकता था । फारमोसा एक आर्थिक बोझ बना हुआ था । आधुनिक युग में फारमोसा जापान के प्रथम सफल युद्ध का प्रतीक था । 1914 ई० तक वहां के उत्तरी पठार के आदिवासियों के दमन के लिए उसे वहां अधिक मात्रा में सैनिक रखने पड़ते थे । बन्दरगाह, रेलमार्ग, पाठशालाओं तथा सड़क निर्माण में जापान पर्याप्त समय से धन व्यय कर रहा था । प्रथम विश्व युद्ध के समय तक ही यहां का प्रशासन लगभग स्वावलम्बी बन सका था । आर्थिक दृष्टि से जापान यहां से अफीम, कपूर, नमक तथा सीमित मात्रा में अफीम प्राप्त करता था । इन सभी व्यापार पर सरकारी एकाधिकार था । चाय तथा चीनी का निर्यात होता था । 65 लाख येन की मछली तथा अन्य समुद्री फसल हर वर्ष होती थी । इसके अतिरिक्त सोना, कोयला व खनिज तेल भी यहां था । जापान के अतिरिक्त चीन व अमेरिका भी थोड़ा बहुत व्यापार फारमोसा से करते थे । फारमोसा का जापानीकरण और उपनिवेशीकरण के अनेक प्रयासों के बाद भी जापानी लोग बहुत बड़ी संख्या में यहां आकर नहीं बस पाये थे । 1925 ई० तक बसने वाले जापानी नागरिकों की संख्या केवल 1,87,000 थी । फारमोसा में समय-समय पर जापानी शासन के विरुद्ध विद्रोह हुए लेकिन उन विद्रोह को दबा दिया गया ।

13.11 कोरिया पर प्रभुत्व

1894-95 ई० के चीन-जापान युद्ध ने चीनी प्रमुख को कोरिया से समाप्त कर दिया था और रूस और जापान में तहां अधिकार के लिए संघर्ष होने लगा था । 1905 ई० में रूसी पराजय और पोर्टसमाऊथ की संधि ने जापान के कोरिया में सर्वोपरि 'राजनीतिक' सैनिक व आर्थिक हित स्वीकार कर लिए । 1905 ई० में इंग्लैण्ड के साथ पुर्नरक्षित समझौते से आश्वस्त हो जापान ने कोरिया को संरक्षित राज्य बना दिया और ईटो यहां के सबसे बड़े अधिकारी नियुक्त हुए । 1910 ई० में कोरिया का शासक एवं जापान साम्राज्य के मध्य एक अधिनयन

संधि हुई और कोरिया को जापानी साम्राज्य में आत्मसात कर लिया गया । इस -प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व समाप्त हो गया ।

जापान शासन की अधीनता में कोरिया की आर्थिक स्थिति के पर्याप्त सुधार हुआ । फारमोसा की भांति सड़क निर्माण, रेल निर्माण एवं बन्दरगाहों का सुधार किया गया । बिजली, डाकखाने, तारघर, बैंक एवं कल-कारखानों की व्यवस्था की गई । नयी भूमि पर खेती के आरम्भ, खेती की प्रणाली में सुधार, सफाई के अच्छे तरीके, आधुनिक बैंकों की स्थापना आदि के कारण उद्योग बढ़े तथा आयात-निर्यात में बढ़ोत्तरी हुई । इससे कोरिया को भी लाभ हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय षड्यंत्र भी समाप्त हो गये ।

13.12 मंचूरिया में जापान

रूस-जापान युद्ध के बाद पोर्टसमाऊथ की संधि द्वारा जापान ने मंचूरिया के लियाओतुंग प्रायद्वीप में वह अधिकार प्राप्त कर लिये थे जो पहले रूस को प्राप्त थे । मंचूरिया रेलवे के दक्षिण भाग पर भी जापान को अधिकार प्राप्त हो गया था । जापान ने मंचूरियन रेलवे की व्यवस्था के लिए दक्षिण मंचूरियन रेलवे कम्पनी का निर्माण किया जिसे अत्यन्त व्यापक अधिकार प्रापत थे । यह कम्पनी रेलवे लाइनों की रक्षा, स्कूल, अस्पतालों की व्यवस्था, शोध कार्य के लिए प्रयोगशालाएं चलाने, बिजली उत्पादन का कार्य देखना, होटल एवं बन्दरगाहों की व्यवस्था आदि कार्यों का संचालन करती थी ।

इस कम्पनी ने मंचूरिया के आर्थिक विकास में अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया । 1908 ई० में मंचूरिया के विदेशी व्यापार की मात्रा 4 करोड़ तायल से बढ़कर 10 करोड़ तायल तक पहुंच गयी । 1920 ई० में इस व्यापार का मूल्य 54 करोड़ तायल से भी अधिक था । यह विदेशी व्यापार मुख्य रूप से जापान के साथ होता था । सोयाबीन, गेहूं बाजरा, मक्का, जौ, चावल, कपास आदि जापान में जाते थे और जापान का निर्मित माल बड़ी मात्रा में मंचूरिया के बाजारों सें बिकता था ।

जापानी व्यापारी बड़ी संख्या में मंचूरिया में बस रहे थे जो स्वयं को चीनी कानून एवं न्यायालयों के आधीन मानते थे । जापान सरकार की दृष्टि में मंचूरिया में रहने वाले जापानियों का उत्तरदायित्व उसी का था । जापानी सरकार ने चीन की दुर्बलता का लाभ उठाकर मंचूरिया रेलवे क्षेत्र के बाहर अनेक चौकियां अनाधिकृत रूप से स्थापित कर लीं थी । विदेशी पुलिस की सत्ता मंचूरिया की राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए घातक था । जापान की बढ़ती शक्ति के सम्मुख चीनी सरकार अपने को सर्वथा असहाय अनुभव करती थी और उसका विरोध करने में असमर्थ थी । 1914 ई० के प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ होने के समय तक मंचूरिया पर जापान का प्रभाव व प्रभुत्व भलि भांति स्थापित हो चुका था । राजनैतिक व कानूनी दृष्टि से अभी भी मंचूरिया चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत उसका एक अभिन्न भाग था, उसमें भी सन्देह नहीं है कि दक्षिणी और दक्षिण-पूर्व मंचूरिया पर जापान के प्रभुत्व का विस्तार तीव्र गति से हो रहा था ।

जापान युद्ध छिड़ने के बाद इस युद्ध में तटस्थ रह सकता था और रहना भी नहीं चाहता था । प्रारम्भ में इंग्लैंड के विदेश सचिव एडवड को आशा थी कि जगपान से इस युद्ध में

सहायता लेना आवश्यक है । इंग्लैण्ड वस्तुत: जापान को युद्ध से दूर रखना चाहता था किन्तु युद्ध की घोषणा के बाद अपनी सामरिक आवश्यकताओं के कारण इंग्लैण्ड को जापान के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ा । 7 अगस्त, 1914 को टोक्यो स्थित ब्रिटिश राजदूत ग्रीन ने जापानी विदेश मंत्री केटो के सम्मुख ब्रिटिश सरकार का स्मृति पत्र रखा जिसमें कहा गया था कि "यह अत्यन्त आवश्यक है कि जापानी नौ सेना यदि संभव हो सकें अंग्रेजी व्यापार को क्षति पहुंचाने वाले जर्मन व्यापारिक जहाजों का पीछा कर उनका विनाश कर दें । ब्रिटिश सरकार की प्रार्थना का अर्थ था जर्मन से युद्ध । जापान इस युद्ध में शामिल तो होना चाहता था लेकिन केवल इसलिए नहीं कि वह अंग्रेजी सामरिक जरूरतों की पूर्ति मात्र करें" । सुदूरपूर्व और भारत में शान्ति स्थापना हेतु ब्रिटेन व जापान में पहले से ही मैत्री संधि हो चुकी थी । ब्रिटिश सरकार ने स्मृति पत्र पर जिसमें जापान से अंग्रेजी व्यापार को क्षति पहुंचाने वाले जर्मन जहाजों को नष्ट करने को कहा गया था । विचार करने के लिए गोष्ठी बुलायी गयी । कैटो ने इस प्रार्थना को स्वीकार करने के लिए तर्क पूर्ण आग्रह करते हुए कहा कि सुदूरपूर्व से जर्मन प्रभाव को समाप्त करने एवं जापान की स्थिति को अन्तर्राष्ट्रीय रूप से सफल बनाने का यह उचित मार्ग है । अत: जापान सुदूरपूर्ब में जर्मनी के प्रभुत्व को नष्ट कर स्वयं की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को बढ़ाना चाहता था ।

इस युद्ध में जापान तटस्थ रह सकता था, मित्र राष्ट्रों का साथ दे सकता था अथवा जर्मनी का भी साथ दे सकता था । जापान को तीनों दृष्टिकोणों का समर्थन प्राप्त था । यह संभव था कि अगर जर्मनी जापान की मांगों को मान लेता तो वह जर्मनी के विरुद्ध न जाता । जापान ने मित्र राष्ट्रों का साथ देने की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए युद्ध में शामिल होने की सूचना इंग्लैण्ड को दे दी । 23 अगस्त को जापान ने युद्ध की घोषणा कर दी । चीन ने अपनी तटस्थता बनाये रखी । 15 अगस्त को जापान ने जर्मनी को अल्टीमेटम भेज दिया था जिसमें कहा गया था कि जर्मनी शांतुंग प्रान्त के विशोषाधिकार 15 सितम्बर तक त्याग दे ताकि चीनी सरकार को वापिस किये जा सकें । एक सप्ताह की निर्धारित अवधि में उत्तर प्राप्त न होने पर जापान ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी । जापानी सेना ने जर्मनी की त्सिंगताओ से बलपूर्वक निकालने का प्रयत्न करने लगी । इस प्रकार जापानी सेनाओं ने 27 अगस्त को क्वाऊचाऊ की खाड़ी में स्थित जर्मनी के गढ़ और दुर्ग जापानियों के अधिकार में आ गये । शेष संसार को जापानी युद्ध के ध्येय की सूचना देने के लिए ओबूमा ने विश्व समाचार पत्रों में प्रकाशित किया कि - ' 'जापान की कोई क्षेत्रीय आकांक्षा नहीं है और वह पूर्व में शान्ति के संरक्षक के रूप में खड़ा होना चाहता'' । 7 नवम्बर को त्सिंगताओं के पतन के उपरान्त जापान ने शान्तुंग प्रान्त पर भी आधिपत्य स्थापित करना शुरू कर दिया तथा चीन की तटस्थता तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की ओर ध्यान न देकर जापान ने शान्तुंग प्रदेश के सम्पूर्ण रेल मार्ग के क्षेत्र का प्रशासन व सुरक्षा दायित्व संभाल लिया । जापानी सेना ने प्रशान्त महासागर में जर्मनी के सैनिक अड्डों- मार्शल, मेरिआनाज, कैरोलिन्स, आदि पर आधिपत्य स्थापित कर दिया । उसके बाद जर्मन जहाजों को क्षति पहुंचाना आरम्भ कर दिया जो मित्र राष्ट्रों के व्यापार को आघात पहुंचा रहे थे । इंग्लैण्ड की सरकार की प्रार्थना पर जापानी विध्वंसक जहाजों की एक टुकड़ी भूमध्य सागर में मित्र राष्ट्रों के सहायतार्थ पहुंची ।

फ्रांस, ब्रिटेन, तथा रूस ने जापान को वचन दिया कि युद्ध के उपरान्त जापानी मांगों का समर्थन करेंगे । जापान ने मित्र राष्ट्रों के प्रति युद्ध के दायित्वों को निभाते हुए हिन्द महासागर से दक्षिणी अमेरिका के समुद्र तट तक रक्षा की । जर्मनी के प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत चीनी क्याऊचाऊ तथा शान्तुंग के प्रदेशों पर जापान ने अधिकार कर एशिया महाद्वीप में अपनी प्रसारवादी नीति को बढ़ावा देता रहा । निश्चित रूप से जापान ने अपनी साम्राज्यवादी नीति के कारण युद्ध में प्रवेश किया । किन्तु मित्र राष्ट्रों की पश्चिमी मोर्चे पर जापानी थल सेनाओं को भेजने की प्रार्थना की, लेकिन जापान ने ठुकरा दी । विदेश मंत्री कैटों ने थल सेनाओं को पश्चिमी मोर्चे पर भेजने से इसलिए इन्कार कर दिया कि इससे उसके देश की सुरक्षा व्यवस्था कमजोर पड़ जायेगी ।

13.13 इक्कीस मागें

1914 ई० के अन्त में जर्मनी का विरोध और सैनिक क्षेत्र स्थापित रखने की आवश्यकता पर चीनी राष्ट्रपति युआनशिकाई ने जापान को सूचित किया कि पट्टे के क्षेत्र को छोड़कर शेष शान्तुंग प्रदेश मे पुन: चीन की तटस्था स्थापित होगी । इसे अमैत्रीपूर्ण कार्य मानते हुए 18 जनवरी, 1915 को चीनी राष्ट्रपति के सामने इक्कीस मांगे रख दी । इतना ही नहीं जिस कागज पर मांगे थी उस पर मशीनगनों तथा विध्वंसक पनडुब्बियों आदि के चित्र भी अंकित थे । राष्ट्रपति को समझौते की बात को पूर्ण होने तक इन मांगों को गुप्त रखने को कहा लेकिन शीघ्र ही सम्पूर्ण विश्व को इन मांगों के विषय में ज्ञात हो गया । इस पर जापान ने कहा कि केवल 11 मांगें रखी गयी हैं और अन्त में कहा गया कि मांगें तो 21 हैं परन्तु मांगों का पांचवां समूह केवल चीनी सरकार के विचार के लिए प्रस्तुत किया गया है

अपनी मांगों को स्वीकार कराने के लिए जापान ने चीनी राष्ट्रपति युआन पर दबाव डाला और मांग पूर्ण न होने पर सैन्य बल की धमकी भी दी गयी । दूसरी ओर यह भी कहा कि युआन के व्यक्तिगत शासन के विरोधी जापान में एकत्र चीनी उपद्रवियों को जन-धन की सहायता से शक्तिशाली बना दिया जायेगा और वे युआन के लिए खतरा बन जायेंगे । इसके पश्चात यह भी कहा गया कि जापान-चीन में राजतंत्र की स्थापना में मदद करेगा । जापान की मांगों को पांचसमूहों में विभाजित कर उन पर विचार का सुझाव रखा गया जिसमें कम आपत्तिजनक मांगों को स्वीकार कर अदीक आपत्तिजनक मांगों से बचा जा सकें । इन मांगों के प्रथम समूह में शान्तुंग प्रदेश से संबंधित चार मांगें थी जिसमें चीन से कहा गया था जर्मनी या जापान के मध्य होने वाले समझौते को चीन स्वीकार करें व शान्तुंग का कोई भी प्रदेश किसी अन्य राष्ट्र को न दें । जापानी पूंजीपतियों को चेफू - वहिसीन रेलमार्ग के निर्माण का अधिकार प्रदान किया जाये । इस प्रान्त में विदेशियों के निवास तथा आपार के लिए स्थान खोलें जायें । द्वितीय समूह की सात मांगों में दक्षिणी मंचूरिया तथा भीतरी मंगोलिया पर जापानी नियंत्रण की वृद्धि, इसी क्षेत्र में जापानियों को सम्पत्ति रखने, पट्टे पर देने, यात्रा, व्यापार, व्यवसाय, सोने खोदने की स्वतंत्रता, मंचूरिया तथा भीतरी मंगोलिया में विदेशी राजनीतिक, सैनिक, तथा वित्तीय सलाहकारों की नियुक्ति सेपूर्व जापान के अनुमोदन की बात की । चौथे समूह में चीन द्वारा किसी बन्दरगाह, खाड़ी या प्रायद्वीप को किसी अन्य शक्ति को न देने की मांग थी ।

सात मांग वाले पांचवें समूह द्वारा चीन का नियंत्रण अपने मामलों में बिल्कुल समाप्त हो जाता है । सैनिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में प्रभावकारी जापानी परामर्शदाताओं की नियुक्ति, महत्वपूर्ण स्थानों में पुलिस का संयुक्त चीनी-जापानी संगठन, युद्ध सामग्री की कम से कम आधी या उससे अधिक की जापान से खरीद, चीन व जापान द्वारा संयुक्त रूप से संचालित शस्त्रागार आदि इन मांगों में शामिल थे । मांगों का पांचवां समूह वार्ता से हटा दिया गया किन्तु अन्य मांगों को निश्चित अवधि के बीच स्वीकार करने की चेतावनी दी गयी अन्यथा बल प्रयोग की धमकी दी गयी । अत: चीन की सरकार को जापान की धमकी के सामने झुकना पड़ा और 25 मई, 1915 को चीन-जापान की सरकारों के मध्य समझौता हो गया ।

जापान की इन मांगों के फलस्वरूप 1915 में संधियां हुई । जापान ने बल प्रयोग की धमकी द्वारा सभी अधिकार प्राप्त कर लिये । युद्ध में संलग्न यूरोपीय शक्तियां जापान की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को रोकने की स्थिति में न थी । 1915 ई० के पश्चात् जापान चीन में निरन्तर अपनी शक्ति का विस्तार करता रहा । 1915 ई० के चीन-जापान समझौते को मान्यता दिलाने के लिए तत्कालीन परिस्थितियां अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई । 1916 ई० में जापानी समाचार पत्रों ने आग्ल जापानी मैत्री के विरुद्ध लिखना आरम्भ किया एवं इसे 'एक पक्षीय' अनुचित घोषित कर इसकी समाप्ति की मांग की । इस समय मित्र राष्ट्रों के उद्देश्य में जापान की निष्ठा समाप्त होने लगी । जापान मित्र राष्ट्रों से मित्र बने रहने का मूल्य मांगने लगा ।

इन संधियों के पश्चात केवल अमेरिका ने ही एशिया महाद्वीप पर जापान की साम्राज्यवादी भावना को मान्यता प्रदान नहीं की थी, वह अब भी जापान के विरोध की स्थिति में था । 1917 ई० में युद्ध में शामिल होने के पश्चात अमेरिका राजनीतिज्ञों ने जापान से समझौते की आवश्यकता अनुभव की । नवम्बर 1917 में शत्रु भावना की अफवाहों की खण्ड करते हुए अमेरिकी मंत्री लेन सिंह व जापान के अमेरिकी स्थिति दूत ईशी के मध्य पत्र व्यवहार से एक समझौता हुआ । इस समझौते के अनुसार अमेरिका ने स्वीकार किया कि भोगोलिक निकटता के कारण चीन में जापान के विशिष्ट हित निहित हैं । अमेरिका ने जापान के चीन में और विशेषकर जापानी भूमि के निकटवर्ती चीनी क्षेत्रों में विशेषाधिकारों को मान्यता तो प्रदान कर दी । परन्तु इन विशेषाधिकारों की सीमा निर्धारित नहीं की गयी । इस समझौते के द्वारा दोनों देशों ने चीन की अभिक्षेत्रीयता तथा 'उन्मुक्त द्वार' नीति की निष्ठा प्रकट की ।

इस विश्व युद्ध के द्वारा जापान ने अपनी साम्राज्य वादी नीति का प्रसार किया एवं विश्व की पांच प्रमुख शक्तियों में उसे स्थान प्राप्त हो गया । जापानी उद्योग व व्यवसाय की उन्नति हुई । प्रथम विश्व युद्ध के दौरान जापान को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा एवं आर्थिक समृद्धि प्राप्त हुई ।

13.14 बोध प्रश्न

प्र0 1. सुदूर पूर्व में जापान के साम्राज्यवाद पर एक लेख लिखिए ।

प्र0 2. जापान के आधुनिकीकरण से आप क्या समझते हैं ।

प्र0 3. क्या प्रथम विश्व युद्ध के लिए जापानी साम्राज्यवाद उत्तरदायी था?

इकाई - 14

साम्राज्यवाद - चीनी और भारतीय साम्राज्यवाद का अध्ययन- उसका स्वभाव एवं विकास

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 साम्राज्यवाद का अर्थ

14.3 उपनिवेशवाद द्वारा साम्राज्यवाद की उत्पत्ति

14.4 साम्राज्यवाद की प्रकृति एवं उसके वर्ग

14.5 उपनिवेशवाद की प्रगति के कारण

14.5.1 औद्योगिक क्रांति

14.5.2 आर्थिक विनियोग

14.5.3 सैन्य आवश्यकताएं

14.5.4 ईसाई धर्म का प्रचार

14.5.5 राष्ट्रीय गौर व या सम्मान

14.6 चीन में साम्राज्यवाद - उसकी प्रकृति, विकास एवं पतन

14.6.1 चीन में साम्राज्यवाद की प्रकृति

14.6.2 चीन में साम्राज्यवाद का विकास

14.6.3 चीन में साम्राज्यवाद का पतन

14.7 भारत में साम्राज्यवाद - उसकी प्रकृति, विकास एवं पतन

14.7.1 भारत में साम्राज्यवाद का विकास

14.7.2 भारत में साम्राज्यवाद का पतन

14.8 चीन और भारत में साम्राज्यवाद-समानताएं तथा असमानताएं

14.9 साम्राज्यवाद का प्रभाव

14.9.1 आधुनिकीकरण

14.9.2 आर्थिक शोषण

14.9.3 जातीय मतभेद

14.9.4 अन्तर्राष्ट्रीय कलह के कारण प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ

14.10 उपसंहार

14.11 बोध प्रश्न

14.12 संदर्भ ग्रंथ

14.0 उद्देश्य

इस इकाई (unit) में आप निम्न लिखित विषयों का अध्ययन करेंगे -

- साम्राज्यवाद का अर्थ और किस प्रकार इसके द्वारा उपनिवेशवाद की उत्पत्ति ।
- साम्राज्यवाद की प्रकृति तथा उसका वर्गीकरण ।
- साम्राज्यवाद का विकास और वे कारण जिसके द्वारा इसका विकास हुआ ।
- चीन में साम्राज्यवाद- इसकी प्रकृति, विकास एवं पतन ।
- भारत में साम्राज्यवाद - इसकी प्रकृति, विकास एवं पतन ।
- चीन और भारत के साम्राज्यवाद की समानताएं तथा असमानताएं । और
- साम्राज्यवाद का प्रभाव

14.1 प्रस्तावना

एशिया महाद्वीप संसार के समस्त महाद्वीपों में सबसे बड़ा है । इसके अतिरिक्त जनसंख्या की दृर्ष्टि से भी यह समस्त महाद्वीपों से अधिक जनसंख्या वाला प्रदेश है । संसार की आधी से अधिक जनसंख्या एशिया महाद्वीप में निवास करती है । एशिया महाद्वीप के देशों में चीन और भारत क्षेत्रफल एवं जनसंख्या की दृष्टि से प्रमुख देश हैं तथा ये देश संसार की सबसे प्राचीन एवं समृद्ध सभ्यता के केन्द्र भी रहे हैं । भारत की सिंधु घाटी सभ्यता और चीन की सभ्यता को संसार की सबसे प्राचीन सभ्यता होने का गौरव प्रापत है । संसार के प्रमुख धर्मों - जैसे हिन्दू धर्म, जैन धर्म, और बौद्ध धर्म तथा चीन के कनक्यूशियनिजम धर्म का उदय इसी एशिया महाद्वीप की भूमि से हुआ है ।

परन्तु मध्य युग एवं प्रारंभिक आधुनिक युग में विशाल प्राकृतिक स्रोतों का दोहन- खनिज, आर्थिक तथा अन्य मानवीय स्रोतों के रूप में चीन तथा भारत में बहुत अल्प तथा धीमी गति से था । वास्तव में इस क्षेत्र में ये देश एक अज्ञात क्षेत्र थे । सन् 1453 ई० में जब तुर्कों ने कुस्तुनतुनिया (Constantinopla) पर अपना अधिकार स्थापित किया तथा 1776 ई० में अमेरिका (U.S.A.) का जन्म हुआ और 1823 ई० में अमेरिका द्वारा मुनरो सिद्धांत (Munro Doctrime) का प्रतिपादन हुआ तब पश्चिमी देशों - विशेषकर पुर्तगाल, स्पेन, हालैण्ड, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी इत्यादि का ध्यान इन अज्ञात प्रदेशों की ओर आकर्षित हुआ, जिसके द्वारा वे अफ्रीका तथा एशिया के इन अज्ञात प्रदेशों से स्वयं की व्यापारिक, औद्योगिक एवं आर्थिक उद्देश्यों की पूर्णतया एवं सफलतापूर्वक पूर्ति कर सकें ।

14.2 साम्राज्यवाद का अर्थ

किसी देश की भूमि, प्रदेश तथा निवासियों पर किसी विदेशी देश या सत्ता का प्रभुत्व स्थापित हो जाने को साधारणतया साम्राज्यवाद के नाम से जाना जाता है । अधिकतर अवसरों पर यह किसी विदेशी सत्ता द्वारा आक्रमण कर उस प्रदेश पर अपना साम्राज्य स्थापित कर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करना होता है । इसके अतिरिक्त इन साम्राज्यवादी शक्तियों का मुख्य ध्येय इनके अधीनस्थ देशों पर स्वयं की आर्थिक, जातीय, वैचारिक एवं सांस्कृतिक प्रभुता स्थापित करना होता है । दूसरे शब्दों में किसी प्रदेश का किसी अन्य शक्तिशाली देश के अधीन

होना होता है । इनके पारस्परिक संबधों में किसी प्रकार की नैतिकता या दयालुता से कोई संबंध नहीं होता है । प्रत्येक साम्राज्यवादी शक्ति की नीतियों एवं उसके कार्यो का मुख्य आधार उनका स्वार्थ होता है । इसी कारण हेतु उस प्रदेश के शासकों एवं निवासियों में सदैव संघर्ष की स्थिति बनी रहती है । यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि ये विदेशी सत्ताएं उनके उद्देश्य एवं स्वार्थ पूर्ति हेतु सभी प्रकार के साधनों - जैसे - युद्ध, कूटनीति, चालाकी, धमकी, धोखा धड़ी इत्यादि का भी उपयोग करते हैं ।

14.3 उपनिवेशवाद द्वारा साम्राज्यवाद की उत्पत्ति

उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद शब्दों का अर्थ सामान्यतया एक समान किया जाता है, परन्तु कई लेखको ने इन दोनों शब्दों में भिन्नता दर्शायी है । सन् 1453 ई0 में वज कुस्तुनतुनिया (Constantinopla) पर तुर्कों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया तो योरोपीय व्यापारियों का पूर्व से पश्चिम में लाल समुद्र (Red Sea) से जाने का व्यापारिक मार्ग बन्द हो गया और उनको विवश होकर एक नार व्यापारिक मार्ग की खोज का मार्ग अपनाना पड़ा । स्पेन और पुर्तगाल के राजाओं ने सर्वप्रथम इस दिशा में प्रयत्न किए और भौगोलिक खोजों का मार्ग प्रशस्त किया । इन खोजों के परिणामस्वरूप स्पेन के नाविक क्रिस्टोफर कोलम्बस ने 1492 ई0 में अमेरिका अर्थात एक नए संसार की खोज की और एक पुर्तगाली नाविक वास्कोडिगामा ने केप आफ गुड होप होकर भारत जाने के लिए एक नए व्यापारिक मार्ग की खोज की । इन खोजों के फलस्वरूप स्पेन को उसके व्यापारिक उपनिवेश अमेरिका में तथा पुर्तगाल को स्वयं के व्यापारिक उपनिवेश भारत में स्थापित करने में उत्साहजनक सफलता प्राप्त हुई । इन देशों को इन उपनिवेशों से व्यापार करने हेतु अपार लाभ हुआ । इस कारण से दूसरे पश्चिमी देशों जैसे- हालैण्ड, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और इटली में भी उपनिवेश स्थापित करने की प्रतिस्पर्द्धा प्रारम्भ हुई और उन्होंने अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के प्रयत्न प्रारम्भ किए ।

उपनिवेशों की स्थापना के पश्चात् इन देशों में उपनिवेशों से व्यापार करने का एकाधिकार (Monopoly) प्राप्त करने हेतु कई युद्ध भी हुए । स्पेन का उत्तराधिकार युद्ध (1701-13 ई०), आस्ट्रिया का उत्तराधिकार युद्ध (174०-48 ई०) तथा सप्तवर्षीय युद्ध (1757-63 ई०) इसी के परिणामस्वरूप योरोपीय हुए । अन्त में इग्लैण्ड का एक महान सामुद्रिक शक्ति के रूप में उदय हुआ और उसे 'समुद्रों की रानी' कहा जाने लगा । उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में इन उपनिवेशवाद वाली शक्तियों ने उनके व्यापारिक उपनिवेशों में साम्राज्यवाद की नींव डाली । इन शक्तियों ने स्वयं की मातृभूमि एवं निवासियों के लाभार्थ उपनिवेशों का अंधाधुंध एवं सम्पूर्ण विनाश करना प्रारम्भ कर दिया । इस प्रकार यूरोपीय देशों की व्यापारिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उपनिवेशों का जन्म हुआ और आगे चलकर इन उपनिवेशों में साम्राज्यवाद का उदय हुआ ।

14.4 साम्राज्यवाद की प्रकृति एवं उसके वर्ग

साम्राज्यवाद का मुख्य उद्देश्य योरोपीय देशों द्वारा किसी अन्य बाहरी प्रदेश एवं उसके निवासियों पर शासन करना होता है । इसका मुख्य योरोपीय देशों का परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप

से स्वयं की प्रभुता स्थापित करना होता है । यह प्रभुत्व भूमीय तथा सामुद्रिक दोनों रूपों में होता है । एक एशियाई देश जापान ने भी 1895 ई० में सुदूरपूर्व, दक्षिण पूर्व एशिया और प्रशान्त महासागर (Pacific Ceean) प्रदेश में भी, जहां पहले योरोपीय साम्राज्यवाद विशेष रूप से प्रचलित था, अपना साम्राज्यवाद स्थापित करने का प्रयत्न किया था । सन् 1914 ई० में संसार की एक तृतीय महाशक्ति ग्रेट ब्रिटेन (U.K.) और रूस ने भी संसार में अपना प्रभुत्व स्थापित किया (यद्यपि कितना रूसी प्रदेश उपनिवेश माना जाए, यह एक विवादास्पद विषय है ।) "यदि रूस की गणना न की जाए तो 1914 ई० में ग्रेट ब्रिटेन ने 400 मिलियन (40 करोड़) व्यक्तियों पर, फ्रांस ने 50 मिलियन (5 करोड़) तथा जर्मनी और इटली ने प्रत्येक ने 14 मिलियन (1.4 करोड़) विदेशी जनता पर शासन किया, जो एक उल्लेखनीय घटना है ।"

वर्तमान साम्राज्यवाद को विशेषतया दो भागों या वर्गों में विभाजित किया गया है । प्राचीन साम्राज्यवाद, जिसको सामान्यता उपनिवेश के नाम से जाना जाता है और जिसका प्रारम्भ 1492 ई० से हुआ । नवीन साम्राज्यवाद का विकास लगभग 1870 ई० से लेकर वर्तमान समय तक हुआ। जैसा कि पहले वर्णित किया जा चुका है कि 1492 ई० से भौगोलिक खोजों का प्रारम्भ हुआ। इसी के फलस्वरूप व्यापारिक बस्तियां बसा कर उपनिवेशवाद की नींव डाली गई । सन् 1870 ई० में इन औपनिवेशिक शक्तियों के दृष्टिकोण में स्वयं की स्थिति एवं आवश्यकताओं के विषय में व्यापक परिवर्तन हुआ । इंग्लैण्ड में उद्योग धंधों, यातायात के साधनों, कृषि और दूर संसार के क्षेत्र में व्यापक प्रगति हुई, जिसका अनुसरण अन्य योरोपीय देशों तथा अमेरिका ने किया । इस समय इन देशों को औद्योगिक संस्थानों हेतु कच्चे माल की आवश्यकता, निर्मित वस्तुओं की बिक्री हेतु बाजार व्यवस्था तथा पूंजी वृद्धि के फलस्वरूप पूंजी निवेश हेतु सुरक्षित एवं लाभदायक स्थानों की आवश्यकता महसूस की गई । इसके अतिरिक्त इन देशों की सरकारें और यहां के निवासियों में राष्ट्रीय भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी और वे नए उपनिवेश स्थापित करने में स्वयं को गौरवान्वित महसूस करते थे । इस भावना फलस्वरूप 1870 ई० में एक नई विचारधारा ने जन्म लिया जो साम्राज्यवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई।

14.5 उपनिवेशवाद की प्रगति के कारण

साम्राज्यवाद की प्रगति में 1870 ई० से विभित्र कारणों ने प्रमुख योगदान दिया । इन कारणों मैं आर्थिक, वैचारिक तथा धार्मिक अवस्थाएं प्रमुख हैं । उनका विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है

14.5.1 औद्योगिक क्रांति

इंग्लैंड में सर्वप्रथम औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात 1760 ई० में हुआ, जो आगे चलकर अन्य योरोपीय देशों में इसका प्रसार हुआ, जिसका साम्राज्यवाद पर सीधा और बहुपति अधिक प्रभाव पड़ा । वाष्प इंजिन का आविष्कार और इसका उद्योगों तथा यातायात के साधनों मैं उपयोग के कारण आर्थिक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए । वाष्प एंजिनों द्वारा निर्मित नई मशीनों का उपयोग कपड़ा मिलों, लोहा तथा इस्पात उद्योगों, रेल तथा जलीय यातायात साधनों में होने लगा । प्राचीन कुटीर एवं गृह उद्योगों का स्थान बड़े कारखानों ने ले

लिया । जिसके परिणामस्वरूप कम श्रमिकों द्वारा अत्यधिक उत्पादन होने लगा । रेलों तथा स्टीम वोटों के आविष्कार से भूमीय तथा जलीय यातायात द्वारा अधिक माल सामान कम समय में पहुंचने लगा । इंग्लैण्ड तथा अन्य योरोपीय देशों में अनेक उद्योगों की स्थापना के कारण इनमें कार्य करने वाले हजारों श्रमिकों के लिए खाद्यात्र की आवश्यकता तथा उद्योगों हेतु कच्चे माल की आवश्यकता और निर्मित वस्तुओं की बिक्री हेतु नये बाजारों की आवश्यकता प्रतीत हुई । इन समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति केवल अफ्रीका तथा एशिया में स्थापित व्यापारिक बस्तियों या उपनिवेशों द्वारा ही हो सकती थी । इस कारण से इन देशों में पारस्परिक स्पर्द्धा का प्रारम्भ हुआ, जो आगे चलकर साम्राज्यवाद में परिणित ही गया ।

14.5.2 आर्थिक विनियोग

औद्योगिक क्रान्ति एवं अत्यधिक उत्पादन के कारण योरोपीय देशों के व्यापारिक संस्थानों, व्यापारियों एवं धनिकों को अत्यधिक धन का लाभ हुआ इस अत्यधिक धन एवं अतिरिक्त धन का उपयोग केवल अनजान एवं अविकसित प्रदेशों में करके अधिक लाभ कमाया जा सकता था । इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु इस धन का उपयोग कृषि, अफीम व्यापार, रेलवे यातायात तथा अन्य सरकारी संस्थानों में अफ्रीका और एशिया में किया गया । यद्यपि इस प्रकार का प्रयोग एक जोखिम पूर्ण कार्य था परन्तु उपनिवेशों मैं इस प्रकार के धन के उपयोग के कारण उनको स्वयं के देश की अपेक्षा अधिक लाभांश प्राप्त हुआ । इसी कारण से इन देशों को नए प्रदेश खोजकर उनमें अपने उपनिवेश स्थापित करने के कार्य को रक्त नई प्रेरणा मिली।

14.5.3 सैन्य आवश्यकताएं

योरोपीय देशों में 1870 ई० के पश्चात् साम्राज्य स्थापित करने का उत्साह उत्पन्न हुआ । उस समय एक ऐसी धारणा प्रचलित हो गई कि जब तक किसी देश के पास स्वयं के कोई व्यापारिक उपनिवेश न हों तब तक वह एक महान देश नहीं कहला सकता । सैन्य विशेपज्ञों ने सुरक्षात्मक एवं सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों पर समुद्री अड्डे या कोयला भरने के स्थानों की स्थापना पर विशेष बल दिया । फ्रांस के सैन्य अधिकारियों ने ऐसे उपनिवेशों पा 'अधिकार करने की आवश्यकता बताई जहां से उनके देश के लिए सैनिकों की भर्ती की जा सके । उपनिवेशों में मानव शक्ति विशाल रूप में विद्यमान थी । विशेषकर 1890 ई० में जर्मनी में युद्ध की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के फलस्वरूप जो उस समय योरुप में एक महान सैनिक शक्ति बनना चाहता था, उसने अपना प्रभाव मध्यपूर्व तथा बाल्कन प्रदेश में स्थापित कर एक ऐसे महान सामरिक समुद्री बेड़े का निर्माण किया जो अपने आप में एक अद्वितीय था । यह देखते हुए अन्य योरोपीय देशों जैसे- ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, इटली इत्यादि ने भी व्यापाक रूप से साम्राज्यवाद स्थापित करने की प्रेरणा प्राप्त की ।

14.5.4 ईसाई धर्म का प्रचार

योरोपीय देशों का अन्य देशों के साथ व्यापार वृद्धि ने ईसाई धर्म के प्रचारकों (Missionaries) को योरोप के बाहर के देशों में ईसाई धर्म के प्रचार के लिए प्रेरित किया । जिस स्थान पर इन देशों के व्यापारी पहुंचे उनके साथ-साथ धर्म प्रचारक भी वहां गए । वहां

कबे निवासियों को चिकित्सा एवं शिक्षण सुविधाएं प्रदान करके उनको धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य किया और उन्होंने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया । दूसरे शब्दों में व्यापार, उपनिवेशवाद और सैन्य विस्तार के साथ-साथ धर्म परिवर्तन का कार्य भी चलता रहा । इस प्रकार विदेशों में ईसाई धर्म के प्रचार की विचार धारा के साथ साम्राज्यवादी शक्तियों ने उपनिवेशों के विस्तार एवं उनके अधिकार क्षेत्र में भी वृद्धि थी

14.5.5 राष्ट्रीय गौरव या सम्मान

बहुत से साम्राज्यवादी विचारकों का यह मत था कि साम्राज्यवाद की स्थापना करना एक राष्ट्रीय गौरव का द्योतक है । कई शताब्दियों तक अंग्रेज इस बात पर गर्व करते रहे कि "अंग्रेजी राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता । " सुदूरपूर्व में फ्रांस के साम्राज्यवाद का मुख्य प्रेरणा स्रोत उनका राष्ट्रीय गौरव था, जिसमें उनका उनकी सभ्यता, सम्मान तथा प्रभाव पर गर्व करना सम्मिलित था । इसके अतिरिक्त योरोपीय देश यह महसूस करते थे कि पिछड़े देशों की जनता को सभ्य बनाने का उनका दायित्व है । इस प्रकार इन गोरी चमड़ी वालों ने काले, लाल तथा पीले मानव समाज की उन्नति करने तथा उनको सभ्य बनाने का कार्य अपने हाथ में लिया और इस प्रकार स्वयं के उपनिवेशों पर अपने अधिकारों को और सुरक्षित कर लिया ।

अपनी प्रगति का निरीक्षण करिए - 1

1. किस प्रकार योरोपीय देश अपनी साम्राज्यवाद की भूख मिटाने के लिए एशिया और अफ्रीका की ओर आकर्षित हुए? उत्तर केवल पांच पंक्तियों में दें ।
2. साम्राज्यवाद किसे कहते हैं?
3. औद्योगिक क्रांति ने किस प्रकार साम्राज्यवाद को बढ़ावा दिया? उत्तर केवल 100 शब्दों में लिखें ।

14.6 चीन में साम्राज्यवाद-उसकी प्रकृति, विकास और पतन

चीन साम्राज्य संसार की प्राचीन उन्नत सभ्यता वाले देशों में से एक है । यहां की जनता, अधिकारी एवं प्रशासन भी उच्च नैतिकता वाले एवं अत्यन्त सभ्य रहे हैं । वे पश्चिम देशों के निवासियों एवं अन्य देश के निवासियों को बर्बर अर्थात् अत्यन्त पिछड़ा हुआ मानते थे और उनसे सम्पर्क स्थापित नहीं करते थे । इसके अतिरिक्त वे शान-शौकत से जीवन व्यतीत करते थे । यदि कभी कोई विदेशी उनके सम्राट के दरबार में उपस्थित होता तो वे यह आशा करते थे कि वह विदेशी सम्राट को भेंट दे, क्योंकि वे सम्राट को ईश्वर का एक प्रतिनिधि मानते थे । सूदूरपूर्व इतिहास का वास्तव में यह एक रोचक तथ्य है कि चीन निवासी स्वयं की इस उच्च गौर व भावना एवं सम्मान की विचारधारा के कारण ही केवल अर्द्ध शताब्दी में, जिसका प्रारम्भ 1840 ई० से हुआ, एक अत्यन्त शोचनीय एवं पराधीन अवस्था में पहुंच गए और उनके देश पर न केवल योरोपीयन और अमेरिकनों ने ही नहीं वरन् उनके निकट के पडौसी एशियाई देश जापान ने भी उसका प्रभुत्व स्थापित किया ।

14.6.1 चीन में साम्राज्यवाद की प्रकृति

चीन के संसार के अन्य देशों के साथ व्यापारिक संबंध प्राचीन काल से ही चले आ रहे थे । वर्तमान युग में कई चीनी वस्तुओं की योरोप में बहुत मांग थी । इन वस्तुओं में चाय, रेशम, सूती कपड़ा इत्यादि प्रमुख थीं । दूसरी ओर योरोप की निर्मित वस्तुओं की चीन में मांग नहीं थी । केवल मशीनी खिलौने और घड़ियां ही योरोप से चीन में मंगवाई जाती थीं । इसके फलस्वरूप योरोप का चीन से व्यापार चांदी से या एशिया में निर्मत -अन्य वस्तुओं के विनिमय पर होता था । इसलिए चीन से आने वाली चाय के व्यापार को संतुलित करने के लिए ब्रिटेन ने अपने उपनिवेश भारत से चीन को अत्यधिक मात्रा में अफीम भेजना प्रारम्भ किया । उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चीन की सरकार ने इस व्यापार का घोर विरोध किया और अन्त में इसे बन्द कर दिया । ऐसा करने के दो कारण थे । प्रथम अफीम का सेवन मानव समाज के स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक था और दूसरे अफीम की तस्करी में इसके मृत्य स्वरूप बहुत सी चांदी देश के बाहर चली जाती थी । इस विषय में चीन की सरकार ने इतना कठोर दृष्टिकोण अपनाया कि 1839 ई० में अफीम का व्यापार एक घोर दंडनीय अपराध माना गया, जिसकी सजा मृत्यु दंड रखी गई । इसके अतिरिक्त 1849 ई० में अफीम की तस्करी रोकने हेतु स्पेशल कमिश्नरों की नियुक्ति की गई । इन कमिश्नरों ने केन्टन नगर में बीस हजार बक्से अफीम के पकड़ कर उसको नष्ट कर दिया उगी जिन विदेशियों ने इस अफीम की तस्करी की थी उन्हें किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति का 'भुगतान भी नहीं किया । इसह घटना के फलस्वरूप ग्रेट ब्रिटेन और चीन क मध्य प्रथम अफीम युद्ध का प्रारम्भ हुआ, जो 1839 ई० से लेकर 1842 ई० तक चला ।

चीन की सरकार ने अफीम के व्यापार के विरोध के अतिरिक्त, स्वयं की संस्कृति एवं सभ्यता विदेशियों से उच्च होने की विचारधारा के फलस्वरूप तथा विदेशी वस्तुओं की जनता में मागं न होने के कारण, विदेशी व्यापार केवल केन्टल के बन्दरगाह तक ही सीमित कर दिया । योरोपीय देशों का इस प्रतिबंध के कारण चीन के अन्य प्रदेशों से व्यापार बन्द होना बहुत बुरा लगा । इसी कारण से ब्रिटेन को चीन के साथ सामुद्रिक युद्ध करना पड़ा जो प्रथम अफीम युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ । इस प्रथम अफीम युद्ध में चीन की पराजय से उसकी पराजय एवं अपमान का सिलसिला एक शताब्दी तक चला । प्रथम तो अंग्रेजों ने इस प्रथम युद्ध में चीन को एक भीषण पराजय दी थी । इसके पश्चात् नानकिंग की संधि, जो इस युद्ध के पश्चात् हुई थी, चीन को एक भारी भरकम युद्ध के दंड स्वरूप देनी पड़ी । इसके अतिरिक्त हांगकांग ग्रेट ब्रिटेन को देना पड़ा तथा केन्टन के अतिरिक्त अन्य चार बंदरगाहों - 'अमोय, फूचो, निंगपो और शंघाई को विदेशी व्यापार हेतु खोलना पड़ा । संधि की एक धारा के अनुसार ये सुविधाएं दूसरे अन्य पश्चिमी देशों जैसे- अमेरिका, फ्रांस, बेलजियम, प्रशिया, रूस, हालैण्ड तथा पुर्तगाल को भी एक अन्य संधि पर हस्ताक्षर करके देनी पड़ी । इस प्रकार विदेशी शक्तियों द्वारा चीन पर थोपी गई यह एक असमान प्रथम संधि थी ।

इन संधियों के फलस्वरूप चीन की मंचू सरकार की निर्बलता प्रकाश में आई और विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों को अपनी व्यापारिक एवं क्षेत्रीय सीमा बढ़ाने की आकांक्षाओं की

पूर्ति हुई तथा ब्रिटेन और फ्रांस को द्वितीय अफीम युद्ध छेड़ने की भूमिका तैयार हुई। यह युद्ध 1856 से 1860 ई० के मध्य खेला गया। इस युद्ध में चीन को फिर दुबारा, फ्रांस और ब्रिटेन की सम्मिलित सेना के हाथों पराजित होना पड़ा और अन्त में टीन्टसिन की संधियां हुईं। इन संधियों के अनुसार चीन को अत्यन्त अपमानजनक एवं निराशाजनक अवस्था में उसके छः अन्य बन्दरगाहों को विदेशी व्यापार हेतु खोलना पड़ा तथा अफीम के व्यापार को वैधानिकता देनी पड़ी। पेकिंग में विदेशी मंत्रियों का स्वागत तथा योरोपीय लोगों को देश के भीतरी भाग में यात्रा करने पर सुरक्षा प्रदान करना भी स्वीकार किया गया। सन् 1860 ई० में चीन की रूस के साथ हुई एक अन्य सन्धि में चीन को सुदूर उत्तर-पूर्व में स्थित उसके समुद्रतटीय अमर नामक जिले को रूस को देना पड़ा। रूस ने इस क्षेत्र में ब्लाडीवास्टक नामक बन्दरगाह की स्थापना की और उसके एक सैनिक अड्डे के रूप में उपयोग में लिया और यहां से ही रूस ने मंचूरिया या चीन के उत्तरी भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इस प्रकार चीन को उसकी व्यापारिक राव विदेशी नीति का निर्माण योरोपीय शक्तियों की इच्छानुसार करना पड़ा।

14.6.2. चीन में साम्राज्यवाद का विकास

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि चीन के साम्राज्यवाद में एक नया मोड़ उसके पड़ौसी एशियाई देश जापान का इस दौड़ में सम्मिलित हो जाने के कारण आया। पश्चिमी देशों की पद्धति पर जापान में 1686 से 1694 ई० के मध्य में हुए सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक एवं सैन्य सुधारों के फलस्वरूप वह इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने चीन में स्वयं का साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने सर्वप्रथम उसका ध्यान कोरिया पर केन्द्रित किया, जो शीघ्र ही एक विवाद का विषय बन गया। इसी कारण से 1894-95 ई० में चीन और जापान के मध्य एक युद्ध हुआ, जिसमें चीन की पूर्ण पराजय हुई और सन् 1895 ई० में हुई शिमोनोसेकी की संधि के अनुसार चीन को न केवल कोरिया को पूर्ण स्वतंत्रता देनी पड़ी, परंतु इसके अतिरिक्त उसको फार्मूसा और लिआओटुंग प्रायद्वीप पोर्ट आर्थर सहित जापान को देने पड़े। योरोपीय साम्राज्यवादी देश, विशेषकर रूस को पोर्ट आर्थर और लिआओटुंग प्रायद्वीप पर जापान का अधिकार होना बहुत बुरा लगा और रूस ने जर्मनी और फ्रांस की सहायता लेकर जापान को ये प्रदेश चीन को वापस लौटाने के लिए बाध्य किया। परन्तु 1898 ई० में एक दुखद घटना हुई जब रूस ने लिआओटुंग प्रायद्वीप पोर्ट आर्थर सहित स्वयं के राज्य में सम्मिलित कर लिया।

चीन में योरोपीय हस्तक्षेप उस समय और अधिक बढ़ गया जब जर्मनी और फ्रांस ने भी इस क्षेत्र में अपने कदम बढ़ाए। जर्मनी ने 1897 ई० में दो जर्मन ईसाई धर्म प्रचारकों की हत्या के आक्षेप में लिआओचो बंदरगाह को निन्यानवे साल के पट्टे पर तथा शान्टुंग नामक चीन प्रदेश में 'आर्थिक सुविधाएं प्राप्त कीं। इसी वर्ष फ्रांस ने दक्षिण चीन में स्थित क्यांगचो की खाड़ी पर स्वयं का अधिकार और क्यागंसी नामक प्रान्त तथा हेनान द्वीप में आर्थिक अधिकार प्राप्त किये। इस प्रकार इन साम्राज्यवादी शक्तियों ने चीन के विभिन्न क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इस प्रकार यांगटसी घाटी में ग्रेट ब्रिटेन, मनचूरिया और मंगोलिया में रूस,

दक्षिण पश्चिम चीन में फ्रांस, शानटुन्ग में जर्मनी ने और फुकीन में जापान का अधिकार स्थापित हो गया ।

इतना होने पर भी साम्राज्यवादी शक्तियों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा के कारण चीन का और विभाजन होना रुक गया । विशेषकर ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका (U.S.A.) विभिन्न देशों द्वारा चीन के विभाजन को पसन्द नहीं करते थे । वे चीन को समस्त देशों के लिए केवल व्यापार के लिए खुला रखना चाहते थे । इस नीति का सम्पूर्ण विवरण प्रसिद्ध ',ओपन डोर डाक्ट्रिन" में दिया गया है । जिसकी घोषणा 1899 ई० में अमेरिका के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट जान हे ने की थी । इस नीति का समस्त शक्तियों ने समर्थन किया । इस प्रकार चीन को उसकी नाममात्र की स्वतंत्रता वाला देश मान्य रखा गया ।

14.6.3 - चीन में साम्राज्यवाद का पतन

वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में चीन में विदेशियों एवं साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रति रोष की भावना का उदय होना प्रारम्भ हुआ। विदेशियों से ता का मुख्य कारण विदेशियों द्वारा उनके लाभार्थ सुविधाएं प्राप्त करना तथा संधियों में चीन के साथ असमानता का व्यवहार करना था । पश्चिमी देशों द्वारा उनके लाभार्थ पट्टे पर दी गई भूमि को हस्तगत करना चीन के निवासियों ने उनकी राष्ट्रीय एकता पर एक प्रहार माना । इसके अतिरिक्त चीन में ईसाई धर्म प्रचारकों की उपस्थिति, उनका कार्य क्षेत्र तथा स्थानीय जनता को ईसाई धर्म में सम्मिलित करने से रोष और अधिक उत्पन्न हुआ। चीन निवासियों ने रूसी बैंक, ईसाई गिरजाघरों, रेलवे लाइनों तथा योरोपीय देशों द्वारा स्थापित व्यापारिक बस्तियों का घोर विरोध किया । इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापारियों द्वारा विलासतापूर्ण एवं वैभवशाली जीवन व्यतीत करना तथा दुर्ग जैसे आवासों में निकास करना भी चीन निवासियों की आखों में खटका ।

सन् 1901 ई० में हुई 'बाक्सर क्रांति' (Boxer Rebellion) का मुख्य ध्येय विदेशियों एवं उनके प्रभुत्व के विरोध में थी । इस क्रांति ने हिंसक रूप धारण कर लिया । नए बने ईसाई व्यक्तियों एवं विदेशियों की निर्दयता पूर्वक हत्या कर दी गई । रेलवे मार्ग, तार सेवा गिरजाघरों को जला दिया गया और नष्ट कर दिया गया । इस क्रांति को एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना द्वारा कुचल दिया गया । इस सेना में सात विदेशी देशों के अठारह हजार सैनिक सम्मिलित थे । यद्यपि इस क्रांति को कुचल डाला गया परन्तु यह क्रांति चीन की जनता के लगातार बढ़ते विरोध की परिचायक थी और यह दर्शाती थी कि चीन की जनता में विदेशियों के अधिकार एवं शोषण के प्रति एक रोष की भावना थी जिसका अब वे प्रतिरोध करने के लिए तत्पर थे ।

पश्चिमी विचारधारा के सम्पर्क में आने से चीन में विदेशियों के प्रभुत्व एवं शोषण के प्रति चेतना का प्रसार हुआ। देश में खाद्यान्न की कमी और रोजगार के कम अवसरों को देखते हुए चीन वासियों को पलायन कर पश्चिमी देशों की ओर जाना पड़ा । वहां पर उनके समानता स्वतंत्रता, भ्रातृभाव की नई विचारधारा ने प्रभावित किया क्योंकि उनके देश में उन्हें रोजगार के अवसर प्राप्त नहीं थे । विदेशों में शिक्षा पाने वाले व्यक्तियों को जब उनके स्वयं के ' देश में नौकरियां नहीं मिली तो उनमें असंतोष की लहर फैल गई । इस कारण से उन्होंने क्रांतिकारियों के साथ सम्पर्क स्थापित किया । इन क्रांतिकारियों ने डाक्टर सन यान सेन के

नेतृत्व में निर्बल और अकर्मण्य मांचू सरकार को हटाकर देश में गणतंत्र की स्थापना के लिए कार्य किए । अंत में, 12 फरवरी, 1912 को मंचू सम्राट को विवश होकर सिंहासन छोड़ना पड़ा और एक शक्ति शाली जनरल युआन शीह के चीन गणराज्य का प्रथम राष्ट्रपति (President) बना । 1911 ई० की यह क्रांति जिसके द्वारा जनता का शासन स्थापित हुआ यह विदेशियों एवं रूढ़िवादियों के प्रति एक विरोध था । यह कार्य मुख्यतया देशभक्तों का था जिनको राष्ट्रीय शोषण एवं विदेशी सत्ता के अधिकारों को समाप्त करना था ।

चीनवासियों का साम्राज्यवाद और पश्चिमी देशों के विरुद्ध तीव्र रोष एक बार फिर उत्पन्न हुआ जब कि 28 अप्रैल, 1919 को वर्सेय शान्ति सम्मेलन (Versailles Peace Conference) में उनकी इच्छाओं के विरुद्ध शान्टुंग प्रश्न का समाधान जापान के हित में किया गया । इस फैसले के विरोध में 4 मई 1919 को लगभग पांच हजार विद्यार्थियों ने पेकिंग में एक विशाल रैली का आयोजन किया । वे इस फैसले को पश्चिमी देशों द्वारा चीन के अधिकारों का हनन मानते थे और खून की नदियां बहाकर भी शान्टुंग की रक्षा करना चाहते थे । जब पुलिस ने दस विद्यार्थियों को गिरफ्तार कर लिया तो समूचे पेकिंग नगर में आम हड़ताल का आयोजन किया गया । यह हड़ताल शीघ्र ही अन्य नगरों कें भी फैल गई । दुकानदारों, औद्योगिक कामदारों, और समस्त देश के व्यापारिक संस्थानों ने भी छात्रों को इस हड़ताल में सम्पूर्ण सहयोग दिया । इस हड़ताल के द्वारा जापान में निर्मित सभी वस्तुओं का बहिष्कार किया । इसे जन समर्थन प्राप्त था । 4 मई की इस हड़ताल के विद्यार्थियों के इस सर्वव्यापी आन्दोलन के मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति उस समय हो गई जब चीनी प्रतिनिधिमंडल ने वर्सेय की संधि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया और पुन: चीन लौट आए । इसी राष्ट्रीय विचारधारा के अन्तर्गत व्यांग काई शेक के नेतृत्व में सन् 1928 ई० से चल रही राष्ट्रीय या कोमिंगटान सरकार ने अफीम युद्ध की हुई संधियों के अंतर्गत चीन को जो विदेशी व्यापार करने की स्वतंत्रता नहीं दी गई थी उसको समाप्त कर पुन: इस व्यापारिक स्वतंत्रता को प्राप्त किया । अन्त में 1943 ई० में संधियों में चीन के प्रति जो असमान व्यवहार की धाराएं थीं उनको समाप्त किया गया ।

14.7 भारत में साम्राज्यवाद-उसकी प्रकृति, विकास एवं पतन

यद्यपि भारत में पश्चिमी एवं योरोपीय देशों ने साम्राज्यवाद का प्रारम्भ किया परन्तु भारत में. साम्राज्यवाद का मुख्य संबंध ब्रिटेन से है । इस प्रकार इसमें चीन के साम्राज्यवाद से भिन्नता है क्योंकि चीन में अनेक पश्चिमी देश वहां का आर्थिक शोषण करने में सम्मिलित थे । यहां पर एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है जब कि भारत में अंग्रेजों ने सम्पूर्ण राजनैतिक सत्ता पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया परन्तु चीन में इन साम्राज्यवादी शक्तियों ने कभी राजनैतिक सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया । यह निर्विवाद सत्य है कि भारत और चीन दोनों देशों में साम्राज्यवादी शक्तियों का मुख्य ध्येय इन देशों का आर्थिक शोषण करना था । इसके अतिरिक्त भारत में अंग्रेजों का प्रभुत्व एक काफी लम्बे समय तक 1757 ई० से लेकर 1947 ई० तक रहा, जबकि चीन में पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रभाव 184० ई० से लेकर, 1943 ई० तक रहा । इसके अतिरिक्त भारत में अंग्रेजों ने योरोपीय शक्तियों जैसे-

पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसी लोगों का उनके प्रति स्पर्द्धा एवं एकाधिकार को कभी स्वीकार नहीं किया । अंग्रेजो ने इन शक्तियों से युद्ध करके उनको पराजित कर उनके प्रभुत्व को समाप्त कर दिया । इसके विपरीत चीन में समस्त योरोपीय शक्तियों एवं जापान ने मिलकर आपसी सहयोग द्वारा चीन पर अपना प्रभुत्व स्थापित रखा । चीन की अपेक्षा भारतवासियों को अंग्रेजी साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने हेतु कई भीषण आन्दोलन करने पड़े तथा खून की नदियां बहानी पड़ी ।

14.7.1 भारत में साम्राज्यवाद का विकास

भारत में पश्चिमी या ब्रिटिश साम्राज्य का प्रारम्भ सन् 1498 ई० से हुआ, जब पुर्तगाली नाविक वास्कोडिगामा ने केप ऑफ गुड होप होकर योरोप से भारत का एक नया सामुद्रिक मार्ग खोज निकाला । यद्यपि प्रारम्भ में पुर्तगाली, डच, अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी ईस्ट कम्पनियों ने पारस्परिक स्पर्द्धा के फलस्वरूप भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित किया परन्तु सन् 1761 ई० में अंग्रेजों ने उसके अन्य तीन प्रतिद्वंदियों को इस मार्ग से अलग कर दिया । योरोपीय प्रतिद्वद्वियों को इस प्रकार अपने मार्ग से हटाने के फलस्वरूप ही अंग्रेजों का प्रभुत्व बंगाल में स्थापित हुआ, जो सन् 1757 ई० में हुए प्लासी के युद्ध में उल्लेखनीय विजय के कारण हुआ और और लगभग एक शताब्दी मैं अग्रज लोग भारत में निर्बाध रूप से अपना साम्राज्य स्थापित करने में सफल रहे । इस प्रक्रिया को पूर्णतया सफल बनाने हेतु अंग्रेजों ने सब प्रकार की बातों का सहारा लिया जैसे- युद्ध, कूटनीति, चालाकी, छद्मवेशी, सहायक संधि की नीति (Subsidiary Alliauce System), उत्तराधिकार का अधिकार इत्यादि । इस प्रकार स्थापित हुए भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का कोई विशेष विरोध नहीं हुआ और उनकी नीति को भारतीय जनता ने शिरोधार्य किया ।

परन्तु इस प्रकार निर्विरोध गति से चलते हुए अंग्रेजी साम्राज्यवाद को सन् 1857 ई० में हुए 'सैनिक विद्रोह' (Sepoy Munity) से गहरा धक्का लगा । यद्यपि इस विद्रोह को कठिन परिश्रम एवं निर्दयता से पूर्णतया कुचल दिया गया परन्तु यह विद्रोह भारत में अंग्रेजी शासन के प्रति प्रथम प्रचंड प्रतिरोध था । इसके परिणाम स्वरूप एक नए अध्याय का प्रारम्भ हुआ । ब्रिटेन के सम्राट ने भारतीय प्रशासन को सम्पूर्णतया अपने हाथों में ले लिया और शनैः शनैः भारतवासियों ने प्रशासन में भागीदारी के लिए प्रयत्न किए । परन्तु निर्दयतापूर्वक आर्थिक शोषण और भारतीय कृषि, उद्योग तथा अन्य व्यापारिक स्रोतों का दोहन अंग्रेजों ने स्वयं के स्वामित्व, अधिकार एवं लाभ हेतु किया, जिसके फलस्वरूप भारत वासियों के हृदय में अंग्रेजों के प्रति क्रोध, द्वेष और घृणा के वातावरण ने जन्म लिया । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) थी सन् 1885 ई० में स्थापना के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ और संसार के दो प्रसिद्ध महायुद्धों से भारत को काफी सहायता एवं प्रोत्साहन प्राप्त हुआ जिससे साम्राज्यवाद के प्रति भावी नीति का मार्ग प्रशस्त हुआ ।

14.7.2 भारत में साम्राज्यवाद का पतन

इतिहास प्रसिद्ध अन्य साम्राज्यवादों की भांति भारत में भी अंग्रेजी राज्य का पतन का प्रारम्भ सन् 1885 ई० से प्रारम्भ हुए राष्ट्रीय आन्दोलन से हुआ। सड़क एवं रेल यातायात के विकास तथा डाक एवं तार विभाग जैसी सुविधाओं के फलस्वरूप जनता एवं नेताओं में आपसी सम्पर्क सुगम एवं दुतगामी हो गया । सन् 1905 ई० में हुए बंगाल विभाजन के विरोध में जो जन आन्दोलन एतिहासिक 'वन्देमातरम्' से प्रारम्भ हुआ, शीघ्र ही देश के कोने-कोने में फैल गया और स्वदेशी वस्तुओं का पूर्ण उपयोग और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार भी प्रारम्भ हुआ। इस बहिष्कार में विदेशों में निर्मित कपड़ा, अंग्रेजों द्वारा स्थापित शैक्षणिक संस्थाएं, अदालतें (courts) इत्यादि सम्मिलित थी । इस प्रकार के बहिष्कार आंदोलन से अंग्रेजी सरकार अचम्भित हो गई । इस आन्दोलन को इतनी अधिक सफलता मिली कि अंग्रेजी सरकार को विवश होकर बंगाल विभाजन को वापस लेना पड़ा और पुन: दोनों बंगालों का एकीकरण हुआ।

अंगेजी सरकार द्वारा भारतीय जनता के मूलभूत अधिकारों पर कुठाराघात होने के कारण वाणी की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध और सभाओं पर भी प्रतिबंध होने के कारण जनता में इन विदेशी शासकों के प्रति घृणा और क्रोध का वातावरण उत्पन्न हो गया । इन समस्त समस्याओं के समाधान हेतु स्वतंत्रता प्रापत की विचारधारा ने जन्म लिया । सन् 1921-22 में हुए खिलाफत आन्दोलन (Non Cooperation Movement), 1930 ई० में हुए नमक सत्याग्रह और अन्म में 1942 ई० में हुए भारत छोड़ो आंदोलन (Quit India Movement) ने अंग्रेजी साम्राज्यवाद की नींव को हिला कर रख दिया । इन जनप्रिय और राष्ट्रीय आंदोलनों के अतिरिक्त 1914 ई० से पैदा हुई अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भी भारतीय विचारधारा को एक नई दिशा प्रदान की । दोनों विश्व युद्धों में भाग लेने के कारण ब्रिटेन जैसी महाशक्ति की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा । इसके अतिरिक्त एक एशियाई देश जापान द्वारा योरोपीय शक्तियों के विरोध के कारण अंतर्राष्ट्रीय जगत में उपनिवेशों को स्वतंत्रता देने की विचारधारा प्रचलित हुई। इसी समय इंग्लैण्ड में लेबर पार्टी की सरकार द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् बनी, जो भारत को स्वतंत्रता देने के पक्ष में थी, जिसके फलस्वरूप भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई।

14.8 चीन और भारत में साम्राज्यवाद-समानताएं तथा असमानताएं

प्रथम बात यह ध्यान देने योग्य है कि चीन तथा भारत दोनों देशों में पश्चिमी देशों ने साम्राज्यवाद की नींव डाली, परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि चीन में इस दिशा में एक एशियाई देश जापान ने भी एक महत्वपूर्ण योगदान दिया । दोनों देशों में सम्पूर्ण एवं निर्दयतापूर्वक आर्थिक शोषण साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा किया गया और इन परिस्थितियों में इन देशों को अप्रत्याशित लाभ प्राप्त करना इनका मुख्य ध्येय था । एक अन्य समानता दोनों देशों की यह थी कि दोनों देशों में साम्राज्यवादियों ने अपने लक्ष्य की पूति हेतु सभी प्रकार के साधनों का उपयोग किया, जैसे- युद्ध, कूटनीति, संधियां, धमकियां इत्यादि । चीन और भारत में स्वयं की स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु इन देशों के राष्ट्रीयवादियों ने शक्तिशाली एवं सफल आन्दोलनों का सहारा लिया ।

इन दोनों देशों में समानताओं के अतिरिक्त यहां पर प्रचलित साम्राज्यवाद में कुछ असमानताएं भी थीं । चीन में यह बहुराष्ट्रवादी था, जबकि भारत में केवल एक देश का था । भारत में इस साम्राज्यवाद के अंतर्गत समस्त अधिकार सम्मिलित थे जबकि चीन में, केवल आर्थिक क्षेत्र में वे सर्वोच्च थे । इसी प्रकार, भारत में अंग्रेजों ने सामाजिक, प्रशासनिक, आर्थिक इत्यादि क्षेत्रों में अपना सम्पूर्ण प्रभुत्व स्थापित किया था परन्तु चीन में उनका अधिकार क्षेत्र केवल आर्थिक अवस्था तक ही सीमित था । इसके अतिरिक्त भारत में अंग्रेजों ने एक भारतीय सेना का गठन भारतीय अधिकारियों के अन्तर्गत किया, जिसका खर्च भी भारतीयों को ही उठाना पड़ता था जिसका उपयोग साम्राज्यवादी शक्ति ने भारतीयों के विरुद्ध स्वयं के हितों की रक्षा के लिए किया जबकि चीन में विदेशियों ने स्वयं की सेनाओं का गहन स्वयं के देशवासियों द्वारा तथा उनके ही 'अधिकारियों के अन्तर्गत किया, जिसका खर्च या तो उसके व्यापार के मुनाफे से या उस देश द्वारा स्वयं उठाना पड़ता था । इसके अतिरिक्त भारत को विदेशी दासता से मुक्ति पाने हेतु कठोर संघर्ष करना पड़ता जबकि चीन के विषय में ऐसा नहीं था ।

14.9 साम्राज्यवाद का प्रभाव

योरोपीय साम्राज्यवाद का विशेष प्रकार का प्रभाव रहा जो प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का था ।

14.9.1 आधुनिकीकरण

योरोपीयनो के चीन तथा भारत में उपनिवेश शासन से इन देशों में अनेक परिवर्तन हुए जिनसे इन देशों को आधुनिक बनने में पर्याप्त सहायता मिली । इस शासन के कारण एशियन उपनिवेश पश्चिमी देशों की सभ्यता के सम्पर्क में आए और उसके दूरगामी प्रभाव हुए तथा इससे कई लाभ भी हुए । दास व्यापार का अन्त हुआ । पश्चिमी शिक्षा तथा शासन पद्धति का प्रारम्भ हुआ । देश में रेल लाइनों, डाकघरों तथा तारघरों की स्थापना की गई । इन कारणों से अनेक आर्थिक सुधार भी हुए ।

14.9.2 आर्थिक शोषण

साम्राज्यवाद के कई बुरे प्रभाव भी हुए । एक प्रमुख बुराई इन उपनिवेशों का आर्थिक शोषण था । यह कार्य साम्राज्यवादी देशों द्वारा उनके स्वयं के देश के हित के लिए किया गया । इन उपनिवेशों से खनिज पदार्थ तथा कृषि उत्पादन तथा उनके स्वयं के देश के उद्योगों के लिए कच्चा माल भेजा गया तथा उनके देश की निर्मित वस्तुएं ऊंचे दामों पर उपनिवेशों में भेजी गई । इस प्रक्रिया के कारण उपनिवेशों के गृह उद्योगों का अन्त हो गया और इसका अत्यधिक भार कृषि साधनों पर पड़ा ।

14.9.3 जातीय मतभेद

साम्राज्यवादियों में जातीय भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी । ये गोरी चमड़ी वाले स्वयं को लाल या काली चमड़े वाले उपनिवेशवासियों से अधिक उच्च समझते थे तथा उनको पिछड़ा तथा असभ्य समझा जाता था और अन्त में इन साम्राज्यवादी शक्तियों को इनको प्रगतिशील एवं सभ्य बनाने के लिए भारी प्रयत्न करने पड़े । इस प्रकार की जातीय भावना से उपनिवेशों

की प्रजा में घृणा की भावना उत्पन्न हुई और उन्होंने इससे मुक्त होकर स्वयं को स्वतंत्र कराने के प्रयत्न किए ।

14.9.4 अन्तर्राष्ट्रीय कलह के कारण प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ

योरोपीय राष्ट्रों द्वारा अपने उपनिवेशों पर अपना पूर्ण अधिकार कायम रखने तथा उनको सर्व प्रकार से अपनी अधीनता में रखने के कारण इन देशों में आपसी प्रतिस्पर्द्धा एवं कलह का वातावरण उत्पन्न हो गया । उदाहरणतया - इंग्लैंड और फ्रांस ने तीन कर्नाटक युद्ध (1744-1760) भारत में तथा सप्तवर्षीय युद्ध (1757-63) योरुप में स्वयं की प्रभुसत्ता एवं एकाधिकार भारत, अफ्रीका तथा अमेरिका (New World) में कायम रखने हेतु खेले । चीन देश के पोर्ट आर्थर और लिआओटुंग प्रायद्वीप को अपने अधिकार में रखने हेतु जापान और रूस ने 1904-05 ई० में रूसी-जापानी युद्ध लड़ा । इस प्रकार अफ्रीका तथा अन्य देशों पर प्रभुत्व कायम रखने की प्रतिस्पर्द्धा ने सैनिक गुटों (Armed Blocks) को जन्म दिया और प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने में सहायक सिद्ध हुए ।

14.10 उपसंहार

इस यूनिट में आपने देखा कि तुर्कों के 1453 ई० में कुस्तुनतुनिया पर अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् किस प्रकार योरोपीय शक्तियों ने सन् 1492 ई० से भौगोलिक खोजें प्रांरभ कीं तथा 1823 ई० में 'मुनरो डाक्ट्रिन' के प्रतिपादन के फलस्वरूप अफ्रीका तथा एशिया के अनजान प्रदेशों में उपनिवेश स्थापित किए । इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति का प्रारम्भ तथा अन्य येरोपीय देशों द्वारा जिनमें कुछ अन्य देश जैसे अमेरिका और जापान भी सम्मिलित थे, 1770 ई० के बाद उनके स्थापित उपनिवशों एवं व्यापारिक बस्तियों में किस प्रकार साम्राज्यवाद प्रारम्भ किया गया । इसके अतिरिक्त आपने यह भी अध्ययन किया कि यद्यपि पश्चिमी साम्राज्यवाद का विस्तार चीन और भारत में हो गया था परन्तु इन दोनों देशों के साम्राज्यवाद के विकास एवं अन्त में समानताएं थीं । अंत में साम्राज्यवाद के परिणाम में यह देखा गया कि इस साम्राज्यवाद से उनके अधिकार वाले प्रदेशों में अधिकतर जनता की हानि ही हुई, भलाई नहीं ।

14.11 बोध प्रश्न

1. साम्राज्यवाद के बारे में आप क्या जानते हैं?
2. उपनिवेशवाद की प्रगति के क्या कारण है?
3. चीन में साम्राज्यवाद पर एक लेख लिखिए ।
4. भारत में साम्राज्यवाद के विकास व पतन की विवेचना कीजिए?
5. साम्राज्यवाद के प्रभाव की विवेचना कीजिए ।

14.12 संदर्भ ग्रंथ

1. क्रेग, गोर्डन ए योरोप सिन्स 1815,
2. थोमसन, योरोप सिन्स नेपोलियन,
3. फील्ड हारून, डी.के.दी. कोलोनियन एम्पायर्स,
4. होबसन, जे.ए, इम्पीरियलिज्म एस्टडी

इकाई - 15

साम्राज्यवाद मिस्त्र, दक्षिण अफ्रीका तथा मोरको के संदर्भ में

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 अफ्रीका में साम्राज्यवाद

15.3 मिस्त्र में ब्रिटिश साम्राज्यवाद व राष्ट्रीय चेतना

15.4 अफ्रीका का विभाजन

15.5 बोध प्रश्न

15.6 संदर्भ ग्रंथ

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप निम्न विषयों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

- अफ्रीका में साम्राज्यवाद का विकास
- मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्य साम्राज्यवाद का विकास व राष्ट्रीय चेतना का उदय
- अफ्रीका का विभाजन

15.1 प्रस्तावना

अफ्रीका के सहारा प्रदेश के दक्षिण में योरोप निवासियों के आने से पूर्व आर्थिक दृष्टि से इस प्रदेश में कोई उद्योग नहीं थे परन्तु इसके कई भागों में यहां की जनता ने विदेशी व्यापार की एक सुगठित व्यवस्था को जन्म दिया था । अनेक स्थानों पर इन लोगों ने स्वयं के राज्य तथा प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना की थी, जिनकी जनसंख्या तथा सीमा क्षेत्र उस समय योरोप में स्थित राज्यों से बड़ा था । उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अफ्रीका का भीतरी भाग संसार के अन्य क्षेत्रों से सम्पूर्णतया कटा हुआ था । केप वरडे से लेकर हॉर्न ले तक फैले सूडान पट्टी क्षेत्र में अनेक राज्य विद्यमान थे, जिनमें से कई राज्य अत्यन्त प्राचीन थे । सेनेगाल घाटी के मध्य में और उत्तरी गुएना के पहाड़ी क्षेत्र में फुटा टोरो और फुटा जल्लोन के राज्य थे । नाइगर पट्टी में भी अनेक राज्य स्थित थे, जिनके राजा सेगू वार्टा और मसीना थे । चड झील के प्रदेश में बोर्नू राज्य था, जिसका अधिकार इस झील के पश्चिमी प्रदेश तथा पूर्वी प्रदेश में बगीरमी सल्तनत तक फैला हुआ था । चड झील और नील नदी के मध्यवर्ती प्रदेश पर वडई और डफरूर के सुल्तान राज्य करते थे और नील नदी पर सेत्रार की फुन्ज सल्तनत का अधिकार था । अधिकतर इन राज्यों में मुस्लिम शासक थे । केवल इथोपिया एक ईसाई राज्य था । इसका ईसाई सम्राट शक्तिहीन था और इस राज्य पर दक्षिण दिशा निवासी गाला जाति के आदिम लोग लगातार आक्रमण करते रहते थे । पश्चिमी अफ्रीका के जंगली प्रदेश में मुख्य राज्य अशान्ति (वर्तमान का घाना); डहोमी और ओयो और बेनिन (वर्तमान के निएगरा प्रदेश मे) थे । उस समय के कई शक्तिशाली राज्य, जैसे बनयोरो, बुगान्डा, अनकोले, करागवे, रवान्डा

और बुरुन्डी-पूर्वी अफ्रीका की बड़ी झीलों वाले क्षेत्र में स्थापित थे । कान्गो बेसिन के दक्षिण में सवत्रा प्रदेश में लूबा लुन्डा जाति निवास करती थी जिनके राजा म्बाटा यमवो और म्बाटा कजम्बे थे । वर्तमान रोडेसिआ में म्बेनी मापा के राज्य थे ।

इन अफ्रीकी शासकों के अधिकतर संसार के अन्य देशों सई कोई संबंध नहीं थे, यद्यपि वे इन देशों से अनभिज्ञ नहीं थे । अफ्रीका के पश्चिमी समुद्र तट पर दासों के व्यापार से उन्हें योरुप निर्मित कई वस्तुएं प्राप्त होती थीं, जिनमें बडके, बारुद, कपड़ा तथा लोहे की छड़ें मुख्य थीं । सूडान प्रदेश के राज्य सहारा प्रदेश को पार करके उत्तरी अफ्रीका तथा मिस्र से व्यापक रूप से व्यापार करते थे । इस प्रकार में दासों के बदले चमड़े की वस्तुएं, हथियारों के लिए कोलानट्स, घोड़े, खाद्यान्न तथा धामिक ग्रंथों का व्यापारकिया जाता था । ये व्यापारी एक स्थान से दूसरे व्यापारिक स्थान तक सैकड़ों मील की यात्रा कई व्यापारिक मार्गों से किया करते थे । इस कारण से जब अफ्रीका में योरोप निवासियों का आगमन प्रारम्भ हुआ तो इन लोगों ने अफ्रीका के इन राज्यों एवं जागीरदारों से युद्ध किया । ये विदेशी सैन्य शक्ति में अधिक शक्तिशाली थे । उनमे 'पूर्ण अनुशासन था और व्यापारिक तथा कूटनीतिक दृष्टिकोण से भी वे सुसंगठित थे ।

15.2 अफ्रीका में साम्राज्यवाद

उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में जब कि योरोप के देशों में दास व्यापार पर रोक लगा दी गई तब ब्रिटेन के नाविक प्रहरी दस्तों में बढ़ोतरी हुई और ईसाई धर्म प्रचारकों (Missionaries) की संख्या भी बढ़ी तब अफ्रीका के भीतरी भागों की खोज की गई । समुद्री किनारे पर स्थिति राज्यों के राजाओं को विदेशियों द्वारा सुरक्षा प्रदान करने के सिद्धांत को स्वीकार करने हेतु समझाया गया । कुछ स्थानों पर दासों का व्यापार बन्द करने हेतु आर्थिक भुगतान भी किया गया तथा धन शक्ति के बल पर इन छोटे राज्यों को इनके प्रदेश को योरोप देशवासियों को देने के लिए बाध्य किया गया । उस समय पाम आइल एक मुख्य आयात की वस्तु थी । इसके अतिरिक्त कपास और मूंगफली की खेती करने के लिए भी उत्साहित किया गया । ईसाई धर्म प्रचारकों और व्यापारियों को यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि उनके कार्य क्षेत्र को अति गतिशील बनाने हेतु योरोपीय प्रतिनिधि तथा योरोपीय गन बोट उनकी इच्छानुसार समय पर उपलब्ध कराए जावें । इस प्रकार योरोपीय प्रभाव धीरे-धीरे अफ्रीकी समुद्रीतटीय प्रदेश में बढ़ने लगा । इस अधिकार क्षेत्र में वृद्धि होने के फलस्वरूप 1880 ई० में अफ्रीका में साम्राज्यवाद की नींव रखी गई । यह बात पश्चिमी अफ्रीका के संबंध में सत्य नहीं है जहां पर नाम मात्र को अफ्रीकी देशों के प्रभुत्व में व्यापार जगत था । अंग्रेज लोग नाइगर बेसिन के निचले भाग को अपना समझते थे । लागोस को 1861 ई० में अंग्रेजी सरकार ने अपना एक उपनिवेश बना लिया था । फ्रांसीसी लोगों ने स्वयं की सत्ता सेनेगल घाटी क्षेत्र में स्थापित कर ली थी और उस प्रदेश में गोंद का व्यापार करके अत्यधिक लाभ अर्जित किया था ।

सन् 188० ई० प्रारम्भ होने के समय योरोप वासियों का केवल अफ्रीका के समुद्रीय तटीय क्षेत्र में उनका राज्य था । उस समय ब्रिटेन, फ्रांस और पुर्तगाल का ही इस क्षेत्र अधिकार था । अंग्रेज उस समय दक्षिणी अफ्रीका की खाड़ी (Cap) क्षेत्र में प्रभावशाली थे और उनके

अधिकार में केवल गोल्ड कास्ट और गाम्बिया नामक छोटे क्षेत्र थे । फ्रांस का अधिकार केवल सनेगाल पर था । पुर्तगालियों ने अंगोला और मोजाम्बीक में अपनी बस्तियाँ स्थापित की थीं । उस समय देश का भीतरी भाग किसी भी विदेशी शक्ति के प्रभाव से पूर्णतया सुरक्षित था ।

परिस्थिति में 1871 ई० से लेकर 1914 ई० तक काफी परिवर्तन आया । इस समय योरोप में तीव्र गति से औद्योगीकरण हुआ । इस समय कृषि की बजाए उद्योग आजीविका का मुख्य साधन बन गए और एक विशाल जनसमुदाय इस पर आधारित हो गया । उद्योगों की बढ़ती के फलस्वरूप धन में वृद्धि हुई । उद्योगों में कच्चे माल की आवश्कता हेतु योरोपीय देशों ने अविकसित देशों का शोषण करना प्रारम्भ कर दिया और धीरे-धीरे उन्होंने अपने उपनिवेशों को बढ़ाना प्रारम्भ किया । सन् 1870 तक ब्रिटिश उद्योगपतियों ने जो कपड़ा मिलों, मशीनों और लोहा उद्योग से संबधीत योरोप के बाहर के देशों में अपने तैयार माल की खपत के लिए अच्छे बाजारों की खोज की । सन् 1870 ई० के पश्चात् जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम तथा मध्य योरोप के अन्य देशों के तैयार माल की खपत उनके देशों में ही हो जाती थी । इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने ब्रिटेन से माल नहीं आने हेतु यातायात अवरोधों (Tarrif Barriers) की स्थापना की थी । आगे चलकर अधिक उत्पादन होने के कारण इन देशों को विदेशों में बाजार खोजने पड़े । उनकी सरकारों द्वारा उनके अधिकारों की पूर्ण सुरक्षा के फलस्वरूप इन व्यापारिक संस्थानों ने अविकसित देशों पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित किया । इस समय व्यापारिक एवं उपनिवेश स्थापना के प्रतिस्पर्द्धा सबसे अधिक थी । इस समय प्रचलित साम्राज्यवाद का नामकरण 'नवीन साम्राज्यवाद' के रूप में किया गया । इसका हम किस प्रकार वर्णन करें इसकी व्याख्या कई रूपों में की जा सकती है ।

प्रसिद्ध ब्रिटिश अर्थशास्त्री जे०ए० होबसन ने सन् 187० और 1914 ई० के मध्य हुए औपनिवेश विकास का मुख्य कारण पश्चिमी तथा पूर्वी योरोपीय देशों में हुई आर्थिक प्रगति और अत्यधिक औद्योगीकरण माना है । इसका अन्य मुख्य कारण उन्होंने पूंजीवादियों की सस्ता कच्चा माल प्राप्त करने की लालसा, अच्छे बाजार, उत्तम पूंजी निवेश तथा नए देशों में लाभ भी अधिक आशा होना बताया है । संक्षेप में " बढ़ती हुई पूंजी के उचित निवेश हेतु आर्थिक कारणों द्वारा साम्राज्यवाद का जन्म हुआ ।" लेनिन ने इसका और अधिक विश्लेषण उनके लेख (Impirialis, the Highest Stage of Capitalism) (पूंजीवाद की सबसे उत्तम व्यवस्था- साम्राज्यवाद) में किया था । जिसका प्रकाशन 1916 ई० में हुआ था । उन्होंने योरोपीय पूंजीवादियों को अधिक पूंजी निवेश हेतु नए प्रदेशों की खोज की आवश्यकता पर बल दिया । अफ्रीका की ओर विशेष ध्यान आकर्षित होने का मुख्य कारण यह था कि यहां से प्राप्त कच्चे माल की योरोप के उद्योगों को आवश्यकता थी । इन वस्तुओं में कपास, रबर, वनस्पति तेलों तथा बहुमूल्य खनिज पदार्थों का समावेश था ।

यह एक निर्विवाद सत्य है कि साम्राज्यवाद के विकास में आर्थिक कारणों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया । उद्योग धंधों का विकास और अत्यधिक उत्पादन तथा कई संस्थानों द्वारा अर्जित अपार लाभ के कारण योरोप निवासियों को नए बाजार, कच्चे माल की आपूर्ति और नए क्षेत्रों की आवश्यकता प्रतीत हुई । सन् 1870 ई० में श्रमिकों के एक प्रतिनिधिमंडल ने साम्राज्ञी

विक्टोरिया के समक्ष एक निवेदन प्रस्तुत कर यह दर्शाया था कि ब्रिटेन के समुद्र के पार उसके जो उपनिवेश हैं उनसे यहां की जनता के कष्ट दूर हो सकते हैं ।

सामाज्यवाद के विकास में ईसाई धर्म प्रचारकों ने भी एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है । ब्रिटेन और फ्रांस का मुख्य उद्देश्य अफ्रीका के दास व्यापार को समाप्त करना था । अठारहवीं शताब्दी के अन्त में कई महत्वपूर्ण व्यक्तियों ने नए देशों की खोजें प्रारम्भ कीं । सन् 1788 ई० में 'अफ्रीकन एसोसिएशन' नामक संस्था ने अनजान प्रदेशों की खोज, उनके साधन तथा इस अभाग्य देश की उन्नति के लिए प्रयत्न किए । इस संस्थाने अपने एक प्रतिनिधिमंडल भी 1795 ई० में भेजा जिसके अध्यक्ष स्काटलैंड के एक चिकित्सक डॉ. मनगो पार्क थे । उसका अनुसरण कई अन्य व्यक्तियों ने भी किया परन्तु वे इस कार्य में असफल रहे । इन सब में डेविड लिविंग्सटन सबसे प्रसिद्ध खोजी रहा । उसको 'लंदन मिशनरी सोसाइटी' ने अफ्रीका में भेजा था । उसने उसकी खोज 'केप' से प्रारम्भ की । सन् 1849 ई० में लिबिंग्सटन ने कलाहारी नदी को पार करके उस प्रदेश में धर्म प्रचारकों के क्या कार्यक्षेत्र हो सकते हैं, इसका पता लगाया । उसने नगमी झील की खोज की । जाम्बेसी प्रदेश की खोज उसने 1857 से 1863 ई. के मध्य की थी । सन् 1856 में दो अंग्रेजों ने टनगानयिका और विक्टोरिया झीलों की खोज की । फ्रांस ने भी ईसाई धर्म प्रचार के लिए अफ्रीका में अपने मिशनरियों (धर्म प्रचारको) को भेजा । सन् 1869 में कार्डिनल लेबिगेरी 'सोसाइटी आफ अफ्रीकन मिशनरीज' नामक संस्था की स्थापना की । इस संस्था का आगे चलकर नाम 'व्हाइट फादर्स' हो गया । इनके अतिरिक्त इस प्रदेश में बेलजियन तथा जर्मन धर्म प्रचारक भी आए ।

सामाज्यवाद के विकास का एक अन्य मुख्य कारण उपनिवेशों के प्रशासक एवं सैनिक थे, जिन्होंने कठिन एवं विषम परिस्थितियों में उन प्रदेशों में शान्ति स्थापित कर एक सुचारू प्रशासन स्थापित किया । इस प्रकार इन उपनिवेशों में कई प्रसिद्ध प्रशासक हुए, जिनमें मिस में लार्ड क्रामर, दक्षिणी अफ्रीका में सेसिल रोड्स, नाइजीरिया में लार्ड लुगार्ड, केप में लार्ड माइनर, मोरको में मार्शल ल्याटे (Lyautey) और जर्मन पूर्वी अफ्रीका में कार्ल पीटर्स प्रमुख हैं । इन व्यक्तियों के बगैर अफ्रीका में योरोपीय साम्राज्य वाद एवं शक्ति का विकास असंभव था ।

संक्षेप में साम्राज्यवाद के उदय तथा उसकी प्रकृति के कई कारण हैं जो विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार के रहे हैं । वनस्पति शास्त्री जो उनके साथ अपन देश का झंडा लेकर गए उनको शासनाधिकारियों धर्म ग्रंथ-बाइबिल, पूंजीपति तथा व्यापारियों का सहयोग प्रापत करना उस समय-समय की आवश्यकता थी । अफ्रीका महाद्वीप के अनजान प्रदेशों की खोज तथा उसका दोहन विदेशियों के लिए एक लाभदायक वस्तु थी, जिसका प्रतिरोध बहुत कम राज्य कर सके । उदाहरणतया इस विषय में मिस, दक्षिण अफ्रीका तथा मोरक्को के नामों का उल्लेख साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के विषय में किया जा सकता है ।

15.3 मिस्त्र में ब्रिटिश साम्राज्यवाद व राष्ट्रीय चेतना

सोलहवीं शताब्दी से मिस्र आटोमन एम्पायर का भाग था । अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में मिस में आधुनिकता का प्रारम्भ हुआ । नेपोलियन बोनापार्ट नेजब 1798 में मिस्र पर अपना अधिकार स्थापित किया, उस समय 'आटोमन एम्पायर' मरणासन्न अवस्था में

थी । नेपोलियन ने उस समय इस प्रदेश में एक उन्नतिशील मुस्लिम राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया और वहां के प्रशासन के लिए एक दीवान तथा नौ शेखों की संस्था का प्रारम्भ किया, जिनका मुख्य कार्य प्रशासन चलाने हेतु अधिकारियों की नियुक्ति करना था । परन्तु वास्तव में आधुनिक मिस्र का निर्माता मोहम्मद अली या मेहमत अली नामक व्यक्ति था । वह एक मध्यम वर्गीय तम्बाकू के व्यापारी का पुत्र था । उसकी विशेष योग्यता के फलस्वरूप वह सन् 1803 में पाशा या गवर्नर के पद तक पहुंच गया । उस समय फ्रांस और ब्रिटेन दोनों ने इस प्रदेश को खाली कर दिया था । यह व्यक्ति उस समय का सबसे शक्तिशाली व्यक्ति था । वैसे, सैद्धांतिक दृष्टि से उस समय भी मिस ओटोमन एम्पायर का एक प्रान्त था । मुहम्मद अली ने इस्लामी विचारधारा का परित्याग करके अमेरिकनों एवं ग्रीकों को राज्य के ऊंचे पदों पर नियुक्त किया । इस प्रकार की नीति 1956 तक चलती रही, जबकि इजराईल ने मिस्र पर आक्रमण किया । मुहम्मद अली ने योरोपीय पद्धति सेसेना का संगठन किया । उसके शासन काल में रूई का व्यापार मिस्र की आर्थिक नीति का एक प्रमुख अंग था । मुहम्मद अली ने मिस्र में औद्योगिक क्षेत्र स्थापित किए । सन् 1816 तक उसने मिस में लोहे की भट्टियां, शकर साफ करने के कारखाने, एक कांच फेक्ट्री, बारूद गोला बनाने वाले कारखाने और एक जहाज के गोदाम (Shipyard) नामक औद्योगिक कारखानों की स्थापना की । सन् 1821 में सूती कपड़े की मिलें स्थापित की गई । सन् 1830 तक घरेलू कारखानों ने सस्ता सूती कपड़ा स्वयं के देश के उपयोग हेतु उत्पादन करना प्रारम्भ किया । अधिकतर उद्योगों पर सरकारी नियंत्रण था । इस योजना में विदेशी देशों का कोई सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। यहां तक कि अंग्रेजों ने तो इस नीति का घोर विरोध भी किया क्योंकि इससे अंग्रेजी व्यापार में मिस द्वारा एक व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा का प्रारम्भ हो गया था । अंत में पाशा का उद्योगों पर से सरकारी आधिपत्य हटाने के लिए सन् 1840 में विवश किया गया । इसके उपरान्त ही कुछ वर्षों में मिस की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ गई ।

प्रशासन एवं संगठन की दृष्टि से मुहम्मद अली द्वारा किए गए प्रयासों का परिणाम दीर्घकालीन रहा । सोलहवीं शताब्दी के पश्चात् मिस्र एक सशक्त प्रशासक के अधीन एक संगठित इकाई के रूप में रहा । राज्य के गवर्नर या मुदीर राज्य की समस्त गतिविधियों की सूचना सीधे पाशा को देते थे । सरकार ने कई विभागों को संगठित किया, जैसे- सैन्य विभाग, सामुद्रिक विभाग, (Navy), कृषि विभाग, वित्त विभाग, व्यापार विभाग, शिक्षा विभाग, पुलिस विभाग और विदेश विभाग इत्यादि ।

सन् 1849 में मुहम्मद अली की मृत्यु के पश्चात् मिस में रिश्वत खोरी (Curruption), दिवालियापन (Bankruptey) तथा अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक कंट्रोल व्यवस्था का बोलबाला हो गया । मुहम्मद अली के हपोते इस्माईल पाशा ने बिगड़ती हुई आर्थिक व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया । उसका शासन 1863 से 1879 तक रहा । अमेरिकन सिविल वार के प्रारम्भ होने पर मिस को उसकी आर्थिक स्थिति सुधारने का सुअवसर प्राप्त हुआ क्योंकि उस समय मिस्र की रूई की अत्यधिक मांग थी । परंतु इस्माईल ने इस धन को महलों के क्या अन्य सरकारी भवनों के निर्माण कार्य में लाया किया । इस सरकारी निर्माण में गैस और पानी की सुविधा मिस्र की राजधानी काहिरा में तथा उसके एक प्रसद्धि बन्दरगाह नगर एलेगजेन्ड्रिया

में की गई । उसने समस्त नील घाटी को रेलवे लाइन से जोड़ा । नई नहरों के निर्माण एवं नदियों पर बांधों के निर्माण के फलस्वरूप रूई की फसल उत्पन्न करने के क्षेत्र में विकास हुआ । उसने एक नवीन शिक्षा पद्धति भी अपनाई । सन् 1868 में एक नये कानून द्वारा प्राइमरी, सेकेन्ड्री और उच्च शिक्षण संस्थाएं स्थापित की गई । इस शिक्षण नीति में धर्म को महत्व नहीं दिया गया । सन् 1873 में इस्माईल की पत्नी ने प्रथम बालिका विद्यालय की स्थापना की । सरकार द्वारा स्वयं की प्रिंटिंग प्रेस तथा कागज बनाने के कारखाने स्थापित करने के कारण पुस्तकों के मुद्रण में पर्याप्त सहायता मिली और समाचार पत्रों का प्रकाशन भी तीव्र गति से बढ़ा ।

सन् 1869 में स्वेज नहर का एक अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक मार्ग खुलने के कारण मिस्र योरोपीय देशों की कूटनीति का एक प्रमुख केन्द्र बन गया । इस समय विदेशी देशों के हस्तक्षेप की संभावनाऐ और अधिक हो गई । सन् 1867 में इस्माईल ने आटोमन सुल्तान से समस्त प्रशासनिक कार्यों में केवल विदेशी मामलों को छोड़कर, आदेश जारी करने की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी और उसने 'खेडीव' की पदवी धारण की थी । इस पदवी से पाशा, वली, वायसराय या गर्वनर जनरल की पदवी से अधिक सम्मान प्राप्त हुआ । सन् 1873 में सवैधानिक रूप से मिस एक स्वतंत्र देश हो गया था जबकि आटोमन सुल्तान ने इस्माईल को सब कार्यों को करने की स्वीकृति प्रदान कर दी थी । इसके फलस्वरूप व्यापारिक संधियां तथा ऋण प्राप्त करने की संधिया आटोमन सुल्तान की स्वीकृति बिना होने लगीं । 1873 में खेदीव ने सूडान पर अधिकार कर लिया और इसके पश्चात् ईथोपिया और वर्तमान के केन्या पर भी उसका अधिकार हो गया ।

मिस्र में तीव्र गति से होने वाले आर्थिकीकरण से सामान्य जातना अधिक लाभान्वित न होसकी । अमेरिकन सिविल वार की समाप्ति के पश्चात् आर्थिक अवस्था में तेजी से गिरावट आई । अब मिस्र को पुन: अमेरिकन रूई से बाजार में प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ी । रूई के भाव एक दम गिर गए, उधार धन की वसूली की गई और करों में भी वृद्धि की गई । खेडीव द्वारा रूई की आपूर्ति शकर से करने के फल स्वरूप स्थिति और अधिक बिगड़ गई । निर्बल व्यवस्था तथा भ्रष्टाचार से ऋणों में वृद्धि हुई । ऋणों के भुगतान करने हेतु खेडीव को स्वेज नहर के शेयर ग्रेट ब्रिटेन कोसन् 1875 में लगभग चार मिलियन धनराशि के बेचने पड़े । परन्तु किसी भी उपाय से बिगड़ी हुई आर्थिक अवस्था में सुधार नहीं हुआ । विदेशी देशों के ऋण 1876 में 1863 के ऋण की अपेक्षा तीस गुना अधिक थे । सन् 1876 में खेडीव ने स्वयं को दिवालिया घोषित कर दिया । इस समय योरोपीय देशों ने प्रत्यक्ष रूप हस्तक्षेप प्रारम्भ किया । 'इंटरनेशनल डेब्ट कमिशन" की 1876 में नियुक्ति की गई, जिसमें इंग्लैंड, फ्रांस, इटली, आस्ट्रिया तथा रूस का प्रतिनिधित्व था । इस कमिशन के कन्ट्रोलर जनरल के पद पर एक अंग्रेज की नियुक्ति की गई, जिसको राजस्व विभाग का मुख्य अधिकारी बनाया गया । आडिट आफिस (लेखा जोखा) विभाग का अधिकारी एक फ्रांसीसी को बनाया गया । कमिशन को देश में उपलब्ध आर्थिक स्रोतों द्वारा धन वसूली करके ऋणों का सुचारू रूप से भुगतान करना था । जब योरोपीय देशों का दबाव अधिक हो गया और इस्माईल ने उनके आदेशों को पालन करने में

'असमर्थता जताई तो उसको हटाकर उसके पुत्र तेवफीक को सन् 1879 में खेडवी के पद पर आसीन कर दिया गया ।

इन परिस्थितियों के कारण मिस में राष्ट्रीय चेतना ने जन्म लिया । सन् 1870 में देश में चार विभित्र दल अस्तित्व में आए जिन्होंने विभिन्न समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित कराया । इनमें से दो वर्गों में धनाढ्य जमींदार थे, जिनमें से एक वर्ग ने उनके स्वार्थों की पूर्ति के लिए विदेशियों के हस्तक्षेप का विरोध किया, परन्तु दूसरे वर्ग ने हस्तक्षेप की सराहना की । उस समय महमूद नामक एक व्यक्ति तथा सेना के जूनियर अफसरों की एक टुकड़ी ने 'इस्तामिक माडर्निस्ट मूवमेंट' की नींव डाली । इस संस्था ने विदेशी हस्तक्षेप का घोर विरोध किया ।

इस आन्दोलन में जूनियर अफसरों का नेत्तव कर्नल अहमद अरबी ने किया । इन्होंने 1879 ई० में खेडीव को प्रधान मंत्री (Prime Ministar) के उसके पद से हटाने के लिए बाध्य किया और 1881 ई० में उन्होंने तुर्की के रक्षा मंत्री को भगा दिया । सन् 1882 में एक राष्ट्रीय सरकार की रचना की गई जिसमें कर्नल अरबी को रक्षा मंत्री बनाया गया ।

इस समय फ्रांस और इंग्लैण्ड को यह चिन्ता हुई कि मिस पर इन उदारवादियों का अधिकार हो जाएगा और उसके आर्थिक प्रभुत्व का अन्त हो जाएगा । इस कारण से अंग्रेज और फ्रान्सिसियों ने एक सामुद्रिक जहाजी बेड़े को अलेग्जेन्ड्रीया के बन्दरगाह पर भेजा । इसका मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय सरकार से योरोपियनों के हितों की रक्षा करना था । इससे मिस्र के देशभक्तों में उत्तेजना पैदा हो गई और मिस में जनता की कुद्ध भीड़ ने विदेशियों पर हिंसक आक्रमण प्रारम्भ कर दिए । इसी समय अरबी ने किसी भी विदेशी आक्रमण का सामना करने हेतु अलेग्जेन्ड्रिया को सेना से सुसज्जित कर दिया । जब इन रक्षा प्रयासों का अंग्रेजों ने विरोध किया और इसे बन्द करने की चेतावनी दी । जब इस चेतावनी का मिस के ऊपर कोई प्रभाव न पड़ा तो इस नगर पर अंग्रेजों ने गोलाबारी प्रारम्भ कर दी 1 जुलाई 1882 में अंग्रेजी सेना ने अलेग्जेन्ड्रीया में पदार्पण किया और कुछ ही सप्ताहों में मिस्र पर इंग्लैण्ड का अधिकार हो गया और 'ब्रिटिश प्रोटेक्टरेट' की संज्ञा में आ गया ।

सन् 1882 में मिस्र पर जब अंग्रेजों ने अपना अधिकार स्थापित किया, उस समय यह देश नाममात्र को 'आटोमन सल्तनत' के अधीन था, जिसका शासन खेडीव नामक अधिकारी करता था । उसके, समय वास्तविक शासक अंग्रेजी एजेन्ट तथा कोसल जनरल थे । उस समय इस पद पर सर एवीलिन बेरिंग था, जो लार्ड क्रोमर के नाम से विख्यात था । वह इस पद पर 1883 से लेकर 1907 तक रहा । वास्तव में इस समय वह मिस्र का वास्तविक शासक था । लार्ड क्रोमर के समय के अंग्रेजी शासन के समय में उसने मिस को दिवालिया होने से बचाया । रूई के उत्पादन में वृद्धि हुई और रूई के भावों में वृद्धि होने के कारण किसानों को बहुत लाभ हुआ । अंग्रेजों ने नये बांध और नदी पर बेरियरों का निर्माण कराया । सन् 1902 में नील नदी पर अस्वान डेम का निर्माण कराया गया । कृषि भूमि मैं वृद्धि हुई और इससे कृषि उत्पादनों में भी वृद्धि हुई । इसी समय रेलों की भी निर्माण कराया गया ।

उस समय देश की शासन व्यवस्था लार्ड डफरिन द्वारा सन 1883 से लेकर 1913 तक बनाए गए, कानूनों द्वारा की जाती था । इस विधान के अंतर्गत देश में दो खंडों (Chamber) वाली लोकसभा (Parliament) की व्यवस्था की गई थी । यह केवल परामर्शदात्री संस्था थी । इसको केवल परामर्श देने का दायित्व दिया गया था । इसके अतिरिक्त इसको नए कर लगाने का भी अनुमोदन करना पड़ता था ।

मिस्र पर अंग्रेजों के शासन के समय यद्यपि देश की आर्थिक व्यवस्था में सुधार आया, परन्तु देश की राजनैतिक एवं सामाजिक संस्थाओं में कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हुआ । उस समय अर्जित नए पदों जैसे- चिकित्सकों एवं वकीलों- के पदों से उच्च वर्ग वालों को वंचित रखा गया । उस समय अंग्रेजों की शिक्षा नीति का मुख्य उद्देश्य जनता को केतन प्रारम्भिक ज्ञान की शिक्षा उपलब्ध कराना था । इस शिक्षा के अन्तर्गत केवल प्रारंभिक गणित एवं पठन (Reading) का ज्ञान दिया जाता था, जिससे केवल लिपिकों कें पदों को भरा जा सके । उस समय उद्योग धंधों में भी कमी आइ क्योंकि ये अंग्रेजों के आर्थिक स्वार्थो के विपरीत थे । लॉर्ड क्रोमर की यह मान्यता थी कि रूई के व्यापार पर जो चुंगी प्राप्त होती थी वह देश में स्थापित घरेलू लघु कुटीर उद्योगों से अधिक होती है । इस चुंगी की आय से विदेशी कणों का भुगतान किया जाता था । इसके फलस्वरूप समूचे देश में अशान्ति का वातावरण व्याप्त था, जिसका विस्फोट सन् 1906 में हुआ जब एक अंग्रेज अफसर के हाथों शिकार के अवसर पर दिनशावई में एक स्त्री के गोली लग गई । उस क्षेत्र के किसानों ने इस शिकार पार्टी के एक व्यक्ति को मार डाला । क्रोमर ने इन अपराधियों को कठोर दंड देने का आदेश दिया । चार व्यक्तियों को खुले आम फांसी दे दी गई और सत्रह व्यक्तियों को बंदी बना लिया गया । इस घटना का ब्रिटिश पार्लियामेंट में घोर विरोध किया गया । यह घटना एक आंदोलन का कारण बनी । लॉर्ड क्रोमर को वापस इंग्लैंड बुला लिया गया और उनके स्थान पर एक नए एजेन्ट सर इडन गोस्ट को मिस्र भेजा गया ।

मिस्र में इस घटना से उत्पन्न हुए आन्दोलन का संचालन ' अलवतनी नामक पार्टी ने किया, जिसके सभापति मुस्तफा कामिल थे । इस पार्टी ने नारा दिया - 'मिस्र केवल मिस्र निवासियों के लिए ।' मुस्तफा की मृत्यु सन् 1908 मैं हो गई और अलवतनी पार्टी का स्थान 'वफ्द पार्टी' ने ले लिया, जिसका कार्य क्षेत्र प्रथम विश्व युद्ध तक रहा । इस युद्ध के प्रारम्भ होने का तात्पर्य था कि मिस के आटोमन साम्राज्य से संबंध समाप्त हो जाएं और यहां पर एक नई प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित हो । उस समय पर हेनरी मेकमहोन यहां के हाई कमिश्नर पद पर नियुक्त हुए । वास्तव में वही इस समय यहा का वास्तविक शासक था । उस समय खेडीव के पद पर हुसैन कमाल की नियुक्ति हुई । इस समय मिस्रवासियों ने जो पहले स्बतंत्रता प्राप्त की थी उसका पूर्णतया दमन किया गया । प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् फिर मिस में एक शक्तिशाली राष्ट्रीय आंदोलन कै बादल मंडराने लगे । उस समय इसका नया नेता साद जगतुल था ।

अफ्रिका के विभाजन के पश्चात अंग्रेजों को एक महत्वपूर्ण देश दक्षिणी अफ्रिका की प्राप्ति हुई । सन् 1806 में जब अंग्रेजों ने केपटाउन नगर को डच लोगों से जीता था, उस समय उन्होंने इस नगर को अपने जहाजों की लम्बी समुद्री यात्रा के लिए एक महत्वपूर्ण

बन्दरगाह का दर्जा दिया था । डच निवासियों ने अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए 1836-37 में देश के अन्दर के भाग में प्रवेश कर आरेन्ज फ्री स्टेट और ट्रान्सवाल रिपब्लिक की स्थापना थी । डच निवासियों को बोअर के नाम से भी संबोधित किया जाता था ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में बोअर रिपब्लिक की स्वतंत्रता पर विस्थापितों के आने के कारण विपत्ति के बादल मंडराने लगे । इन विस्थापितों (Immiqrents) में अधिकतर अंग्रेज थे । वोअर्स ने उन्हें विदेशियों की संज्ञा सै संबोधित किया । उस समय अंग्रेजों का ध्यान दक्षिणी अफ्रीका के उत्तरी भाग की ओर आकर्षित हुआ क्योंकि सन् 1869 में किम्बरले में हीरो का तथा 1886 मैं विटवाटसरईन्ड मैं सोने का पता चला । केप के मुख्यमंत्री (Prime Minister) सेसिल रोडर बोअर गणतंत्र (Boar Republic) को अपने राज्य में सम्मिलित करना चाहता था । सेसिल रोडर स्वयं एक व्यवसायी था । वह इन मूल्यवान धातुओं के व्यापार में अपने धन का उपयोग करना चाहता था । रोड्स के उत्तेजित करने पर डाक्टर जैम्सन ने सन् 1895 मैं ट्रांसवाल पर आक्रमण कर दिया । ट्रांन्सवाल के राष्ट्रपति (President) ने इस आक्रमण को विफल कर दिया । इसके फलस्वरूप रोड्स को अपनी सत्ता का त्याग करना पड़ा । परन्तु अंग्रेजों के हितों की रक्षा दक्षिणी अफ्रीका के ब्रिटिश हाई कमिश्नर सर अलरेड मिलनर ने की । सन् 1899 में उसने विद्रोह को वढ़ावा दिया । आरेन्ज फ्री स्टेट के बोअरों ने ट्रांसवाल की सेना के साथ मिलकर युद्ध किया । यह युद्ध तीन वर्ष तक चलता रहा । युद्ध की समाप्ति पर समस्त दक्षिण अफ्रीका जिसमें नाटाल भी सम्मिलित था तथा आरेन्ट फ्री स्टेट और ट्रान्सवाल ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन हो गए । दक्षिण अफ्रीका संघ का गठन 1909 ई० में हुआ । जिसकी जनसंख्या छ: मिलियन थी, जिसमें एक चौथाई से कम गोरे लोग थे ।

15.4 अफ्रीका का विभाजन

उस समय उत्तरी अफ्रीका मे कोइ योरोपीय देशों का राज न था । केवल मोरको के उत्तरी क्षेत्र में टेनजियर्स पर स्पेन का अधिकार या । सन् 1830 के प्रारम्म में फ्रांस ने अल्जीरिया का विजित कर लिया । इस विजय का उद्देश्य राज्य की सीमा में वृद्धि करना नहीं वरन् एक सम्मानस्वरूप था । डस अधिकार से फ्रांस का प्रभाव मोरको में वढ गया । सन् 1905 तक मोरक्को के विपक्ष मैं कोई गंभीर समस्या उत्पन्न नहीं हुई यद्यपि फ्रांसीसियों एवं मोरक्को के सुल्तान के अलजीयर्स तथा मोरको की सीमा संबंधी विवाद अवश्य था । सन 1900 मैं फ्रांस ने मोरको में कुछ विशेष अधिकारों की मांग को क्योंकि मोरको प्रदेश अल्जीरिया और फ्रांस के इक्वेटोरियल प्रदेश जाने के लिए एक कड़ी समान था । ब्रिटेन के भी मारकठो में व्यापारिक लाभ थे । जर्मनी ने भी इस समय फ्रांस तथा ब्रिटेन के संबंधों में फूट डालने का प्रयत्न किया । अन्त में इस समस्या के समाधान हेतु एक अंतराष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया । इस सम्मेलन में योरोप की समस्त प्रसिद्ध शक्तियों के प्रतिनिधियों, अमेरिका, पुर्तगाल तथा स्वेडन ने भाग लिया । इस सम्मेलन में जर्मनी की आशा के विपरीत केवल आस्ट्रिया को छोड़कर अन्य सभी शक्तियों जिसमें ब्रिटेन भी सम्मिलित था, फ्रांस की मांग को समर्थन टिया । फ्रांस को मोरको के प्रशासन में एक विशेष अधिकार का दायित्व मिला । एक नए स्टेट वैंक ऑफ मोरोक्को की स्थापना की गई, जिसमें फ्रांस को सबसे अधिक लाभ प्राप्त

हुआ। मोरोक्को के सुल्तान के पुलिस विभाग को फ्रांस और स्पेन के सम्मिलित अधिकार क्षेत्र में रखा गया । सन् 1909 में जर्मनी भी मोरक्को में फ्रांस के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया । सन् 1911 में मोरक्को पर अधिकार के विषय में फिर एक विवाद उत्पन्न हो गया जब कि जर्मनी के एक सैनिक जहाज पेन्थर ने बदले की भावना से अगादिर बंदरगाह पर पहुंच गया । उस समय फेज नामक नगर पर फ्रांस का अधिकार था, जो फ्रांस को सुल्तान की विद्रोहियों में रक्षा करने के फलस्वरूप प्राप्त हुआ था । उसी समय ब्रिटेन के सैनिक जहाजी बड़े ने भी युद्ध की तैयारी प्रारम्भ की । इसी समय सन 1911 मैं जर्मनी ने अंतिम रूप से फ्रांस के सामन आत्मसमर्पण कर दिया और उसने मोरक्को पर फ्रांस के अधिकार को स्वीकार कर लिया । इसके फलस्वरूप जर्मनी को कांगो के फ्रांसीसी अधिकार वाले प्रदेश मैं एक लाख वर्ग मील क्षेत्र दिया गया । मोरक्को को 1956 ई० में स्वतंत्रता प्राप्त हुई ।

अफ्रीका के विभाजन में आर्थिक कारण मुख्य थे । इसी कारण से विभाजन के पश्चात आर्थिक सुधारों का प्रारम्भ हुआ। किम्बरले में 1867 में हीरो की खोज और विटवाटर्सरण्ड मैं 1884 में सोने की खोज 'और रोड़ोशिया में सोना तथा पीतल की खोज के कारण विदेशी कम्पनियों ने इन प्रदेशों में विशाल कृषि भूमि लेना प्रारम्भ किया । इस प्रकार इन विदेशी कम्पनियां ने कृषि साधनों को अपने हस्तगत कर लिया । अधिक भूमि मैं कृषि के कारण नया यातायात के साधनों में वृद्धि के कारण व्यापार मैं अप्रत्याशित वृद्धि हुई, जिससे अपार लाभ प्राप्त हुआ। इस आर्थिक प्रगति का प्रभाव यहां के स्थानीय. नागरिकों के जीवन पर भी पड़ा । विदेशियों के कृषि भूमि खरीदने के कारण स्थानीय लोगों के पास खेती योग्य भूमि मैं कमी आई । इन कारण से अफ्रीका निवासियों का इन विदेशी गोरों के अधीन उनके कृषी फार्मों पर मजदूरों के रूप में कार्य करना पड़ा। यदि अफ्रीका निवासी खेतों मैं और खानों मे मजदूरी करने से मना करते तो उनसे जबरदस्ती कार्य कराया जाने लगा इस उद्देश्य को पूर्ति के लिए एक नया हेड टैक्स लगाया गया । इस टेक्स का भुगतान करने हेतु अफ्रीका निवासियों को विवश होकर मजदूरी करनी पड़ती थी । इस प्रकार इन प्रटैशौ मैं योरोपीय देशों का प्रभाव दो प्रकार से था । प्रथम तो अफ्रीका निवासियों का अंतराष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं में उलझाए रखना 'और डस प्रकार उन पर अपना प्रभुत्व कायम रखना चाहे वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप मैं क्यों न हो । जिसके कारण गोरी चमड़ी वाले सदैव उनके वास (Boss) रहें ।

योरोपीय व्यापारियों पूँजीपतियों एवं निवासियों के साथ इसाई धर्म प्रचारक (missionies) भी अफ्रीका पहुंचे । उनके अफ्रीका की सभ्यता पर अमिट प्रभाव रहा क्योंकि वे प्रथम विदेशी थे जिन्होंने इस दिशा में प्रयत्न किए । इन धर्म प्रचारकों का उद्देश्य अफ्रीका निवासियों के रहन-सहन में गिरावट लाना था । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन्होंने शिक्षा, चिकित्सा एवं धर्म के क्षेत्र को अपनाया ।

योरोप का प्रभाव राजनैतिक अवस्था के अतिरिक्त आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र मैं भी दृष्टिगोचर हुआ । उस समय का प्रशासन स्थानीय आदिवासी प्रमुखों द्वारा किया जाता था । उनके इस अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं किया गया । उनकी प्रशासनिक संस्थाओं को रहने दिया गया । वें इस समय भी उनके, वृद्धों की समिति, उनके स्वयं के नियम तथा न्यायालय यथावत कार्य करते रहै । इस प्रकार उनकी प्रशासनिक व्यवस्था अपने मूल रूप में प्रचलित रही

। परन्तु यह अवस्था केवल नाममात्र की थी । उनके प्रमुखों की नियुक्ति एवं पदों से हटाने का कार्य वहां के स्थानीय योरोपीय प्रशासक ही करते थे । आदिवासियों के बनाए गए नियमों का पालन 'भी यथावत नहीं होता था, क्योंकि योरोपीय अधिकारी उसके लिए बाध्य नहीं थे । अन्तिम निर्णय योरोपीय प्रशासनिक अधिकारियों का ही मान्य होता था ।

15.5 बोध प्रश्न

1. अफ्रीका में साम्राज्यवाद के विकास के कारण बताइए ।
2. मिस्र में राष्ट्रीय चेतना के विकास के कारण बताइये ।

15.6 संदर्भ ग्रंथ :-

1. क्रेग, गोर्डन ए. - योरूप सिन्स 1815 (हाल्ट राइनहार्ट विन्सटन, न्यूयार्क, 1962)
2. फर्ग्युसन, वालेस के. और ब्रुन ज्योफेरी - ए सर्वे आफ यूरोपियन सिविलाइजेशन (हूगटन मिफलिन कंपनी वोस्टन, 1952)
3. गेरेटी, जान. ए. और गे, पीटर - टी कोलम्बिया हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड, (हार्पर और रॉ. न्यूयार्क, 1981)
4. लेकर रोयट रोबर्ट - ए हिस्ट्री आफ साउथ अफ्रीका (केसेल एन्ड कंपनी, लन्दन 1977)
5. पेरेट्ज, डान - दी मिडिल ईस्ट टुडे (होल्ट राईनहार्ट और विन्सटन, न्यूयार्क । 978)
6. स्टावरिआनोस, एल. एस. - मेन्स पास्ट एन्ड प्रिजेन्ट-ए ग्लोबल हिस्ट्री (प्रेन्टिस हाल INC. लन्दन 1971)
7. थामस, डेविड - योरूप सिन्स नैपोलियन (पैनगुइन बुक्स, मिडिलसेक्स, 1973).

mRrj in'k jktf"k V.Mu
eqDr fo'ofo|ky;

MAHY-104
आधुनिक विश्व

एम.ए. पाठ्यक्रम
(इतिहास)

खण्ड-2
राष्ट्रवाद, पूँजीवाद एवं समाजवाद–4

इकाई संख्या	पृष्ठ संख्या
इकाई 16	
बाल्कन में उथल-पुथल व उत्तेजना (बाल्कन युद्ध) 1878-1914	5–18
इकाई 17	
चर्च और राज्य के संबंध	19–45
इकाई 18	
टर्की मे समाज सुधार व युवतुर्क आन्दोलन	46–60
इकाई 19	
अमेरिका में काले लोगों का इतिहास	61–76

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. बी.एस. शर्मा, कुलपति (अध्यक्ष)

प्रो. रविन्द्र कुमार निदेशक, नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, नई दिल्ली	**प्रो. बी.आर. ग्रोवर** पूर्व निदेशक, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली
प्रो. एस.पी. गुप्ता इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ.प्र.)	**प्रो. जे.पी. मिश्रा** पूर्व इतिहास विभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
प्रो. के.एस. गुप्ता इतिहास विभाग, मोहन लाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)	**डा. बृजकिशोर शर्मा** विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)
डा. श्रीमती कमलेश शर्मा इतिहास विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा	**डा. याकूब अली खान** इतिहास विभाग कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठ्यक्रम निर्माण दल

श्री मोहन लाल शाहू इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय, कोटा	**डा. अमीनुद्दीन** इतिहास विभाग डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर
श्री के.सी. माथुर राजकीय महाविद्यालय भीलवाड़ा (राज.)	

पाठ्यक्रम प्रभारी एवं सम्पादक

डा. (श्रीमती) कमलेश शर्मा,

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो.(डॉ.) नरेश दाधीच कुलपति **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा**	**प्रो.(डॉ.)एम.के.घड़ोलिया** निदेशक(**अकादमिक**) **संकाय विभाग**	**योगेन्द्र गोयल** प्रभारी अधिकारी **पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग**

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनः उत्पादन - मार्च 2011 MAHI-02/ISBN No.-13/978-81-8496-261-1

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इकाई-16

बाल्कन में उथल-पुथल व उत्तेजना (बाल्कन-युद्ध) 1878-1914

इकाई की रूपरेखा

इकाई- 160 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 बाल्कन क्षेत्र

16.3 पूर्वी समस्या एवं बाल्कन राज्य

16.4 बर्लिन कांग्रेस एवं बाल्कन संकट

16.4.1 बाल्कन विद्रोह

16.4.2 रूस व आस्ट्रिया की प्रतिक्रिया

16.4.3 रूस-टर्की संघर्ष

16.4.4 सेनस्टीफेनो की संधि

16.4.5 यूरोपीय राज्यों में संधि की प्रतिक्रिया

16.4.6 बर्लिन सम्मेलन

16.4.7 समीक्षा

16.5 प्रथम बाल्कन युद्ध-कारण

16.5.1 बाल्कन संघ का गठन

16.5.2 युवा तुर्क आन्दोलन

16.5.3 यूरोप में राष्ट्रीय भावनाओं का प्रसार

16.5.4 टर्की सुल्तान के अत्याचार व प्रशासनिक भ्रष्टाचार

16.5.5 आस्ट्रिया द्‌वारा बोस्निया व हर्जीगोविना पर अधिकार

16.5.6 रूस का कूटनीतिक सहयोग

16.5.7 इटली का ट्रिपोली पर अधिकार

16.5.8 मेसीडोनिया में सुधारों की मांग

16.6 घटनाक्रम

16.7 लन्दन संधि

16.8 द्‌वितीय बाल्कन युद्ध-कारण

16.8.1 लन्दन सन्धि

16.8.2 अल्बानिया का निर्माण

16.8.3 बल्गेरिया का अंहकार

16.8.4 आस्ट्रिया द्‌वारा सर्बिया का विरोध

16.8.5 मेसीडोनिया का प्रश्न
16.9 घटनाक्रम
16.10 बुखारेस्ट की संधि
16.11 संधि की समीक्षा
16.12 परिणाम
16.12.1 अपार धन-जन की हानि
16.12.2 तुर्की साम्राज्य का पतन
16.12.3 सर्बिया का शक्तिशाली होना
16.12.4 रूस की यूरोप में सक्रियता
16.12.5 सर्बिया व आस्ट्रिया की शत्रुता
16.12.6 बाल्कन संघ का विघटन
16.12.7 बाल्कन क्षेत्र के ईसाइयों को राहत
16.12.8 सैनिकवाद का प्रबल होना
16.12.9 बाल्कन क्षेत्र के ईसाइयों को राहत
16.12.10 प्रथम विश्व युद्ध की पृष्ठ-भूमि तैयार होना
16.13 सारांश
16.14 बोध प्रश्न
16.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पड़ने के बाद आप-

बाल्कन क्षेत्र व बाल्कन राज्यों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकेगें ।

पूर्वी समस्या क्या थी, यह जान पायेगें ।

बाल्कन क्षेत्र में प्रभाव को लेकर रूस व टर्की के संघर्ष के बारे में जानकारी। प्राप्त कर सकेंगे ।

उन आधारभूत तत्वों के बारे में जान सकेंगे, जिनकी वजह से बर्लिन कांग्रेस आयोजित की गई ।

प्रथम बाल्कन युद्ध के कारणों की जानकारी प्राप्त कर सकेगें ।

द्वितीय बाल्कन युद्ध के लिए उत्तरदायसी परिस्थितियों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।

बाल्कन युद्धों के परिणामों को समझ सकेंगें ।

प्रथम महायुद्ध की पृष्ठ-भूमि के बारे में जान सकेंगे ।

16.1: प्रस्तावना:-

यूरोप के इतिहास में बाल्कन राज्यों की समस्या ने सम्पूर्ण विश्व की राजनीति को प्रभावित किया हैं । 17 वीं शतब्दी के अन्त में टर्की एक शक्तिशाली व विशाल साम्राज्य के रूप में उभर के आया था । टर्की व बाल्कन राज्यों के मध्य लगातार कई वर्षो तक संघर्ष चलता रहा ।

16.2 बाल्कन क्षेत्र

बाल्कन शब्द तुर्की भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ हैं, "पहाड़" । इस प्रायद्वीप में कई छोटे-छोटे पहाड़ स्थित हैं । पहाड़ों के कारण ही यह क्षेत्र छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त है । इस क्षेत्र के अन्तर्गत अधिकांशतया पूर्वी यूरोप के राज्य आते हैं । प्रमुख बाल्कन राज्य हैं, बोस्निया हर्जीगोविना, यूनान, बलगेरिया, सर्बिया, मान्टीनिग्रो, रूमानिया आदि ।

16.3 पूर्वी समस्या व बाल्कन राज्य:-

टर्की द्वारा इन बाल्कन राज्यों का लगातार शोषण किया जाता रहा । इस शोषण के खिलाफ इन राज्यों ने टर्की के विरूद्ध समय-समय पर आवाज़ उठायी । रूस बाल्कन में, अपना प्रभाव रखना चाहता था, ताकि उसे अन्य देशों से आक्रमण का खतरा न रहे व टर्की को नष्ट कर देना चाहता था, परन्तु इग्लैण्ड व अन्य मित्र राष्ट्र रूस के प्रभाव को रोकने के लिए टर्की साम्राज्य के अस्तित्व को बनाये रखना चाहते थे । इन नीतियों को लेकर समय-समय पर टर्की व बाल्कन राज्यों में संघर्ष हुआ । यूरोपीय देशों ने समय-समय पर बाल्कन क्षेत्र व टर्की के मतभेदों को दूर करने का प्रयास किया । इस क्षेत्र से सम्बन्धित इसी समस्या को बाल्कन संकट के नाम से जाना जाता है इतिहास में यह पूर्वी समस्या के नाम से प्रसिद्ध है ।

जान मर्ले ने इस संकट की व्याख्या करते हुए लिखा है "परस्पर विरोधी जातियों, धर्मो एंव पृथक स्थानों के संघर्ष से उत्पन्न जटिल, असाध्य और परिवर्तनशील समस्या को पूर्वी समस्या के नाम से जाना जाता है ।" (मेरियट)

मिलर ने इस सम्बन्ध में लिखा है- "यूरोप में तुर्की साम्राज्य के क्रमश: विघटन से उत्पन्न खाई को भरने की समस्या को पूर्वी समस्या कहते हैं । "

16.4: बर्लिन कांग्रेस एवं बाल्कन समस्या-1878

बाल्कन राज्यों, टर्की और रूस के आपसी तनावों के कारण ही बर्लिन कांग्रेस का आयोजन किया गया । रूस, टर्की को कमजोर बनाना चाहता था, परन्तु यूरोपीय राष्ट्र रूस के प्रभाव को बाल्कन क्षेत्र में रोकने के लिए टर्की को शक्तिशाली रखना चाहते थे । इन राज्यों में इंग्लैण्ड; फ्रांस प्रमुख थे । बर्लिन कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य इसी से सम्बन्धित था ।

16.4.1: बाल्कन विद्रोह :- (1875-77)

1875 में बोस्निया व हर्जीगोविना के कृषकों ने तुर्की के विरूद्ध विद्रोह कर दिया । उनके पड़ौसी राज्य बल्गेरिया, मान्टीनीग्रो, व सर्बिया के स्लाव भी विद्रोह में सम्मिलित हो गए।

बाल्कन क्षेत्र में संकट की स्थिति हो गई । आस्ट्रिया, रूस व जर्मनी ने मिलकर इस समस्या पर विचार किया । इस समय तक इन तीनों राष्ट्रों का त्रिराष्ट्र संघ बन चुका था । तीनों की सलाह से आस्ट्रिया के विदेश मंत्री एन्द्रासी ने 30 दिसम्बर 1875 को टर्की के सुल्तान के पास एक पत्र भेजा जिसे "एन्द्रासी नोट" कहा जाता है इस पत्र में विद्रोहियों, को शान्त करने के लिए टर्की से आवश्यक सुधार करने व यूरोप में शान्ति बनाये रखने के लिए कहा । सुल्तान ने एन्द्रासी नोट की सारी बातें मान ली, लेकिन विद्रोही संतुष्ट नहीं हुए । अप्रैल 1876 में बल्गेरिया भी विद्रोह में शामिल हो गया ।

16.4.2: रूस व आस्ट्रिया की प्रतिक्रिया:-

इस बिगड़ती हुई स्थिति को देखकर आस्ट्रिया व रूस के विदेश मंत्री एन्द्रासी व गार्शकाव बर्लिन में बिस्मार्क से मिले और समस्या के समाधान के लिए "बर्लिन स्मृति-पत्र" तैयार किया । इस स्मृति-पत्र के द्वारा टर्की के सुल्तान से कहा गया-

1. दो माह के लिए युद्ध बन्द कर दें ।
2. इस अवधि में आवश्यक सुधारों को क्रियान्वित करें ।
3. टर्की प्रशासन द्वारा बोस्निया व हर्जीगोविना के बन्दियों को पुन: बसाने का प्रबन्ध किया जाए।
4. ईसाई विद्रोहियों को कुछ समय तक अस्त्र-शस्त्र की अनुमति दी जाएं ।
5. तुर्की सेनाएं अपने पूर्व के निश्चत स्थानों पर रखी जाएं ।

अन्त में टर्की को चेतावनी दी गई कि युद्ध विराम अवधि में बड़ी शक्तियों की इच्छा के अनुकूल सफलता नहीं मिली, तो कठोर कदम उठाने पड़ेगें" (लेंगर-यूरोपीयन एलाइन्सेज एण्ड एलाइन्मेन्ट) इस समृति-पत्र का इग्लैण्ड ने समर्थन नहीं किया । ब्रिटिश प्रधानमन्त्री डिजरैली ने रूसी राजदूत सुवालाव से कहा- "इग्लैण्ड के साथ इस प्रकार का अपमान जनक व्यवहार किया गया है, जैसाकि मान्टीनीग्रो के साथ किया जाता है ।" (टेलर) इग्लैण्ड़ की इस सहानुभूति से टर्की का साहस बढ़ गया और उसने बल्गेरिया के हजारों ईसाईयों को मौत के घाट उतार दिया । 30 जून को सर्बिया व एक जुलाई को मान्टीनीग्रों ने टर्की के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी ।

16.4.3: टर्की व रूस का संघर्ष:-

रूसी राजदूत शुवालाव व ब्रिटिश विदेशमंत्री डरबी द्वारा लन्दन पूर्व संधि (मार्च-1877) का प्रारूप तैयार किया गया, लेकिन टर्की ने 9 अप्रैल 1877 को लन्दन की पूर्व संधि को अस्वीकार कर दिया । इस प्रकार बाल्कन समस्या के शान्ति पूर्ण हल का यह अन्तिम प्रयास भी असफल हो गया । जब रूस ने देखा कि यूरोपीय राज्यों के समझौते के प्रयत्न निरर्थक हो गए हैं तो उसने विवश होकर स्लाव जातियों की रक्षा के लिए 24 अप्रैल, '1877 को टर्की के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी । इस युद्ध में रूस का राजनैतिक स्वार्थ निहित था ।

रूसी सेनाओं ने रूमानिया क्षेत्र से होकर 22 जून, 1877 को डेन्यूब पार कर ली और बाल्कन की पहाड़ियों की ओर बढ़ने लगी । मान्टीनीग्रों व रूमानिया टर्की के विरूद्ध पहले ही युद्ध

घोषित कर चुका था । टर्की सेना का नेतृत्व उस्मान पाशा कर रहे थे । 19 जुलाई को रूसी सेना ने शिपका घाटी का अधिकार कर लिया । टर्की ने अपनी सेना को प्लेवना में रोक लिया । रूमानिया के प्रिन्स केरोल के नेतृत्व में रूस व रोमानिया की सेना ने प्लेवना का घेरा डाला । मेरियट ने लिखा हैं, कि "यह घेरा पॉच महीने तक चला । उस्मान पाशा के नेतृत्व में टर्की की सेना ने वीरता से किले की रक्षा की, किन्तु 10 दिसम्बर को प्लेवना का पतन हो गया "(दी ईस्टर्न क्वश्चन- पृष्ठ 335) रूसी सेनाएं टर्की की राजधानी की ओर बढ़ने 'लगी, परन्तु इग्लैण्ड़ की चेतावनी के कारण काससटेन्टी नोपॉल पर अधिकार नहीं किया । 5 जनवरी को सोफीया पर अधिकार करने के बाद सेनाएं 18 जनवरी 1878 को एडियानोपॉल पहुॅच गयी ।

16.4.4: सेनस्टीफेनो सन्धि (मार्च-1878)

आस्ट्रिया व इग्लैण्ड़ दोनों ही रूसी प्रभाव को रोकना चाहते थे । 3 मार्च 1878 को रूसी सेनापति इगनातेव ने रूसी शर्तो के आधार पर टर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद को सेनस्टीफेनों नामक स्थान पर सन्धि के लिए बाध्य किया । इस सन्धि की प्रमुख शर्ते थीं-

1. टर्की ने सर्बिया मान्टीनीग्रो व रूमानिया की स्वतन्त्रता मान ली ।
2. बोस्निया व हर्जीगोविना में प्रस्तावित सुधारों की क्रियान्विती का वचन दिया ।
3. टर्की से रूस ने 1410000000 रूबल हर्जाने की मांग की ।
4. बल्गेरिया को स्वायत्तता राज्य की मान्यता दी गयी और उसकी सीमाओं में वृद्वि कर बृहत् बल्गेरिया का निर्माण किया गया ।

16.4.5: यूरोपीय राज्यों में सन्धि की प्रतिक्रिया:-

वृहत् बल्गेरिया का निर्माण इस संधि का महत्वपूर्ण अंग था । आस्ट्रिया व ब्रिटेन ने इसका विरोध किया । ब्रिटिश प्रधानमंत्री बीकन्सफील्ड ने लार्ड सभा में कहा था- "सेनस्टीफेनों संधि ने यूरोप में आटोमन साम्राज्य को समाप्त कर दिया है । उसने बृहत् बल्गेरिया का निर्माण किया जिसमें कई ऐसी जातियां हैं, जो बलगार नहीं हैंद्रद्र संधि की समस्त शर्तो का प्रभाव यह होगा, कि काला सागर उसी प्रकार रूस की झील बन जायेगा, जैसे केस्पियन सागर है । (मेरियट-दी ईस्टर्न क्वश्चन- पृष्ठ 339) आस्ट्रिया ने भी इस संधि का विरोध किया और रूसी सेनापति इगनातेव से "बृहत् बल्गेरिया को विघटित करने की मांग की और पश्चिमी बाल्कन क्षेत्र में आस्ट्रिया की प्रधानता स्वीकार करने को कहा "(टेलर-दी स्ट्रगल फार मास्ट्रीइन यूरोप)

16.4.6. बर्लिन सम्मेलन- 13 जून से 13 जुलाई 1878:-

यूरोपीय देशों ने सेनस्टीफेनों की संधि पर पुन: विचार के लिये सम्मेलन की मांग की । रूस को ब्रिटेन तथा आस्ट्रिया के विरोध, बिस्मार्क द्वारा आस्ट्रिया के विरूद्ध उसका समर्थन न करने तथा अपनी बिगड़ती हुई स्थिति के कारण सेनस्टीफेनों की संधि को यूरोपीय कांग्रेस के समक्ष पुन: विचार हेतु प्रस्तुत करने के लिये तैयार होना पड़ा । आमन्त्रण का कार्य बिस्मार्क को

सौंपा गया । पैरिस संधि पर हस्ताक्षर करने वाले सभी राज्यों को सम्मेलन में आंमत्रित किया गया।

13 जून 1878 को बर्लिन में सम्मेलन आयोजित किया गया । प्रमुख प्रतिनिधियों में थे- ब्रिटेन के प्रधानमंत्री डिजरैली व विदेश मंत्री सैलिसबरी, आस्ट्रिया-विदेशमंत्री एन्द्रासी और जर्मनी में आस्ट्रियन राजदूत काउन्ट राजदूत काउन्ट कार्लोपी रूस, विदेश मंत्री गार्शकाव व ब्रिटेन ने रूसी राजदूत शूवालाव, फ्रांस विदेशमंत्री वाडिगटन, इटली-काउण्ट कोर्ती । कुछ इतिहासकार भी इसमें सम्मिलित हुए, जिनमें डब्ल्यू एन. मेडलीकाट व विलियम लेंगर मुख्य थे ।

संधि की शर्ते:

1. बल्गेरिया को तीन भागों में बांटा गया:-
   मुख्य बल्गेरिया को स्वायत्तता दी गयी ।
   पूर्वी रोमेलिया को अर्द्ध स्वायत्तता दी गया ।
   मेसीडोनिया पर टर्की का पूर्ण प्रभुत्व रखा गया ।
2. आस्ट्रिया को बोस्निया व हर्जीगोविना पर प्रशासन का अधिकार दिया गया । नोवी बाजार पर उसका नियन्त्रण स्थापित हुआ।
3. इंग्लैण्ड को नौ-सैनिक अड्डा बनाने हेतु साइप्रस दिया गया ।
4. रूस को बेसारेबिया (यूरोप) और बाटुम (एशिया) दिया गया ।
5. सर्बिया को स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया ।
6. मान्टीनीग्रो व रूमानिया को स्वतन्त्र राज्य की मान्यता दी गई ।

16.4.6: समीक्षा:-

सम्मेलन के अध्यक्ष बिस्मार्क ने "ईमानदार दलाल" की भूमिका अच्छी तरह निभाई, लेकिन इतिहासकार टेलर के अनुसार सम्मेलन के निर्णयों का बहुत कम प्रभाव पड़ा । ब्रिटिश प्रधानमंत्री बीकन्सफील्ड ने इंग्लैण्ड लौटने पर घोषणा की - "मै सम्मान-सहित शान्ति लाया हूं"। इतिहासकार जी0 पी0 गूच (हिस्ट्री ऑफ माडर्न यूरोप) के अनुसार "उच्च राजनैतिक क्षेत्र में बर्लिन कांग्रेस का यह विशिष्ठ प्रभाव पड़ा कि रूस जर्मनी से विमुख हो गया ।" ।

बाल्कन समस्या के समाधान में यह कांग्रेस असफल रही । बाल्कन राज्य और अधिक असन्तुष्ट हो गये । डेविड थामसन (यूरोप सिंस नेपोलियन) के अनुसार- "बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों का विशिष्ट परिणाम यह निकला कि इससे प्रत्येक राज्य पहले की अपेक्षा अधिक असन्तुष्ट हो गया" । बल्गेरिया की राष्ट्रीय भावनाओं को कुचल दिया गया । रूमानिया से बेसारिबिया छिन लिया और यूनान की एपीरस, थेंसेली व इटली की मांग को स्वीकार नहीं किया गया । टर्की में ब्रिटिश राजदूत लेयर्ड ने स्पष्ट संकेत दिया था- "मुझे इस अभागे देश में आगामी वर्षो में अनेक उपद्रव व रक्तपात होने का पूर्वाभास है" । (मैडलीकाट) वास्तव में, यह आंशका सही निकली । बीसवीं सदी के आरम्भ होते ही 1912- 13 में पूर्वी यूरोप में बाल्कन युद्ध आरम्भ हो गये । सच पूछा जाय तो बाल्कन युद्ध के बीज इसी सम्मेलन के निर्णयों में बो

दिये थे । फिर भी यूरोप में शक्ति सन्तुलन व शान्ति स्थापना की दृष्टि से यह सम्मेलन एक महत्वपूर्ण प्रयास था । लगभग तीन दशक तक विश्व को महायुद्ध की विभिषका से बचाये रखा।

बाल्कन युद्ध:-

बाल्कन युद्ध पूर्वी समस्या का मुख्य भाग था । बर्लिन कांग्रेस के बाद यह निश्चित था कि टर्की व बाल्कन राज्यों के मध्य संघर्ष होना है । इन ईसाई राज्यों ने टर्की अत्याचारों के खिलाफ अपना एक संघ बनाने का प्रयास किया । आरम्भ में इन्हें आपसी मतभेदों के कारण सफलता नहीं मिली, लेकिन 1912 में इन्हें संघ बनाने में सफलता मिली । बाल्कन क्षेत्र में दो प्रमुख बाल्कन युद्ध लड़े गये ।

16.5: प्रथम बाल्कन युद्ध-कारण

16.5.1.: बाल्कन संघ का गठन

इस संघ के निर्माण का मुख्य उद्देश्य टर्की के विरूद्ध युद्ध करना था । प्रारम्भ में बाल्कन राज्य टर्की के विरूद्ध संगठित होने में सफल नहीं हुये । परन्तु 1908 के युवा तुर्क आन्दोलन ने इस कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । युवा तुर्को की तुर्कीकरण की नीति से ईसाई लोगों का जीवन संकट ग्रस्त हो गया । अपने प्राणों की रक्षा हेतु वे एक दूसरे की शरण लेने लगे । ईसाई राज्यों में पुन: एकता की लहर दौड गयी । बल्गेरिया यूनान व सर्बिया ने अपने आपसी मतभेदों को भुलाकर एक होने को तैयार हो गये । इस संघ के निर्माण में रूस के राजदूत नेवलूडाफ एवं हार्टविग की महत्वपूर्ण भूमिका रही । इतिहासकार फे (ओरीजन्स ऑफ दी वल्ड वार) ने लिखा है- "इनके सक्रिय सहयोग के बिना बाल्कन संघ का निर्माण सम्भव नहीं था" ।

13 मार्च 1912 को बल्गेरिया व सर्बिया के मध्य संन्धि हो गयी, जिसके अनुसार- दोनों राज्यों या किसी एक पर कोई तीसरी शक्ति आक्रमण करती हैं, तो उसका मिलकर मुकाबला करेंगे ।

गुप्त रूप से यह निश्चित किया गया कि उचित अवसर देखकर टर्की पर आक्रमण किया जावे । विजयी होने पर मेसीडोनिया का विभाजन इस प्रकार किया जाए, कि दोनों को समान लाभ हो ।

एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता एवं- सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति का वचन दिया ।

29 मई 1912 को यूनान व बल्गेरिया के मध्य रक्षात्मक संधि हुई । युद्ध होने की स्थिति में बल्गेरिया ने तीस हजार सैनिक व यूनान ने एक लाख बीस हजार सैनिक देने का आश्वासन दिया ।मान्टीनीग्रो ने बिना किसी संधि के युद्ध के समय सहयोग का आश्वासन दिया । इस प्रकार सर्बिया यूनान बल्गेरिया व मान्टीनीग्रो ने मिलकर बाल्कन संघ का गठन किया ।

यह संघ रूस की कूटनीतिक विजय थी । रूसी विदेश मंत्री साजानोव ने बल्गेरिया व सर्बिया संधि के संबंध में कहा था, कि "इस संधि में न केवल तुर्की बल्कि आस्ट्रिया के विरूद्ध भी युद्ध के बीज विद्‌यमान हैं । इसके द्‌वारा स्ताव राज्य पर रूस का प्रभुत्व स्थापित हो गया है, क्योंकि सभी मामलों में रूस को ही विवाचक बनाया गया है । (फे)

16.5.2.: युवा तुर्क आन्दोलन: (1908)

इस आन्दोलन के द्वारा युवा तुर्की ने तुर्कीकरण की नीति के द्वारा अपने अधीन ईसाईयों पर अपनी सभ्यता लादने का प्रयास किया । वे उन पर अमानुषिक अत्याचार व हत्या कर रहे थे । बाल्कन राज्यों ने इन अत्याचारों के खिलाफ अपना एक संघ बनाया और यूरोप से टर्की को उखाड फैंकने के लिए संगठित होकर युद्ध करने का निश्चय किया ।

16.5.3: यूरोप में राष्ट्रीय भावनाओं का प्रसार:-

19 वी शताब्दी यूरोप में राष्ट्रीय शताब्दी मानी जाती है । टर्की के अत्याचारों सें व्यथित होकर बाल्कन के इसाई स्वतन्त्र होने का प्रयास करने लगे सर्बिया व यूनान 1878 से पहले ही स्वतन्त्र हो चुके थे ।

16.5.4: टर्की सुल्लान के अत्याचार व प्रशासनिक भ्रष्टाचार:-

टर्की का सुल्तान दकियानूसी एवं प्रतिक्रिया वादी था अत: वह ईसाई जनता पर मनमाने अमानुषिक अत्याचार करता रहता था । वह अत्याचारों के स्थान पर सुधार नहीं करना चाहता था । सुल्तान के प्रशासन व सेना में भ्रष्टाचार व्याप्त था । धार्मिक नेता धर्म के नाम पर ईसाईयों पर जुल्म करते थे । यहां की ईसाई जनता इस भ्रष्टाचार से उकता गयी और टर्की की दासता से मुक्त होने के प्रयास होने लगे ।

16.5.5.: आस्ट्रिया का बोस्निया व हर्जीगोविना पर अधिकार- 1908

आस्ट्रिया ने युवा तुर्क आन्दोलन के समय अवसर देख कर बोस्निया व हर्जीगोविना को पूर्णतया हस्तगत कर लिया इन राज्यों पर बर्लिन कांग्रेस' के द्वारा आस्ट्रिया को प्रशासन का अधिकार दिया गया था । अन्य बाल्कन राज्य भी इसी प्रकार अवसर का लाभ उठाना चाहते थे।

16.5.6: रूस का कूटनीतिक सहयोग:-

बाल्कन राज्यों द्वारा टर्की के अत्याचारों के विरूद्ध किसी ने आवाज नहीं उठायी । केवल रूस ही ऐसा देश था, जिसे बाल्कन की ईसाई जनता के प्रति सहानुभूति थी । वह अपने आपको ग्रीचर्च के अनुयायी ईसाईयों का संरक्षक समझता था । वह टर्की के विरूद्ध बाल्कन राज्यों को विद्रोह के लिये प्रोत्साहन देता रहता था । सैनिक सहायता भी करता था । बाल्कन संघ का निर्माण भी रूस के सहयोग से ही हुआ था । यद्यपि इसमें रूस के राजनैतिक स्वार्थ निहित थे।

16.5.7.: इटली का ट्रिपोली पर अधिकार:-

1911 ईसवीं में इटली ने अपने युद्धपोत भेज कर ट्रिपोली पर अधिकार कर लिया । इटली की इस विजय से टर्की के सुल्तान की दुर्बलता स्पष्ट हो गयी । सुल्तान की इस कमजोरी ने बाल्कन राज्यों की आक्रमण के लिय उकसाया ।

16.5.8: मेसीडोनिया में सुधारों की मांग:-

मेसीडोनिया की सीमा का निर्धारण नहीं किया गया था, अत: प्रारम्भ में इस राज्य ने बाल्कन राज्यों में आपसी वेमनस्य उत्पन किया । लेकिन यहां के ईसाईयों पर टर्की के बढ़ते हुए. जुल्मों के कारण बाल्कन राज्यों को आपस में मिलने और संघर्ष के लिये प्रोत्साहित किया । बाल्कन राज्यों ने मेसीडोनिया में सुधारों की मांग की, लेकिन यूरोपीय शक्तियों ने टर्की पर विशेष दवाब नहीं डाला और यूरोपीय राज्यों द्वारा बाल्कन राज्यों को यूरोप में यथा स्थिति बनाये रखने की चेतावनी दी गयी । शक्तियों ने सुधारों का केवल आश्वासन दिया । इससे बाल्कन राज्य अधिक उग्र हो गये और टर्की पर आक्रमण कर दिया ।

16.6: घटनाक्रम:-

8 अक्टूबर 1912 को मान्टीनीग्रो ने टर्की पर आक्रमण कर दिया । 18 अक्टूबर को टर्की ने बल्गेरिया के विरूद्ध युद्ध घोषित कर दिया । यूनान ने भी उसी दिन बल्गेरिया के पक्ष में युद्ध आरम्भ कर दिया । उसने सैलोनिका पर अधिकार कर लिया तथा एजियन सागर के कई द्वीपों को अपने अधीन कर लिया । सर्बिया भी युद्ध में सम्मिलित हो गया । टर्की पराजित होने लगा । ऐसा प्रतीत हो रहा था कि टर्की का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा । परन्तु यूरोप की शक्तियों ने टर्की को बचाने के लिए प्रयास आरम्भ कर दिये । फ्रांसीसी प्रधानमंत्री पोंइनकेर और लन्दन के विदेशमंत्री एडवर्डग्रे के प्रयासों से शान्ति स्थापना के लिये लन्दन में सम्मेलन आयोजित किया गया ।

16.7: लन्दन सन्धि:-

30 मई 1913 को लन्दन सन्धि सम्पन्न हुई और प्रथम बाल्कन युद्ध का अन्त हुआ। इस सन्धि की शर्ते थी:-

टर्की ने काले सागर पर स्थित मीडिया से लेकर एजियन सागर पर स्थित एनोस के पश्चिम का सम्पूर्ण क्षेत्र व क्रीट बाल्कन राज्यों को दे दिया जिसे वे आपस में बांट लें ।

यूनान को क्रीट का द्वीप व दक्षिणी मेसीडोनिया का क्षेत्र मिला ।

वीड़ के राजकुमार के नेतृत्व में अल्बानिया का स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया गया, लेकिन उसकी सीमाएं निर्धारित नहीं की गयी ।

कुस्तुनतुनिया पर टर्की का अधिकार बना रहा ।

लेकिन इस संधि से न तो यूरोपीय शक्तियां सन्तुष्ट थीं और न ही बाल्कन राज्य । इस असन्तोष का विस्फोट द्वितीय बल्कन युद्ध के रूप में हुआ ।

16.8: द्वितीय बाल्कन युद्ध- कारण:-

लन्दन सम्मेलन में सबसे अधिक विरोध सर्बिया व बल्गेरिया ने किया । बड़ी शक्तियों ने इन दोनों ही राज्यों को समझा कर संधि करायी, लेकिन यह संधि अल्पकालीन रही । 29 जून 1913 को. बल्गेरिया पर सर्बिया पर आक्रमण करके द्वितीय बाल्कन युद्ध की शुरूआत कर दी ।

16.8.1: लन्दन संधि:-

इस संधि से सभी बाल्कन राज्य असन्तुष्ट थे । इस संधि में विजय में प्राप्त प्रदेशों में बंटवारा न करके बाल्कन राज्यों को आपस में लड़ने के लिए खुला छोड दिया । प्रदेशों के बंटवारे को लेकर वे आपस में लडने लगे ।

16.8.2: अल्बानिया का निर्माण:-

आस्ट्रिया तथा इटली द्वारा स्वतन्त्र अल्बानिया के निर्माण की हट के कारण झगड़ा पैदा हो गया । यह राज्य सर्बिया को सबसे बुरा लगा क्योंकि इस राज्य के निर्माण से सर्बिया की एड्रियाटिक सागर तक पहुंचने की आशा समाप्त हो गयी । इस राज्य में सर्बिया को स्थल-शक्ति से घिरा हुआ देश बना दिया । इससे सर्बिया की जनता क्रुद्ध हो गयी ।

16.8.3: बल्गेरिया का अहंकार:-

सर्बिया का कहना था कि टर्की को पराजित करने में सभी बाल्कन देशों ने समान भूमिका निभायी थी । अत: टर्की भू-भाग का भी समुचित विभाजन होना चाहिए । इसके विपरीत बल्गेरिया की मान्यता थी, कि उसने सबसे बड़ी लड़ाईयां लडीं । इस बात का उसे अहंकार हो गया था । इसी अहंकार से उसने जून के अन्त में यूनान व सर्बिया पर आक्रमण कर दिया ।

16.8.4: आस्ट्रिया द्वारा सर्बिया का विरोध:-

सर्बिया का आस्ट्रिया ने सबसे अधिक विरोध किया, क्योंकि उसे आंशका थी कि वह रूस के सम्पर्क में न आ जाये । एड्रियाटिक सागर तक वह न पहुंचे, इसीलिए स्वतन्त्र अल्बानिया का निर्माण किया । इसी से सर्बिया व बल्गेरिया में मनमुटाव हुआ, जिसका परिणाम दूसरा बाल्कन युद्ध हुआ ।

16.8.5: मैसीडोनिया का प्रश्न:-

यह युद्ध का तात्कालिक कारण था, बल्गेरिया व सर्बिया ने मेसीडोनिया में अपने प्रभाव क्षेत्रों का निर्णय पूर्व में ही कर दिया था । जिसके अनुसार बल्गेरिया को इसका बड़ा भाग मिलना था और सर्बिया को एड्रियाटिक समुद्रीतट लेकिन अल्बानिया के निर्माण ने सर्बिया की आशा धूमिल कर दी । अब वह मेसीडोनिया में अधिक से अधिक क्षेत्र प्राप्त करके अपनी क्षतिपूर्ति करना चाहता था, लेकिन बल्गेरिया ने इस ओर कोई सुविधा नहीं देनी चाही । सर्बिया ने बल्गेरिया के विरूद्ध यूनान से समझौता कर लिया और रूमानिया से भी सहयोग का आश्वासन प्राप्त कर लिया । रूस द्वारा इन राज्यों में समझौते के लिए किए गए प्रयास सफल नहीं हुए ।

16.9 घटनाक्रम:-

29 जून 1913 को बल्गेरिया ने अचानक सर्बिया व यूनान पर आक्रमण कर दिया ।10 जुलाई को रूमानिया और 12 जुलाई को टर्की ने बल्गेरिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी ।

टर्की ने एड्रियानोपोल पर अधिकार कर लिया । बल्गेरिया की निरन्तर पराजय से आस्ट्रिया को चिन्ता हुई और उसने सन्धि के लिए दवाब डाला ।

16.10: बुखारेस्ट की सन्धि:- (10 अगस्त 1913)

31 जुलाई 1913 को बाल्कन राज्यों ने युद्ध विराम की घोषणा कर दी । और 10 अगस्त को बुखारेस्ट की संधि पर हस्ताक्षर कर दिये । जिसके अनुसार:-

सर्बिया को उत्तरी व मध्य मेसीडोनिया तथा नवीबाजार का पूर्वी भाग मिला ।

यूनान को एपिरस, जैनिना, दक्षिणी मैसीडोनिया एवं एजियन सागर का छोटा सा बन्दरगाह मिला।

रूमानिया को दोबुजा मिला, जिसमें सिलिस्ट्रिया का दुर्ग भी था ।

बल्गेरिया को पूर्वी मेसीडोनिया और एजियन सागर का छोटा सा बन्दरगाह मिला।

कान्सटेन्टिनोपॉल की संधि के अनुसार टर्की को एड्रियानोंपॉल नगर और थ्रेस का अधिकांश भाग मिला ।

16.11: सन्धि की समीक्षा:-

इस संधि से बल्गेरिया को मैसीडोनिया का बहुत बड़ा भाग छोड़ना पड़ा । और बृहत् बल्गेरिया की महत्वाकांक्षा को त्यागना पड़ा । 10 लाख से अधिक बल्गार लोगों को विदेशी सत्ता के अन्तर्गत जाना पड़ा । बल्गेरिया के लिए यह युद्ध हानिकारक सिद्ध हुआ । इस संधि का सबसे महत्वपूर्ण तत्व यह है, कि उसे बड़े राज्यों की स्वीकृति के लिये प्रस्तुत नहीं किया गया । और बाल्कन प्रदेशों ने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का परिचय दिया ।

16.12: परिणाम:-

16.12.1: अपारधन जन की हानि:-

इतिहासकार मेरियट के अनुसार- "दोनों बाल्कन युद्धों मे 245000000 पौण्ड खर्च हुए और 348000 व्यक्ति मारे गये अथवा घायल हुये । बलोरिया की 140000 सेना नष्ट हुयी और 90000000 पौण्ड खर्च हुये । इसी प्रकार टर्की के एक लाख सैनिक मरे व अस्सी लाख पौंड खर्च करने पड़े ।"

16.12.2: टर्की साम्राज्य का पतन:-

इन युद्धों से टर्की साम्राज्य नष्ट प्राय: हो गया ।" टर्की के पास केवल फान्सटेन्टीनोपॉल, एड्रियानोपॉल और कुछ आस-पास का क्षेत्र बचा रहा । उसके साम्राज्य का 5/6 भाग छिन गया ।- (लिप्सन- यूरोप इन दी नाइनटीन्य एण्ड टूवन्टियथ सेन्चूरीज)

16.12.3: सर्बिया का शक्तिशाली होना:-

सर्बिया को दूसरे बाल्कन युद्ध से विस्तृत भू-भाग मिला वह बृहत् सर्बिया का सपना देखने लगा । इतिहासकार फे ने लिखा है, "उसमें यह आत्म विश्वास हो गया, कि वह विशाल

सर्बिया का स्वपन पूरा कर सकेगा । "सर्बिया का क्षेत्र बढ़कर 18650 वर्गमील से 33891 वर्गमील हो गया ।

16.12.4: रूस की यूरोप में राजनीतिक सक्रियता:-

इंग्लैण्ड व फ्रांस से 1907 में मैत्री करने के बाद से ही यूरोप में रूस सक्रिय हो गया था । मोरक्को प्रश्न में भी वह सक्रिय रहा । विलियम द्वितीय- (जर्मनी) की साम्राज्यवादी उत्कंठा 'पर उसने प्रहार किया । सर्बिया के माध्यम से आस्ट्रिया को भी परेशान करना आरम्भ कर दिया ।

16.12.5: सर्बिया आस्ट्रिया की शत्रुता:-

सर्बिया की शक्ति से आस्ट्रिया चिन्तित था । 1914 मे हंगरी के प्रधानमंत्री हिस्सा ने आस्ट्रिया सरकार को एक विवरण प्रस्तुत करतें हुए लिखा था, "बाल्कन युद्धों और बुखारेस्ट की संधि ने आस्ट्रीया व हंगरी के लिये एक असहनीय स्थिति पैदा कर दी जब तक स्थिति में सुधार नहीं होता स्थाई शांति नहीं रह सकती" आस्ट्रीया का प्रधान सेनापति कोनराड आरंभ से ही सर्बिया पर आक्रमण की मांग कर रहा था ।

16.12.6: बाल्कन संघ का विघटन:

टर्की के विरूद्ध 1912 ई0 में बाल्कन राज्यों के मध्य जो संधि हुई थी वह द्वितीय बाल्कन युद्ध की शुरूआत के साथ स्वत: ही समाप्त हो गयी । इस प्रकार बाल्कन संघ का विघटन हो गया ।

16.12.7: बल्गेरिया में बदले की भावना बढ़ना

इस युद्ध के बाद बल्गेरिया को सबसे अधिक असंतोष हुआ । सर्बिया, यूनान और रोमानिया ने उसका बहुत बड़ा भाग छीन लिया था । टर्की के समर्थन के कारण वह इंग्लैण्ड से नाराज था । रूस से भी बल्गेरिया असन्तुष्ट था । इस युद्ध के बाद उसका झुकाव आस्ट्रिया व जर्मनी की ओर अधिक हुआ और वह धुरी राष्ट्रों का सहयोगी बन गया ।

16.12.8: सैनिक वाद की प्रबलता:

बुखारेस्ट की संधि से आस्ट्रिया, जर्मनी व बल्गेरिया पूरी तरह असन्तुष्ट थे । युद्ध अवश्यम्भावी लग रहा था । रूस को भी युद्ध का आभास था । अत: सभी राष्ट्र अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने में जुट गये । सुरक्षा के लिये इसे आवश्यक माना । फ्रे के अनुसार "बाल्कन युद्ध का एक परिणाम यह हुआ कि इसके बाद सभी राज्यों ने अपने आर्मामेन्ट (शस्त्रास्त्रों) में वृद्धि करना आरंभ कर दिया जिसका प्रभाव यूरोप की शान्ति पर पड़ा व ट्रिपल एलाइन्स व ट्रिपल अंततः शक्तिशाली हो गये"

16.12.9: बाल्कन क्षेत्र में ईसाइयों को राहत:

अब तक इस क्षेत्र के ईसाई टर्की के अत्याचारों को पांच सदियों से सहन कर रहे थे । उन्हें धार्मिक स्वतंत्रता नही थी । उनका शोषण होता था । इससे उन्हें मुक्ति मिली । यह महत्वपूर्ण कार्य बाल्कन राज्यों नें संगठित होकर बड़े राज्यों की सहायता के बिना ही सम्पन्न कर लिया ।

16.12.10: प्रथम विश्व युद्ध की पृष्ठ भूमि तैयार होना:

सर्बिया के साथ बल्गेरिया व आस्ट्रिया की शत्रुता बुखारेस्ट संधि से अधिक हुई । आस्ट्रिया के राजकुमार फर्डीनेन्ड की सराजेवो नगर में यात्रा के समय 28 जून 1914 को हत्या कर दी गयी । इसकी जिम्मेदारी आस्ट्रिया ने सर्बिया कर डाली । इसी घटना को लेकर प्रथम विश्व युद्ध की शुरूआत हो गयी । इस प्रकार बाल्कन युद्ध के मन मुटाव ने प्रथम महायुद्ध को निकट ला खडा किया ।

16.13: सारांश:

इकाई को पढ़कर आपने जाना कि :-

1. बाल्कन राज्यों व टर्की के अस्तित्व को बनाये रखने संबंधी यूरोपीय राष्ट्रों के विवाद पूर्वी समस्याओं की श्रेणी में आते हैं ।
2. बाल्कन राज्यों ने रूस की सहायता से टर्की को पराजित किया ।
3. बाल्कन प्रदेशों व टर्की के प्रति यूरोपिय राष्ट्रों के अलग-अलग दृष्टिकोण थे ।
4. सेनस्टीफेनो की संधि पर पुन: विचार के लिये 1878 में बर्लिन कांग्रेस का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता बिस्मार्क ने की । सम्मेलन एक माह तक चला ।
5. बर्लिन सम्मेलन से बाल्कन राज्य और अधिक असन्तुष्ट हो गये लेकिन ब्रिटेन इसे ससम्मान शान्ति बताया ।
6. बाल्कन युद्धों का बीजारोपण बर्लिन कांग्रेस में ही हो गया था ।
7. युवा तुर्क आन्दोलन ने तुर्कीकरण की प्रतिक्रिया तेज कर दी व ईसाई जनता पर अत्याचार किये । बाल्कन राज्यों ने टर्की से मुक्ति के लिये बाल्कन संघ का 1912 में गठन किया जिसमें सर्बिया, बल्गेरिया, यूनान व मन्टीनीग्रो सम्मिलित थे ।
8. टर्की एवं चार बाल्कन राज्यों के बीच 1912 में प्रथम बाल्कन युद्ध लडा गया । इसमें टर्की की पराजय हुई थी । लन्दन संधि के द्वारा युद्ध का समापन हुआ ।
9. लन्दन संधि (1913) के अनुसार प्राप्त क्षेत्रों के बंटवारे के विवाद एवं अन्य महत्वाकांक्षाओं को लेकर बाल्कन राष्ट्रों में आपस में युद्ध हुआ तो द्वितीय बाल्कन शुद्द कहलाता है ।
10. बाल्कन युद्धों के अपार धन जन की हानि हुई । बाल्कन संघ का विघटन हो गया । सर्बिया व बल्गेरिया में कट्टर शत्रुता हो गई । आस्ट्रिया ने बल्गेरिया का समर्थन किया । सर्बिया के अधीन सराजेवो नगर में आस्ट्रिया के राजकुमार फर्डीनेन्ड की हत्या (1914) हुई जो कि इसी

कट्टरता का परिणाम थी । इस प्रकार बाल्कन युद्धों ने प्रथम विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार की और यह युद्ध इसी क्षेत्र से शुरू हुआ ।

16.14: बोध प्रश्न:

1. पूर्वी समस्या से आप क्या समझते हैं । इस समस्या ने यूरोपीय राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया ।
2. सेनस्टीफेनो की संधि का वर्णन करिये । यूरोप के विभिन्न देशों में इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई।
3. बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों की समीक्षा करिये ।
4. प्रथम बाल्कन युद्ध के कारणों की व्याख्या करिये ।
5. यह कहाॅ तक सत्य है कि द्वितीय बाल्कन युद्ध के कारण 1913 की लन्दन संधि में ही निहित थे।
6. बाल्कन युद्धों के परिणामों को रेखाकिंत करिये ।

16.15: संदर्भ ग्रन्थ:

1. जी. पी. गूच- आधुनिक यूरोप का इतिहास (हिन्दी संस्करण)
2. एस.बी. फे - ओरिजन्स आफ दी वार
3. डबल्यू एल. लेंगर - यूरोपीयन एलाइन्सेज एण्ड एलाइनमेंटस 1871-1890
4. डी. हेरिस - ए डिप्लोमेटिक हिस्ट्री आफ दी बाल्कन क्राईसेस
5. जे. ए. आर. मेरियट - दी ईस्टर्न क्वश्चन
6. सी. डी. एम. केटलवी- आधुनिक काल का इतिहास (हिन्दी संस्करण)
7. डा. मधुरा लाल शर्मा- यूरोप का इतिहास (1870-1917)
8. सी. डी हेजन- मॉर्डन यूरोपियन हिस्ट्री
9. डबल्यू. एन. मेडलीकाट- बर्लिन कांग्रेस एण्ड आफ्टर
10. ब्रेडन बर्ग- फ्रोम बिस्मार्क टू दी ग्रेट वार

इकाई-17
चर्च और राज्य के सम्बन्ध

ईकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 चर्च का विकास

17.2.1 प्रारम्भिक ईसाई काल में चर्च का विकास

17.3 प्रारम्भिक ईसाई रोमन साम्राज्य में चर्च और सम्राट के संबंध

17.4 प्रारम्भिक मध्य युग में सम्राट व चर्च के संबंध

17.5 सामन्ती युग में सम्राट व चर्च के संबंध

17.6 चर्च व उत्तर मध्यकालीन राजतन्त्र

17.7 चर्च और राज्य के सम्बन्ध निरंकुशवाद के काल में

17.8 चर्च और उदार राज्य:

17.8.1 1801 ई. की धर्म सन्धि

17.8.2 कांग्रेस ऑफ वियना के पश्चात् राज्य व चर्च के सम्बन्ध

17.8.3 पोप और इटली के सम्बन्ध

17.8.4 जर्मनी में सभ्यता का संघर्ष

17.8.5 फांस के गणतन्त्र द्वारा कैथोलिक विरोधी नियम

17.8.6 आधुनिक युग में चर्च व राज्यों के सम्बन्ध

17.9 बोध प्रश्न

17.9.1 सन्दर्भ ग्रंथ

17.0 उद्देश्य:

इस ईकाई में हमारा उद्देश्य राज्य और चर्च के सम्बन्धों का एक संक्षिप्त इतिहास बताना है, इसके पश्चात् 1815 से लेकर 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इन दोनों संस्थाओं के सम्बन्ध पर विस्तार से चर्चा की जायेगी । इस इकाई के पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित बातों को स्पष्ट कर सकेंगे:-

1. चर्च क्या है, और इसका क्रमिक विकास कैसे हुआ ।
2. यूरोप में चर्च के विकास और उसकी सत्ता को लेकर भिन्न-भिन्न विचार धाराऐं ।
3. यूरोप के भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक युग में चर्च और राज्य के सम्बन्धों की भूमिका की चर्चा ।
4. कांग्रेस ऑफ वियना के पश्चात् चर्च और राज्य के सम्बन्ध और धार्मिक समझौते ।
5. चर्च और राज्य के सम्बन्धों का आज वास्तविक स्वरूप क्या है ।

17.1 प्रस्तावना:

चर्च ओर राज्य दो संस्थाऐं हैं और इनके बीच संतुलित सम्बन्ध बनाए रखना यूरोप के इतिहास में एक समस्या रही है । इसका मुख्य कारण ये है कि दोनों ही संस्थाएं समाज पर अपनी प्रभुसत्ता बनाए रखने का दावा करती रही हैं । इस समस्या का समाधान सैद्धान्तिक रूप से इस प्रकार किया गया है कि दोनों के कार्यक्षेत्र अलौकिक और लैकिक अलग-अलग कर दिये गये है अलौकिक (Spiritual) चर्च को दे दिया गया है और लौकिक (Temperal) राज्य को दे दिया गया है । वस्तुत: ये दोनों क्षेत्र एक दूसरे से बड़े धुले मिले हैं जिस प्रकार से मानवीय जीवन में शरीर और आत्मा को अलग-2 नहीं किया जा सकता । नीचे दिये हुवे चार्ट से विभाजन समझ सकते हैं ।

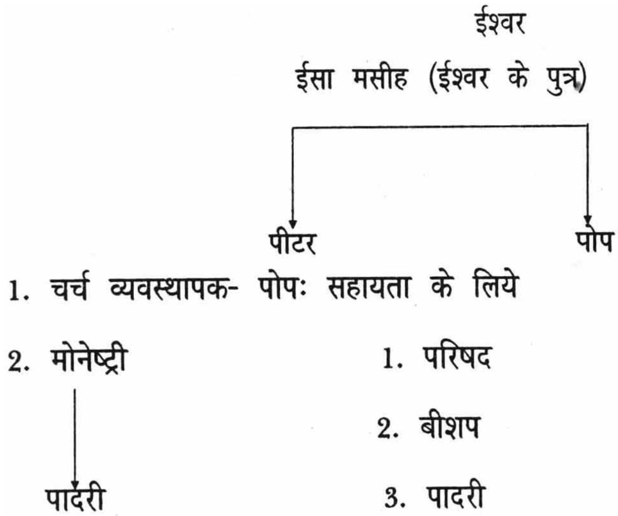

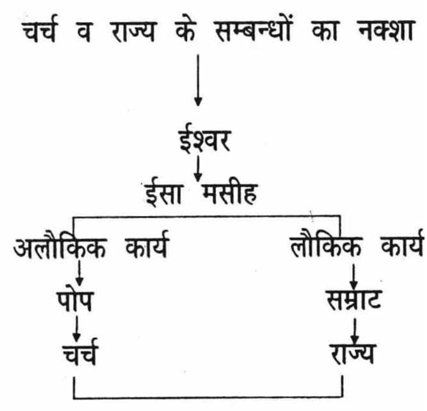

स्वतन्त्र सदस्यता

यद्यपि लौकिक व अलौकिक कार्य अलग-अलग कर दिये गये थे किन्तु ये विभाजन एक दूसरे की सीमा तक फैला हुआ है इसलिये दोनों संस्थाओं के बीच विवादों का होना स्वाभाविक है ।

चर्च आत्माओं के समूह का नाम ही नहीं है वह एक अनुष्ठान भी है । जिसके अपने सिद्धान्त और कार्यविधि भी है जो प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति को और समाज को और आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाओं को प्रभावित करती है । अपने कार्य को करने के लिये लौकिक साधनों का प्रयोग करता है । चर्च के दृष्टिकोण से अलौकिक क्षेत्र अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते समय समस्त लौकिक क्षेत्रों पर भी नियंत्रण बनाने का दावा करता है । दूसरी ओर राज्य अपनी जन-संख्या की केवल भौतिक सुख समृद्धि से ही सम्बंधित नहीं है । नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र भी उसकी कार्य परिधि में आते हैं । इसलिए राज्य न केवल लौकिक क्षेत्र पर बल्कि समस्त सामाजिक, शैक्षणिक और अन्य गतिविधियों पर भी अपना अधिकार जताता है चाहे ये गतिविधियां नाम से धार्मिक नहीं, लेकिन विस्तृत क्षेत्र में अलौकिक अवश्य कहीं जा सकती हैं इन पारस्परिक दावों के कारण चर्च और राज्य में विवाद उत्पन्न है।

धार्मिक और राजनीतिक सत्ताओं के इन सम्बन्धों में भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-2 जगहों में इतिहास की एक लम्बी अवधि में भिन्न-2 रूप धारण किये जिनको मोटे-तौर से चार भागों में विभाजित किग्रा जा सकता है:

1. चर्च और राज्य की एकता जिसमें चर्च राज्य के अधीन रहा और राज्य के हितों और नीतियों की सेवा करता रहा ।
2. चर्च ओर राज्य की एकता जिसमें राज्य चर्च के अधीन रहा, और अध्यात्मिक सत्ता का एक साधन बना रहा ।
3. चर्च और राज्य के बीच समझौतों के द्वारा सम्बन्ध स्थापित किये गये और समझौते तभी हुए जब हर एक दल से अपने कुछ न कुछ अधिकार दूसरे को समर्पित किये इसके अन्तर्गत वे तमाम समझौते है जो आधुनिक इतिहास में भिन्न-भिन्न राज्यों के द्वारा किये गये ।
4. चर्च और राज्य का पृथकीकरण कर दिया गया और धार्मिक स्वतंत्रता स्थापित की गई।

17.2 चर्च:

चर्च के अधिकारों का अध्ययन करने से पूर्व चर्च की ऐतिहासिक उत्पति का अध्ययन करना उचित है । प्राचीन संसार में चर्च और राज्य के बीच किसी प्रकार का डूअलिज्म (Dualism) नहीं था, अर्थात् दोनों अलग-अलग नहीं थे । धर्म परम्पराओं का एक अभिन्न अंग था और राज्य का कार्य था । धर्म और राजनीतिक सत्ता एक ही शासक के हाथ में केन्द्रित थी। चर्च नाम की कोई स्वयंशासित संस्था नहीं थी और न कोई पुरोहित वर्ग था । जिसके पास विशेष तौर से कोई अलौकिक सत्ता हो । ईसाई धर्म के उदय से न केवल एक नया धर्म और चर्च बल्कि पहली वाली व्यवस्था से बिल्कुल नयी संस्था का उदय हुआ । उस समय यहूदी धर्म राष्ट्रीय धर्म था और यहूदीयों को ही अपने धार्मिक नियमों के आधार पर जीवन बिताने का अधिकार था । यहूदियों को इस बात की, छूट हासिल थी के वे पेगन (Pagan) धर्म की धार्मिक क्रियाओं के लिए बाध्य नहीं है, जिसका पालन रोमन शासन करते थे । जब ईसाई धर्म का उदय हुआ तो इन्होंने भी उसी परम्परा की और सुविधाओं की मांग की जो यहूदियों को प्राप्त थीं किन्तु ये सुविधाएं इसाईयों को नहीं दी गई । और इसाईयत को अवैधानिक धर्म

घोषित कर दिया गया । न्यायालय में अपराध को सिद्ध करने में इतना ही पर्याप्त माना जाता था कि कोई ये कह दे कि मैं ईसाई हूं । परिणाम स्वरूप अपने जन्म से पहली तीन शताब्दी तक इसाईयों को राज्य के नियमों का विरोध करना पड़ा और कई प्रकार के अत्याचार झेलने पड़े और ईसाई रहने की एक भारी कीमत चुकानी पड़ी ।

इन परिस्थितियों में चर्च ने अपना एक संगठन बनाया और ईसाईयों को एकता के सूत्र में बांधने के लिए अपने अध्यात्मिक, नैतिक और भौतिक साधनों का प्रयोग किया । चर्च को कई प्रतिबंधों और अत्याचारों के बावजूद जीवित रहने के लिए जो संघर्ष करना पड़ा उससे चर्च में अपनी अध्यात्मिक स्वतंत्रता का बोध हुआ और यह आत्म विश्वास जागा कि राज्य के विरोध के बावजूद भी बगैर किसी बाध्य सत्ता के जीवित रहा जा सकता है । इस प्रकार चर्च और राज्य की डई (Dnalism) स्थापित हुई और जो ईसाई रक्त से मजबूत हुआ ।

17.2.1 प्रारम्भिक ईसाई पद्धति:

यहूदियों और प्रारम्भिक ईसाइयों का राजनैतिक सत्ता और संस्थाओं के प्रति उदासीन दृष्टिकोण था । ईसा मसीह की निम्नलिखित शिक्षाऐं उस समय के ईसाइयों के लिए राजनैतिक मंत्र नहीं था। "जैसा सिज़र चाहे वैसा करो और ईश्वर की हुकुमत में वही करो जो ईश्वर चाहे ।" इस शिक्षा से ईसा मसीह भौतिक स्वार्थो से घृणा दर्शाते हैं क्योंकि वह ईश्वरीय राज की कल्पना कर रहे थे । ईसा मसीह की मृत्यु के बाद उनके शिष्य इसी इंतजार में रहे कि वो फिर लौटेगें और जिस ईश्वरीय राज का वादा किया था वह स्थापित करेगें । इसी अवधि में ईसाईयों ने अपने नेताओ से कहा कि वर्तमान राजनैतिक सत्ता के प्रति हमें समर्पित कर देना चाहिये चाहे वह कितनी ही बुरी क्यों ना हो । किन्तु इस समर्पण के कारण हम राज्य के उन कानूनों का पालन नहीं करेंगे जो ईश्वरीय कानूनों के विरूद्ध हो । इस प्रकार एक और राज्य के कुछ कानूनों का उल्लंघन किया और यही ईसाईयों का नैतिक कर्तव्य बन गया और विश्वास किया गया कि ये स्थिति ज्यादा समय तक नहीं रहेगी । उस समय प्रारम्भिंक ईसाइयों का केन्द्र बिन्दु उनका अपना समाज और चर्च था । उस समय का ईसाई समाज कोई ऐसा कार्यक्रम नहीं बना सकता था जिसमें वर्तमान की संस्थाओं में सामाजिक और राजनैतिक सुधार किये जा सके ये काम उन्होंने भविष्य के लिए छोड़ दिया ।

उस समय के ईसाईयों ने रोमन शासन से एक ही मांग की ओर वह थी सहिष्णुता । जिसका अर्थ था कि उनको ईसाई होने के नाते पीड़ित नहीं किया जाए और उनको जीवित रहने दिया जाए उनकी यह मांग इस सिद्धान्तों पर आधारित थी कि हर व्यक्ति को अपनी अन्तरआत्मा की आवाज के अनुसार पूजा करने का अधिकार हासिल है । उस समय की रोमन राजनैतिक संस्थाए ईसाई जीवन की आवश्यकताओं के प्रतिकूल थी । इसलिए कहा गया कि "कोई ईसाई सीज़र नहीं बन सकता और कोई सीज़र ईसाई न ही हो सकता" । किन्तु एक शताब्दी के बाद ही रोमन शासन ने ईसाइयत से समझौता कर लिया और रोमन सम्राट स्वयं ईसाई हो गया ।

17.3 प्रारम्भिक ईसाई रोमन साम्राज्य:

311 व 313 AD में रोमन सम्राट ने सभी धर्मो को सहिष्णुता प्रदान कर दी । इस सहिष्णुता का मुख्य कारण था कि साम्राज्य के राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक ढांचे को ईसाइयत के साथ समझौता करके शक्तिशाली बनाया जाए क्योंकि उस समय का साम्राज्य अपने आन्तरिक विघटन के कारण और बर्बर जातियों के आक्रमण के कारण बहुत ही कठिन युग से गुजर रहा था ।

4थी शताब्दी के अन्त तक रोमन साम्राज्य का राज धर्म ईसाई घोषित कर दिया गया इसलिये अब पैगन धर्म अवैधानिक बन गया इस प्रकार क्रिश्चियन चर्च का एक नया युग प्रारम्भ हो गया ।

इससे पूर्व चर्च को पहले वाले शासन ने बहुत पीड़ित किया था और मान्यता भी प्रदान नहीं की थी । फिर भी चर्च स्वतंत्र रूप से अपने आंतरिक संगठन को विकसित करता रहा सम्राट ईसाइयों को मृत्यु दण्ड दे सकता था । किन्तु वे चर्च पर अपने कानून थोप नहीं सकता था । अब बदली हुई परिस्थितियों में सम्राटों ने इसाई धर्म पर अपनी कृपा की बौछार प्रारम्भ कर दी । कोन्सटेनटाइन ने चर्च को बड़ी जागीरें भवन इत्यादि प्रदान किये और चर्च को जो अनुदान मिले हुए थे उनको वैधानिक घोषित कर दिये उसने बीशप को यह अधिकार दिया कि वह रोमन नागरिकों को दास बना सकते हैं और कोई भी दल दीवानी अदालत से आना मुकदमा बीशप की अदालत में ले जाना चाहे तो उसको अनुमति दी । कोन्सटनटाइन के इन कार्यो ने ईसाई धर्म का इतिहास ही बदल दिया अब तक चर्च अपनी आय के लिए अपने अनुयायों के दिये नज़राने अथवा अपनी कृषि उपज का पहले प्रतिफल पर निर्भर करते थे अब स्थिति बदल गई है । चर्च को पोल टैक्स भी नहीं देना पड़ता था । तो चर्च को यह खतरा लगा किं वह अपनी स्वतंत्रता खो देगा और कहीं ऐसा ना हो कि वह रोमन राजनैतिक ढांचे में समो दिया जाए ।

रोमन शासन ने जो धार्मिक सहिष्णुता प्रदान की इसका अर्थ वह नहीं है कि जैसाकि आज हम समझते हैं अर्थात् चर्च और राज्यों का अलग-अलग होना । इसके विपरीत इसका अर्थ यह था कि सभी धर्म राजनैतिक सत्ता के अन्तर्गत रहेगें ।

कोन्सटनटाइन और उसके ईसाई उत्तराधिकारियो ने (Conlifex maximum]) की उपाधि धारण कर ली जिसका अर्थ यह था कि वह सभी धार्मिक मामलों में निर्णय दे सकते हैं और नियम बना सकते हैं । ये उपाधि सम्राटों ने बाद में त्याग दी और रोमन बीशप (पोप) ने ग्रहण कर ली हर एक पोप (बीशप) चर्च के संविधान के अन्तर्गत पढ़ाता था और चर्च की व्यवस्था को चलाता था इस प्रकार चर्च बिशप के समझौतों पर आधारित था । वस्तुत: इन पादरियों में न तो कोई समानता थी न कोई समझौता था और वे इसाई धर्म की शिक्षाओं की ओर चर्च के अनुशासन की अपने-अपने ढंग से व्याख्या करते थे इस व्यवस्था को समाप्त करने के लिए, जिसमें कई विवाद खड़े कर दिये थे, और एकता को स्थापित करना बहुत कठिन हो गया था उस समय रोम के पादरियों ने अपनी श्रेष्ठता स्थापित की ओर 4 थी शताब्दी के मध्य के बाद सभी पश्चिमी देशों ने रोम की इस सत्ता को स्वीकार कर लिया रोम के पादरियों ने

अपने आपको पीटर और पाल का उत्तराधिकारी बताया और यह दावा किया कि हमें ही सबसे अच्छी ईसाई शिक्षा मिली है तथा सभी चर्चो को उसे स्वीकार कर लेना चाहिए । इस प्रकार से चर्च का अंतिम संविधान बना जिसमें तीन तथ्य प्रमुख थे । प्रथम धार्मिक शासक जिसकी संस्था समिति थी जिसको समस्त चर्च के कानून बनाने और धार्मिक मुद्दों को परिभाषित करने का अधिकार था । द्वितीय PATRIAR CHATES अर्थात बड़े-बड़े चर्चो पर बिशपों नियंत्रण तृतीय रोम के पादरी की सर्वोच्च सत्ता ।

इस संविधान के दो प्रमुख बिन्दु भी थे ।

प्रथम क्लर्जी (पादरी) जिसको पढ़ाने का और निर्देशन का अधिकार प्राप्त था दूसरे साधारण व्यक्ति जिनको शिक्षा ग्रहण करना और पादरियों से निर्देशन प्राप्त करना उनका कर्तव्य था, तृतीय पादरियों में भी एक HIER-ARCHY थी। जिसमें छोटे पादरी भाग नहीं ले सकते थे ।

कोन्सटनटाइन नया-नया ईसाई बना था इसलिए वह धार्मिक मामलों में उलझना नहीं चाहता था उस समय चर्च कई धार्मिक विवादों में उलझा हुआ था और कोन्सटनटाइन के शासनकाल में विवाद बहुत ही तीव्र हो गये थे पादरी-पादरी के विरूद्ध था और वे लोग एक दूसरे को धर्म विरोधी समझकर धर्म से बहिष्कृत कर रहे थे । कोन्सटनटाइन इस सब विवादों का अन्त चाहता था । इसलिए उसने यह निर्णय लिया कि इन विवादों का निर्णय पादरी वर्ग ही करे किन्तु इन विवादों के निर्णय की स्वीकृति और क्रियान्विती का अधिकार अपने पास रखा इस तरह से वह चर्च का निरीक्षक (Supervisor) बन गया और राज्य की कार्यकारिणी की सत्ता चर्च की सेवा में लग गई । और अब पादरियों की सभा को बुलाना और उनके निर्णय को स्वीकृति प्रदान करना सम्राट का विशेषाधिकार बन गया । चर्च ने लौकिक सत्ता के इस हस्तक्षेप का स्वागत किया । लेकिन कुछ ही समय बाद चर्च को यह विदित हुआ कि राजनैतिक सत्ता का संरक्षक एक शुद्ध बलिदान नहीं है । और शीघ्र ही संरक्षक स्वामी बन गया अर्थात् चर्च पर सम्राट का अधिकार हो गया ।

अब पोप का यह उत्तरदायित्व बना कि वह सम्राट के इस अनुचित हस्तक्षेप को धार्मिक मामले में रोकने की चेष्टा करे, अर्थात् चर्च और राज्यों के सम्बन्धों को सुस्पष्ट करे । पोप जेलेसियत (492-426) ने अपने एक प्रसिद्ध पत्र में जो सम्राट को लिखा यह स्पष्ट किया कि इस संसार में दो सत्ताएं मुख्य तौर से शासन करती हैं एक चर्च की पवित्र सत्ता है दूसरे सम्राट की सत्ता है । किन्तु पादरियों का बोझ बहुत भारी है । क्योंकि वे न केवल धार्मिक क्षेत्र में ही जनता की देखरेख करते हैं बल्कि सम्राट की भी देखरेख करते है । इस विचारधारा के अंतर्गत पोप ने निम्नलिखित सिद्धांतो का प्रतिपादन किया-

1. पादरी और सम्राट दोनों ईश्वर से सत्ता प्राप्त करते हैं ।
2. दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में सर्वभोम व स्वतंत्र है । पादरी पारलौकिक क्षेत्र में और सम्राट लौकिक क्षेत्र में ।
3. पादरियों की सत्ता लौकिक मामलों में सम्राट के अधीनस्थ है और सम्राट की सत्ता अलौकिक मामलों में पादरियों की सत्ता के अधीनस्थ है । पादरी को लौकिक मामलों में राजा

की सत्ता की आज्ञा का पालन करना चाहिए और राजा को अलौकिक मामलों में रोम के बीशप की आज्ञा का पालन करना चाहिए ।

4. क्योंकि पादरी स्वयं रोम के बीशप की आज्ञा का पालन करना अपना कर्तव्य समझते हैं, इसलिए सभी लोगों को विशेषकर सम्राट को रोम के बीशप की आज्ञा का अधिक पालन करना चाहिए ।

5. पादरी की सत्ता का उत्तरदायित्व सम्राट के उत्तरदायित्व से अधिक भारी और अधिक विस्तृत है ।

उपरोक्त योजना के अन्तर्गत चर्च ओर राज्य के सम्बन्धों की मूल रूपरेखा तैयार हुई और यह काम भविष्य के पोप, पादरियों पर रहा कि वह समय, स्थान और परिस्थितियों के अनुकूल जब भी मौका मिले इसका उपयोग करे ।

इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम गिरीगौरी (Gregory 590-604) ने अपने ढंग से परिभाषित किया । उसकी नीति थी कि जहाँ तक हो सके सम्राट के साथ सम्बन्ध रखने में बड़ी चतुराई से काम लिया जाए किन्तु साथ ही चर्च की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए दृढ़ता की नीति का अनुसरण किया जाए । वह एक तरफ सम्राट का आज्ञाकारी नागरिक था और लौकिक मामले में वह उसके आदेशों का पालन भी करता था । किन्तु कुछ मामले में वह उसके आदेशों का पालन भी करता था । किन्तु कुछ मामले में गिरी गौरी (Gregory) अस्पष्ट था कि लौकिक व अलौकिक मामलों में विभाजन की सीमा रेखा कहाँ खेची जाए सम्राट मोरिशस (Mauricius) (582-602) ने एक आदेश जारी किया जिसके अनुसार सैनिक और ऐसे लोग जिनको कोई उत्तरदायी सार्वजनिक काम मिला हुआ है वे पादरी नहीं बन सकते और मठों को चाहिए कि वे ऐसे लोगों को अपने यहां प्रवेश न दें गिरी गौरी ने इस आदेश पर सम्राट को चेतावनी दी कि जो लोग मुक्ति का रास्ता अपनाना चाहते हैं । उनका रास्ता बन्द करके आप ईश्वर के सामने एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी ले रहे हैं । गिरी गौरी की इस प्रकार की नीति जिसके अन्तर्गत वह सम्राट के आदेशों का पालन भी करता है और साथ ही विरोध भी करता है इस बात को प्रकट करता है कि लौकिक व अलौकिक सीमा रेखा खींचते समय इन दोनों के बीच एक मध्य क्षेत्र भी है जिस पर दोनों ही वर्ग अपना अधिकार जताते हैं जिसमें समझौते का होना अनिवार्य है । वस्तुत: यही वो बीच का क्षेत्र है जिस पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए चर्च और राज्य के बीच जो विवाद हुए उनमें से अधिकांश का सम्बंध इसी क्षेत्र से था और यह विवाद मध्य युग से आधुनिक युग तक चलते रहे ।

रोम के पोप के बिजेनटियन राज्य से राजनैतिक सम्बन्ध थे किन्तु यह संबंध गिरी गौरी के उत्तराधिकारियों के जमाने में टूटते चले गये यहाँ तक कि पूर्णतया: टूट गये और अब पोप रोम में अपने लौकिक राज्य की सार्वभौम सत्ता के रूप में प्रकट हुआ इस घटना ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि अब पोप भी लौकिक मामले में राजनैतिक सत्ता के अधीनस्थ है; समाप्त होने लगा और उसके स्थान पर मध्ययुग का यह सिद्धान्त आया की पोपजिस तरह से धार्मिक मामले में सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही वह लौकिक मामले में सर्वश्रेष्ठ है ।

17.4 प्रारम्भिक मध्य युग:

प्रारम्भिक मध्य युग में सामूहिक रूप से धर्म परिवर्तन हुआ जिसके कारण जगह-जगह चर्चो की स्थापना की गई । स्थानीय चर्चो के अपने राजाओं के साथ सम्बन्ध बहुत ही निकट के थे । पादरी वर्ग ही एक ऐसा वर्ग था जिसके पास विद्वता थी और प्रशासनिक अनुभव भी था । इसलिए यही लोग राजा के धार्मिक और सांसारिक मामलों में उसके परामर्शदाता भी थे । चर्चो की आर्थिक स्थिति भूमि के अनुदान के कारण बहुत अच्छी थी । इस प्रकार पश्चिमी यूरोप के इसाई राज्यों में चर्च के अधिकार्यो की महत्वपूर्ण स्थिति थी । उदाहरण के लिए स्पेन में तो चर्च इतना शक्तिशाली हो गया था कि उसने काफी सीमा तक राज्य को ही अपने आप में पचा लिया था । किन्तु फ्रांस में स्थिति दूसरी थी । वहां पर राजाओं में उत्तराधिकारी के लिए संघर्ष होते रहते थे और वहां पर चर्च का कोई मुखिया ना होने के कारण वह राजाओं के लालच का शिकार बन गया था । राजा लोग अपना समर्थन प्राप्त करने के लिए चर्च की भूमि को अपने सैनिकों में वितरित कर देते थे बिशप और अन्य धार्मिक अधिकारियों के चुनावों में हस्तक्षेप करते थे । या अनी ओर से ही बिशप मनोनीत कर देते थे । किन्तु वृद्ध अवस्था में वह चर्चो को अनुदान भी देते थे । जिससे कि वह अपने पापों का प्रायश्चित भी करते थे कभी-कभी पादरी लोग राजाओं के द्वारा इस प्रकार धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप पर विरोध प्रकट करते थे परन्तु इसका कोई प्रभाव उन पर नहीं होता था । ऐसी परिस्थिति में फ्रांस के सम्राट शर्लीमेन ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और उसने अपने राज्य अभिषेक के समय जो शपथ ली उसमें कहा कि वह ईसाई धर्म को संरक्षण देगा और उसकी सुरक्षा की व्यवस्था करेगा । दूसरा वह यह देखेगा कि चर्च के द्वारा बनाए गये कानूनों का सभी लोग पालन करे । तीसरा यह कि ये उसकी जिम्मेदारी होगी कि बिशप व क्लर्जी अच्छा व्यवहार करे । क्योंकि राजा का भी अपना एक धार्मिक मिशन है इस तरह शर्लीमेन ने अपनी धार्मिक नीति से लौकिक व अलौकिक क्षेत्र का जो अन्तर था उसको लगभग समाप्त कर दिया । उसने पोप ल्यू तृतीय को जो पत्र लिखा उसमें अपने विचारों को ओर भी स्पष्ट किया जिसमें कहा गया "हमारा काम ईश्वर की सहायता से क्राइस्ट के चर्च की हर जगह रक्षा करना है । और उसको काफिरों के हमले से बचाना है और सबको कैथोलिक धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य करना हे तुम्हारा काम (पोप और पादरी का) हाथ उठाकर प्रार्थना करना है जिससे कि तुम्हारी प्रार्थना से ईश्वर हमारी मदद करे और क्राइस्ट के शत्रुओं पर ईसाई लोगों को विजय मिलें ।" वस्तुत: चार्ल्स

1. पादरियों के अनुशासन की देखभाल करता था चाहे वह बड़े हों या छोटे हों।
2. मठों में नियमों का पालन हो और व्यवस्था बनी रहे ।
3. चर्च और मठों के स्कूल स्थापित करता थं ।
4. बीशप और अन्य लोगों की नियुक्तियां करता था और बाहर से चुनावों का प्रदर्शन करता था ।
5. चर्च की सभाऐं आयोजित करता था । उनकी अध्यक्षता करता था और निर्णय करता था ।
6. वह चर्च पर उसी प्रकार से शासन करता था जैसा किसी राज्य पर करता है।

7. वह चर्च के नियम बनाता था । जैसे कि प्रतिमाओं की पूजा की जाए अथवा नहीं ।

इस प्रकार यह पश्चिमी ढंग की ऐसी व्यवस्था थी जिसमें सीज़र ओर पोप दोनो के काम एक साथ मिला दिये गये हैं । किन्तु यह पूर्वी पद्धति से दो प्रकार से भिन्न थी:

1. पश्चिमी चर्च में सुधार की बहुत आवश्यकता थी ओर केवल राजा ही प्रभावशाली ढंग से यह काम कर सकता था । इस प्रकार चार्ल्स चर्च को बचाने वाले के रूप में प्रकट हुआ ।

2. धार्मिक मामलों में महत्वपूर्ण निर्णय लेते समय वह अक्सर पोप से परामर्श करता था और उसकी स्वीकृति लेता था और यह ऐसी स्वीकृति थी जो कभी इंकार नहीं की जाती थी । कभी भी किसी पोप या पादरी ने चर्च पर सम्राट के नियंत्रण पर विरोध भी प्रकट नहीं किया ।

चार्ल्स ने अपना शाही ताज पोप ल्यु तृतीय से क्रिसमस के दिन 800 AD प्राप्त किया और इस तरह वह होली रोमन सम्राट बन गया और यह पदवी 800 से लेकर 1800 तब बनी रही ओर इस तरह चार्ल्स रोम का संरक्षक बन गया जिस तरह से सम्राट ने पोप से ताज ग्रहण किया उसमें पोप और राज्य के भविष्य के सम्बन्धों को प्रभावित किया । किन्तु जब तक चार्ल्स जिन्दा रहा चर्च और राज्य पोप और साम्राज्य शांति से रहे ।

17.5 सामन्तीय युग:

सामन्तीय युग में सर्वभौम सत्ता अब राजा और उसके अधिकारियों के बीच का एकाधिकार नहीं रहा और सत्ता अब सामन्तों के बीच वितरित हो गई । चर्च और उसकी संस्थाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ा बहुत से बीशप स्वयं सामन्त बन गये जो लौकिक व परलौकिक अपने 2 क्षेत्र में अधिकार जताते थे ।

फ्रांसिसी ताज अब जर्मन वंशों के पास चला गया था और जर्मन सम्राट ओटो (Otto) प्रथम (636-973) ने जर्मनी व इटली के राज्यों का एकीकरण किया और उसमें पोप तंत्र को रोमन कुलीन वर्ग के पंजो से छुड़ाया किन्तु पोप तंत्र ने अपनी स्वतंत्रता पुन: प्राप्त नहीं की सम्राट के द्वारा ही पोप नियुक्त किये जाते थे और अधिकांश वह लोग जर्मन के ही होते थे । उनमें से एक पोप ल्यू नवमLeo IX (1049- 1054) जिसने चर्च में सुधार करना चाहा । और हेनरी चतुर्थ की बाल्यावस्था का लाभ उठाकर जो अपनी माता के सरंक्षण में कार्य कर रहा था । एक साहसिक कदम उठाया और बिना सम्राट के हस्तक्षेप के पोप निकोलस द्वितीय को चुन लिया । उसके बाद से पोप चर्च के सामन्तीय दबाव से मुक्त करने की चेष्टा करने लगा । गिरी-गौरी सप्तम (1 073-1085) ने ये आदेश जारी किया कि जो भी चर्च के मामले में हस्तक्षेप करेगा उसको निष्कासित कर दिया जाएगा । सम्राट हेनरी चतुर्थ को निष्कासित भी कर दिया गया । अपने निष्कासन को माफ कराने के लिए वह पोप से केनोसा (Canossa) मिलने भी गया किन्तु वहां उसको पोप से मिलने के लिए इन्तजार करना पड़ा और इस प्रकार उसको अपमानित किया गया।

1122 में वॉर्म्स (Worms) नामक जगह यह समझौता हुआ कि बीशप का चुनाव धार्मिक नियमों के आधार पर ही किया जाएगा किन्तु सम्राट की उपस्थिति में ही हो । ये पोप की आंशिक विजय थी ।

गिरि गैरी के चर्च ओर राज्य संबन्धित विचारों ने उस समय के पारस्परिक संबंधों को काफी प्रभावित किया इन विचारों को "पोप के आदेश "Dictatus Papae i.e. Dielate of the Pope" कहा जाता है जिसमें उसने यह कहा कि केवल पोप को ही विश्वव्यापी क्षेत्र प्राप्त है । वो ही धार्मिक सभा को बुलाए, बिना बीशप की नियुक्ति अवनति ओर हस्तान्तरण कर सकता है, वही नये कानून भी बना सकता है । वही सम्राट का वस्त्र भी धारण कर सकता है ये उसी को यह अधिकार प्राप्त है कि राजा उसके चरण चूमें, उसी को यह अधिकार प्राप्त है कि किसी सम्राट को अपदस्थ करे, उसका निर्णय अन्तिम है और जो व्यक्ति पोप के इन विचारों से सहमत नहीं है वह कैथोलिक नहीं हो सकता है । इस प्रकार के धार्मिक और राजनैतिक योजना की प्राप्ति का काम गिरी-गौरी ने अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ा ।

गिरी-गौरी के उत्तराधिकारियों ने इस व्यवस्था को और बढ़ाया और कई क्रिश्चयन राज्य पोप की जागीरें बन गयी और उनके शासक पोप के सामन्त बन गये और उन्होंने पोप के प्रति वफादारी की शपथ ली वार्षिक नजराना देने का वादा किया और सामन्तीय सेवा करनी चाही इस नयी पद्धति में सम्राट भी पोप का पहला सामन्त बन गया इसी नयी व्यवस्था को प्रमाणित करने के लिए धार्मिक लेखकों ने 12 वीं शताब्दी में नये-नये सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया । उनमें से एक सेलसबरी के जोन ने यह थ्योरी प्रतिपादित की कि ईसा मसीह ने अलौकिक और लौकिक तलवारें महात्मा पीटर और उनके उत्तराधिकारियों को प्रदान की जिसमें अलौकिक शक्ति का उपयोग पोप को करना था और लौकिक कार्य पोप के आदेशों से सम्राट को दिया गया इस प्रकार एक नये और व्यापक संघर्ष के लिए वातावरण बना दिया गया जिसमें एक तरफ लौकिक सत्ता थी और दूसरी तरफ अलौकिक ।

जब पोप समर्थक विद्वान यह कार्य कर रहे थे तो दूसरी ओर राज्य समर्थक विद्वानों ने रोमन कानून की नयी व्याख्या की । जिसके अनुसार सम्राट को सार्वभौम बताया गया । क्योंकि सम्राट ही विधि का स्त्रोत था इसलिए विधि के परे था इस व्याख्या से पूर्व राजा कानून का संरक्षक और स्वयं कानून का पालक माना जाता था और जो कोई शासक कानून का उल्लंघन करता उसको वैधानिक राजा नहीं माना जाता किन्तु रोमन कानून की इस नयी व्याख्या ने सम्राटों को नयी योजनाएं बनाने का अवसर प्रदान किया । इस प्रकार पोप और सम्राट के बीच जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ वह राजनैतिक था ना कि धार्मिक । किन्तु पोप ने सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय को धर्म विरोधी घोषित किया और यूरोप की सभी धार्मिक शक्तियों को उसके विरूद्ध धर्मयुद्ध का आहूवान किया इसमें फ्रेडरिक द्वितीय की हार हुई और ये मध्युग के पोप की अन्तिम विजय थी ।

17.6 चर्च और उत्तर मध्य कालीन राजतंत्र:

फ्रेडरिक द्वितीय की हार से पवित्र रोमन साम्राज्य कभी भी उभर नहीं पाया किन्तु साथ ही पोप ने अपनी इस विजय से आशानुकुल विश्व सार्वभौम सत्ता प्राप्त नहीं की इसके विपरीत इस काम में पोप की राजनीतिक सत्ता का हास हुआ इसका एक कारण यह था कि अब मंच पर एक नया प्रतिद्वन्द्वी प्रकट हुआ और वे थे शक्तिशाली राजा जो सामन्तीय पद्धति के द्वारा हुए रिक्त स्थानों की पूर्ति कर रहे थे । और निरंकुश वाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहे थे । और इस तरह पुरानी समस्या कि राज्य में चर्च है या चर्च में राज्य है कि पुनरावर्ती

हो रही थी । किन्तु इस बात नया राजतंत्रीय राज्य एक ठोस वास्तविकता थी और राष्ट्रीय भावनाओं पर आधारित थी । जिसका केन्द्र बिन्दू राजा था । जितना राष्ट्रीय राज्य शक्तिशाली हो रहे थे उतने ही वे चर्च को अपनी राष्ट्रीय पद्धति में समा रहे थे । और चर्च भी एक राष्ट्रीय संस्था बन रहा था । अब राज्य और चर्च के बीच जो संघर्ष प्रारम्भ होने जा रहा था । वह धार्मिक दावों या विचारधाराओं पर आधारित नहीं था । इस संघर्ष का मुख्य केन्द्र बिन्दु पादरियों के विशेषाधिकार का प्रश्न था । क्योंकि इन विशेषाधिकारों को लेकर पोप सम्राट के प्रशासन के आंतरिक मामलों में हर कदम पर हस्तक्षेप करता था । इन विशेषाधिकारों में दो ऐसे थे जिससे राज्य बहुत चिढ़ता था ।

1. धार्मिक सम्पत्ति और उसके आय के स्त्रोत राज्य करों से मुक्त थे । जबकि पोप भिन्न-भिन्न रूपों से उनसे पैसा हड़प सकता था । इस प्रकार देश की सम्पत्ति का एक बड़ा भाग राजा के करों के स्रोत से युक्त था । जबकि पोप उससे हर प्रकार का लाभ उठा सकता था।

2. पादरियों को सम्राट ने दीवानी और फौजदारी न्यायलयों के प्रभाव क्षेत्र से अलग रखा न केवल दीक्षित पादरी ही बल्कि जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग राज्य के न्यायालयों की परिधि से बाहर था ।

पोप ने अपनी आय के लिए बहुत विस्तृत व्यवस्था बना ली थी । जिससे वह प्रत्यक्ष ओर अप्रत्यक्ष रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार के कर प्राप्त करके अपने कोष को भरता था । अपनी सेवाओं के बदले वह बड़ी-बड़ी शुल्क लेता था । सबसे ज्यादा चिढ़ाने वाली बात यह थी कि बीशप के पद पर नियुक्ति के अधिकार को वह सुरक्षित कर लेता था और जब तक नियुक्ति पाने वाला पोप के कोष में अपने पहले साल की आय जमा कराने का वचन नहीं देता था उस समय तक पोप उसकी नियुक्ति नहीं करता था । सम्राट के द्वारा जो मनोनीत किये जाते थे पोप उनकी पुष्टि तभी करता था जब उसको शुल्क दे दिया जाए । धर्मयुद्ध के लिए जो विशेषकर लिया जाता था उसका एक बहुत बड़ा भाग स्थाई रूप से पोप के खजाने में चला जाता था । आय के कई ओर भी साधन थे जिससे पोप का खजाना भरता रहता था उनमें से एक यह था कि जब संतों के मकबरों पर यात्री नजराना देते थे उससे भी आय में वृद्धि होती थी।

सैद्धान्तिक रूप से चर्च की सम्पति करों से मुक्त थी किन्तु इस सिद्वांत का पालन इसके उल्लंघन में किया जाता था । और जब कभी राजाओं को जरूरत पड़ती थी तो वे धार्मिक सम्पति से ही स्वतंत्र रूप से पैसा उठाते थे । किन्तु यह बात बिल्कुल सही है कि उस समय के शासकों को यह पूर्णतया विदित था कि उनके राज्य के सोने का बहाव (flow) जो पोप के खजाने में होता है उससे काफी धनराशि प्रचलन से बाहर हो जाती है और इससे आर्थिक कठिनाइयों में वृद्धि होती है ।

इसके अतिरिक्त आपत्तिजनक बात ये थी कि न्यायालय भी दो प्रकार के थे एक धार्मिक न्यायालय दूसरे धर्मनिरपेक्ष न्यायालय पादरियों को यह विशेषाधिकार प्राप्त था कि उनके मुकदमे धार्मिक अदालतों में ही चल सकते थे यह बहुत पुरानी पद्धति थी । किन्तु मध्य युग में इस विशेषाधिकार का विस्तार करके हर उस व्यक्ति को भी इसका लाभ दे दिया गया था

जिनका चर्च से किसी ना किसी प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिए चाहे वह लोग सांसारिक कार्य ही क्यों ना करते हो उनको भी धार्मिक वर्ग का सदस्य मान लिया गया था । इन अदालतों में कार्य परिधि को लेकर काफी विवाद चलता था जिससे न्याय का अन्याय हो जाता था । धार्मिक अदालतें अपराधियों को हल्की सजाएं देकर अपराधी प्रवृत्तियों को और बढ़ाती थी ।

पोप बोनीफेस (Boniface) ने अपने एक विशेषादेश जो 1302 में जारी किया यह घोषणा की कि पोप का सारे समाज पर प्रत्यक्ष रूप से अधिकार है चाहे वह धार्मिक मामलों हो या राजनैतिक । और यह घोषणा की कि कोई भी ईसाई मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता है जब तक की वह पोप के आदेशों का पालन नहीं करता । किन्तु पोप को 1303 में बंदी बना लिया गया और फिर उसकी मृत्यु हो गई इससे पोप का बहुत अपमान हुआ । 1305 में क्लिमेन्ट (CLEMENT) पंचम पोप चुना गया यह एक फ्रांसिस पोप था जो कभी रोम नहीं गया । इससे पोप की राजनैतिक महत्वकांक्षाओं को बड़ी क्षति पहुंची इसके बाद चर्च में आपस में विवाद पैदा हुआ । पोप एक दूसरे को निष्कासित करने लगे और इस तरह चर्च अपने धार्मिक और राजनैतिक दोनों कार्यो में असफल रहा । ऐसी स्थिति में चर्च में सुधार करना अनिवार्य हो गया । इसके लिए 1414 में कान्सटेन्स (CONSTANCE) में एक आम सभा आयोजित की गई जिसमें पादरी धार्मिक व्यक्ति राजा और विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए इस सभा ने तीन पोपों को हटा दिया और नया संविधान बनाया जिसके अन्तर्गत चर्च की शासन व्यवस्था को एक साधारण सभा को सौंप दिया गया और पोप इसका वरिष्ठ अधिकारी बना जिसका चयन किया जाने लगा ।

17.7 चर्च और राज्य निरंकुशबाद के दौर में:

इस काल के पोप मानववादी थे और पुर्नजागरण से प्रभावित थे । इनमें कट्टर धार्मिकता नहीं थी बल्कि वे सत्ता और ऐशो आराम के प्रेमी थे । धार्मिक मामले में वे काफी उदार और चतुर कूटनितिज्ञ थे इसलिए उन्होंने इस बात की कोशिश की कि पोप का शासन पुन: स्थापित किया जाए । उन्होंने उचित और अनुचित तरीके से शेष पुरानी धार्मिक स्वतंत्रता को कुचलने की कोशिश की छोटे-छोटे सामन्तों से मुक्ति प्राप्त की और अपने आपको युरोपियन राजनीति और युद्धों के भँवर में फंसा लिया । चर्च को सुधारने की जितनी भी योजनाएं थी वे अलमारियों में बन्द कर दी गई ।

इस कारण राज्य और चर्च मैं जो अब संबंध स्थापित हुए वह पूर्णतया: राजनैतिक और धार्मिक तथ्यों पर आधारित थे राजा वस्तुत: अपने राज्य के चर्चो पर नियंत्रण रखते थे पादरियों का चुनाव करते थे किन्तु अब राजा ये चाहते थे कि पोप उनके इस कार्य को वैधानिक प्रदान कर दें राजाओं का पादरी किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं करते थे क्योंकि उनका व्यक्तिगत स्वार्थ और राष्ट्रीय भावनाएं उनके सम्राट के साथ जुड़े रहने को प्रेरित करती थी । इसलिए चर्च और राज्य के आन्तरिक विवाद स्थानीय विवाद बन गये थे । जिनका क्षेत्र धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष अदालतों तक सीमित हो गया । इसलिए अब राजा बड़ी आसानी के साथ इस विश्वास के साथ कि उनके पादरी उसका साथ देगें पोप से लोहा ले सकते थे । दूसरी ओर पोप की महत्वाकांक्षा उसको इस बात के लिए भी प्रेरित कर रही थी कि वे यूरोपियन राजनीति में

बढ़ चढ़ कर भाग ले और इसके आक्रामक व रक्षात्मक युद्धों में उसको महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने का मौका मिले ।

सबसे कठिन परिस्थिति उस समय उत्पन्न हुई जब 1438 में फ्रांस के चर्च ने अपने आपको स्वतंत्र होने की घोषणा की । सिवाए धार्मिक मामले के जो पोप के लिए छोड़ दिया गया। इस घोषणा को इतिहास में गोलिकन स्वतंत्रता कहा जाता है । इससे फ्रांस के पादरी बहुत खुश हुए और फ्रांस का चर्च एक राष्ट्रीय चर्च 'बन गया और अब वह एक लौकिक सत्ता के नियंत्रण में आ गया ।

पोप ने इस घोषणा का जिसको प्रेगमेटिक (pragmatic Sametum) सेक्सन भी कहते है पोप ने विरोध किया परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। गिरी-गौरी सप्तम का युग समाप्त हो चुका था और पोप के अनुभवों ने यह जता दिया था कि राष्ट्रीय बचो पर सम्राट का ही नियंत्रण रहेगा वे हटने वाला नहीं है । और अब वह यह कोशिश कर रहे थे कि इसमें से जितना भी बचाया जा सके अच्छा है । पोप और समझौता करने के लिए तैयार थे और इस तरह 1516 में पहला धार्मिक समझौता पोप ल्यू दसम और फ्रासिस प्रथम के बीच हुआ। इस धार्मिक समझाौते का लक्ष्य फ्रांस में चर्च ओर राज्य के संबंधों को स्थायी बनाना था । इसके अन्तर्गत राजा को यह अधिकार दिया गया कि फ्रांस के सभी बीशप और अन्य धार्मिक पदों पर नियुक्त करने का अधिकारी होगा । वे मुकदमें जो अब तक रोम में पोप के न्यायालय में प्रस्तुत किये जाते थे कुछ को छोड़कर सभी फ्रांस की धार्मिक अदालतों में तय किए जायेगें । इन अदालतों की अपील सम्राट की स्वीकृति से ही रोमन न्यायालयों में की जा सकेगी । नियुक्ति करने के लिए नियम तैयार किये गये । मठों को यह अधिकार दियां गया कि वे अपने धार्मिक एबोट (Abbot) का चयन करेगें किन्तु यह चयन राजा की उपस्थिति में ही होगा ।

पोप ने इसके बदले में प्रेगमेटिक सेक्शन को समाप्त करवा दिया । इस धार्मिक समझौते से चर्च पर राजा को जो अधिकार मिला था वह सैद्धान्तिक रूप से पोप के क्षेत्रीय अधिकार को भी मान्यता मिल गई । यह समझौता भविष्य के समझौतों के लिए एक उदाहरण बन गया । और इस प्रकार चर्च और राज्य में जो एकता स्थापित हुई वह बहुत लम्बे समय तक अपरिवर्तित रही ।

धर्म सुधार (रिफोरमेशन-Reformation) के कारण पोप की राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं को धक्का लगा क्योंकि यूरोप का बहुत बड़ा भाग रोम से दूर हो गया । धर्म सुधारकों ने पोप की सका को समाप्त करके चर्च को लौकिक सज्ञा प्रदान कर दी ओर सभी धार्मिक कार्य राज्य के अधीन हो गये और राज्य का भी यह कर्तव्य हो गया कि वह अपने धार्मिक उत्तरदायित्व सम्भाले । इसका परिणाम यह निकला एक नये प्रकार के धार्मिक राज्य का जन्म हुआ और राजा देवीय अधिकार प्राप्त राजा के रूप में कार्य करने लगा । यह सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ कि राज्य की जनता उसी धर्म का पालन करे जो राजा का धर्म है । इसकी स्वीकृति 1648 में वेस्टफेलिया की संधि के द्वारा कर दी गई जिससे तमाम धार्मिक युद्धों का अन्त हो गया ।

कैथोलिक विधानों ने प्रतिवादात्मक सुधार आन्दोलन के अन्तर्गत पोप के लौकिक मामलों पर अधिकार में नया संशोधन किया । इसके लिए वह जीलेशियन (Gelasion) सिद्धान्त की तरफ वापस लौटे जिसमें यह कहा गया था कि दोनों ही सत्ताएं लौकिक व अलौकिक अपने-

अपने क्षेत्र में स्वतंत्र है किन्तु एक समान लक्ष्य के लिए संबंधित है । इस सिद्धान्त के अन्तर्गत बीशप लौकिक मामले में राजा के अधीन हुए अब पोप पर लागू नहीं किया जा सकता था क्योंकि उसकी सार्वभौम सत्ता लौकिक व अलौकिक मामलें में पवित्र बन गई थी कैथोलिक धार्मिक व्यक्तियों में देवीय अधिकार राजा के सिद्धान्त के विरूद्ध थे सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि कोई भी शासन वैधानिक शासन नहीं है । अगर जनता की सहमति उसको प्राप्त नहीं है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि राजा को जनता के द्वारा सस्ता मिली है या राजा जनता के प्रति उत्तरदायी है । इसका साधारण मतलब यह था कि शासन का उद्देश्य जनता की भलाई करना है और जो शासन इस लक्ष्य की पूर्ति करता है उसी को जनता का समर्थन मिल सकता है वह राजा अपराधी होगा जो कानून का उल्लंघन करे, अन्याय करे, धर्म से धा करे ऐसे राजा को जनता पसन्द नहीं करेगी । जनता उससे घृणा करेगी और वह राजा ना होकर शोषक बन जाएगा ।

इस वाद विवाद का यह परिणाम निकला कि कैथोलिक राज्यों में कैथोलिक धर्म का समर्थन किया जाएगा ओर प्रोटेस्टेंट राज्यों में प्रोटेस्टेंटों को समर्थन मिलेगा ।

18 वीं शताब्दी में चर्च और राज्य के बीच जो परम्परागत सहानुशुतइ पैदा हुई थी वह भी धूमिल होने लगी । धार्मिक सहष्णुता की विचार धारा मानववादिता और उदारवाद के कारण विकसित होने लगी जिसमें धार्मिक कट्टरता को कम करके दिखाया गया । प्राचीन राजतंत्रीय पद्धति मरने लगी और शीघ्र ही फ्रासीसी क्रांति ने सबको बहा दिया।

17.8 चर्च और उदार राज्य:

पहला राज्य जिसने समस्या का क्रांतिकारी समाधान किया अर्थात् चर्च और राज्य को अलग-अलग किया वह था अमेरिका का संयुक्त राज्य इसके संघीय संविधान में कांग्रेस को इस बात के लिए बाध्य किया कि कोई ऐसा कानून बनाए जिसमें किसी चर्च को स्थापित किया जाए या किसी धर्म को मना किया जाए या धार्मिक कारण से किसी नागरिक को उसके अपने राजनैतिक अधिकारों के अपनाने में पक्षपात किया जाए । धार्मिक स्वतंत्रता और कानून की दृष्टि से सभी धर्मो को समानता, आधुनिक राज्यों का सिद्धान्त बना ।

फ्रांसीसी राज्य क्रांति ने विचारों और धर्म की स्वतंत्रता की घोषणा की किन्तु सर्वप्रथम उसने इस घोषणा में चर्च शब्द को नहीं हटाया बल्कि यह कोशिश की कि चर्च के सगंठन में क्रांतिकारी परिवर्तन करे । परिणाम उत्साहजनक नहीं निकले इसलिए जेकोबिल सदस्यों ने बिना चर्च और धर्म के राज्य को पसन्द किया जब नैपोलियन पहला कौन्सल बना तो उसने कैथोलिक चर्च को पुन: स्थापित किया और 1801 का दूसरा धार्मिक समझौता हुआ ।

17.8.1 1801 की धर्म संधि:

फ्रांसीसी राज्य क्रांति के समय क्रांतिकारियों के सामने आर्थिक संकट बहुत विकट था, पूरा देश दिवालियापन के दरवाजे तक आ गया था । इस समस्या से निपटने के लिए कई योजनाएं बनाई गई लेकिन किसी पर कार्य नहीं हुआ अब धन का केवल एक ही स्रोत था- चर्च की संपत्ति का स्रोत धार्मिक कर टाइथ (Tithe) को समाप्त कर दिया था तो फिर चर्च की सम्पत्ति को भी क्यों ना समाप्त कर दिया जाए । कैथोलिक विरोधी लोगों ने सहर्ष समर्थन

किया उदार सिद्धान्तवादियों ने कहा कि चर्च की संचित निधी 'जनता के हित में प्रयुक्त होनी चाहिए । बीशप टेलींरा (Tallerand)ने प्रस्ताव किया कि चर्च की सम्पति राज्य के प्रयोग के लिए छोड़ देनी चाहिए वह प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत कर दिया गया इस तरह चर्च की सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण ने जहां राज्य के संकट को दूर करने में सहायता की वहां दो समस्याएं उठखड़ी हुई । बहुत सी धार्मिक संस्थाए गरीबों की देखभाल करती थी उनका विघटन हो जाने से गरीबों की देखभाल का भार देश के ऊपर आ पड़ा । चर्च की उस- “निकृष्ट और भयानक दान दया” के स्थान पर- जो लोगों में “ 'अकर्मण्यता और धरमात्ता पैदा करती थी” राष्ट्रीय सभा ने ऐसी क्रमशालाएं स्थापित करने का निश्चय किया जो “राज्य के लिए उपयोगी सिद्ध हों जिनमें निर्धन अपने परिश्रम के फलस्वरूप जीविका उपार्जित करें । “दूसरा प्रश्न पादरियों के निर्वाह का था क्योंकि अब उन्हें जीविका के लिए अनुदान मिलने बन्द हो गये थे इसके परिणाम स्वरूप (Civil Constitution of the elergy) धर्म आचार्यो का विधान की रचना हुई । इसके अन्तर्गत फ्रांस के चर्च का पुर्नगठन इस तरह किया गया कि वे पादरी जिनकी सम्पति पहले ही छीन ली गई थी बिल्कुल समाप्त हो गई इससे फ़्रांसीसी जनता का एक बहुत बड़ा भाग नाराज हो गया । अब तक पादरी क्रांति के मूल्यवान सहायक रहे थे ।

नेपोलियन बोनापार्ट ने जब फ्रांस के लिए नयी संहिता तैयार की तो उसने रोमन चर्च में भी सुधार करना चाहा । रोमन चर्च क्रांति' के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा रहा था । नेपोलियन का स्वयं अपना कोई धर्म नहीं था यह अवश्य है कि वह चर्च की घंटी सुनकर या तारों भरे आकाश को देखकर रहस्य का कुछ आभास अवश्य पाता था । उसका धर्म इसी रहस्य आभास तक ही सीमित था । “लोग कहेंगे कि मैं पोप वादी हूं मैं ऐसा कुछ नहीं मैं मिश्र में मुसलमान था मै यहां जनता की भलाई के लिए कैथोलिक हो जाऊंगा”

अध्यात्मिक क्षेत्र में नेपोलियन की सीमाएं निश्चित रूप से सीमित थी उसके लिए धर्म केवल कैटलबी के अनुसार एक उपयोगी राजनैतिक साधन, राष्ट्र की कल्पना को आकृष्ण करने वाला केन्द्र, सामाजिक सीमेंट और एक अभयद्वीप (Safety Valve) था उसका मत था “लोगों के पास धर्म होना चाहिए और धर्म सरकार के हाथों ।मे रहना चाहिए” । इस समय फ्रांस का धर्म सरकार के शत्रुओं के हाथों में था ।

डेविड थोमसन ने इस समझौते पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि नेपोलियन का मुख्य उद्देश्य यह था कि क्रांति से उत्पन्न धार्मिक विवाद का अन्त किया जाए ओर एक व्यवहारिक व्यवस्था स्थापित की जाए । वह राजतंत्र को कैथोलिकवाद से अलग करना चाहता था । जिससे कि वह फ्रांस के एक बड़े जन-समूह की शक्तिशाली कैथोलिक भावनाओं को संतुष्ट कर सके और साथ ही कैथोलिक समर्थक भावनाएं ना भड़के जो कि चर्च की सत्ता और सम्पत्ति को पुन: दिलाने की चेष्टा कर रहे थे इस लक्ष्य की प्राप्ति में नये पोप Pius सप्तम ने उसकी सहायता की । नेपोलियन ने कहा था “इंग्लैण्ड की अधीनता में रहने वाले पचास प्रवासी बीशप फ्रांस के पादरी वर्ग के वर्तमान नेता है । “नेपोलियन ने पोप के साथ एक समझौता किया समझौते के द्वारा नेपोलियन ने पादरियों का अविवाहित रहना, बीशपों की पोप द्वारा दीक्षा और धार्मिक कानून को फिर से स्थापित करना स्वीकार किया । दूसरी ओर पोप ने यह स्वीकार

किया कि राज्य पादरियों को वेतन दे सकता है । उसने क्रांतिकाल में की गई भूमि व्यवस्था पर भी अपनी मंजूरी दे दी ।

इस समझौते से फ्रांसीसी गणतंत्र का चर्च पर पूरा अधिकार हो गया किन्तु कैथोलिक धर्म का स्थान नहीं ले सका । क्रांति के समय चर्च की जो सम्पत्ति जब्त की गई थी वह लौटाई नहीं गई । पादरियों की संख्या बहुत कम कर दी गई । पुराने शासन के सभी पादरियों को या तो त्याग पत्र देना पड़ा या हटा दिया गया । बीशप और पादरियों को गणतंत्र के प्रति शपथ लेना अनिवार्य कर दिया । पादरियों को जो विशेषाधिकार, छूट इत्यादि मिली हुई थी ओर जिनको क्रांति ने समाप्त कर दिया था वे पुन: प्रारम्भ नहीं की गई । फ्रांस में कैथोलिक धर्म की पुनर्रावृत्ति के लिए एक भारी कीमत चुकानी पड़ी पोप के सामने इसके अलावा कोई विकल्प ही नहीं था । अब नया राज्य जिसमें दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को मिलाया था अर्था चर्च पर अपना प्रभाव क्षेत्र और धर्म के मामले में स्वतंत्रता अब मूलभूत एक निरपेक्ष राज्य था । थोड़े से अन्तराल के बाद 19 वीं शताब्दी के ऐतिहासिक विकास में युरोप के आधुनिक धर्म निरपेक्ष राज्यों ने इन्हीं दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया ।

समाज और राज्य संबंधी जो नये सिद्धान्त 18 वीं शताब्दी में विकसित किये गये इनको अब 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उदारवाद का नाम दिया । उदारवाद में राजाओ के देवीय अधिकार के सिद्धांत से इन्कार किया और राजनैतिक सत्ता को जनता से उत्पन्न और जनता के प्रति उत्तरदायी समझा गया । लेकिन कुछ राज के स्थान पर प्रतिनिधि सरकारें बनने लगी । उदारवाद ने आधुनिक गणतंत्र और विचारों तथा विश्वासों व भाषण और संगठन की स्वतंत्रता के द्वारा प्रशस्त कर दिये । धम्र और चर्च राज्य के इस स्वरूप के अन्तर्गत राजनैतिक जीवन के प्रभावशाली तत्व नहीं रहे । विश्वासों की स्वतंत्रता का अर्थ था कि हर नागरिक को यह अधिकार है कि वो जिस धर्म का पालन करना चाहे करे या किसी धर्म का भी पालन ना करे । धार्मिक स्वतंत्रता का अर्थ था कि सभी धर्म कानून की दृष्टि में समान है ऐसी परिस्थिति में राज्य के लिए एक ही विकल्प था कि वह धार्मिक तटस्थता की नीति का अनुसरण करे जो वस्तुत: चर्च और राज्य के अलग-अलग होने का मार्ग था ।

प्रोटेस्टेन्ट धर्म के अनुयायिओं ने इस उदारवाद पर या तो शक्तिशाली विरोध प्रकट नहीं किया और ना ही तर्क संगत आपत्ति प्रकट की । कैथोलिक विद्नों ने चर्च को एक आत्मनिर्भर समाज बताया और यह कहा कि इसको सार्वभौम सत्ता प्राप्त है, अर्थात् इसको कानूनसाजी कार्य कारणी न्याय संबंधी सभी अधिकार प्राप्त हैं । यह सब सार्वभौम सत्ता के तत्व हैं और यह सार्वभौम सत्ता प्रत्यक्ष रूप से आध्यात्मिक क्षैत्र में और अप्रत्यक्ष रूप से लौकिक क्षेत्र में लागू होती है जिससे कि चर्च अपना अध्यात्मिक उद्देश्य पूरा कर सकें । दूसरी तरफ राज्य भी एक आत्म निर्भर समाज है किन्तु इसका क्षेत्र लौकिक चीजों तक ही सीमित है इस प्रकार राज्य की सार्वभौम सत्ता चर्च की सार्वभौम सत्ता से कम है । इसलिए राज्य एक ऐसा समाज है जो केवल तुलनात्मक रूप से पूर्ण है किन्तु चर्च का सार्वभौम क्षेत्र बहुत व्यापक है और अपने आप में पूर्ण है । अपनी पूर्णता में चर्च को यह अधिकार है कि वह राज्य पर कुछ प्रतिबंध लगाए जो नकारात्मक इस अर्थ में कि राज्य चर्च की गतिविधियों में कोई बाधा उत्पन्न ना करे और सकारात्मक थे कि चर्च की भौतिक सहायता करे । चर्च की सार्वभौम सत्ता उसको इस बात का

अधिकार देती है कि चर्च जब चाहे राज के मामले में हस्तक्षेप करे जब राज्य ऐसे कानून बनाए जो चर्च की दृष्टि में जनता को अध्यात्मिक और नैतिक जीवन के लिए खतरनाक हो ।

इस सिद्धान्त ने अन्तरात्मा के प्रश्न को खड़ा कर दिया कि राज्य अपनी जनता के धार्मिक मामलों में कोई रूचि ना रखे । इसी तरह धार्मिक स्वतंत्रता का प्रश्न भी खड़ा हुआ कि राज्य सभी धर्मो के मानने वालों को समान अधिकार और स्वतंत्रता प्रदान करे अर्थात् सत्य और असत्य को एक स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया । तीसरी समस्या ये थी कि भाषण प्रकाशन और सगंठन की स्वतंत्रता अर्थात् चर्च पर आक्रमण की स्वतंत्रता, झूठे धर्म का प्रचार इत्यादि । इन मामलों में चर्च और राज्य का अलग-अलग होना जिसमें चर्च एक और जिसके सार्वभौम अधिकार छीन लिये गये कैथोलिक समर्थकों ने बहुत विरोध किया ।

इन सिद्धान्तों के आधार पर 19 वीं शताब्दी के समस्त पोपों ने राजनैतिक उदारवाद और गणतंत्रीय स्वतंत्रता को अस्वीकार किया ।

राजतंत्र समर्थकों ने सबसे पहले यह आपत्ति प्रकट की कि एक ही जगह एक समय में दो सार्वभौम सत्ता में नहीं रह सकती जब तक कि दोनों के क्षेत्रों को सीमित नहीं किया जाए या दोनों एक दूसरे में विलीन ना हो जाए । उनकी यह भी मान्यता थी कि पूर्ण और सापेक्ष समाज का भेद निराधार है । क्योंकि पूर्णता में कोई पैमाना नहीं होता या तो कोई चीज अपने आप में बिल्कुल पूर्ण हो या होती ही नहीं है Perfect absolutely or not perfect at all सार्व भौम सत्ता में कोई बाध्य सीमा होती ही नहीं है ।

17.8.2

जब चर्च समर्थक और राज्य समर्थक इन विषयों पर विचार ही कर रहे थे कि कांग्रेस ऑफ वियना आमंत्रित की गई जोकि एक प्रति क्रियावादी सम्मेलन था और जो क्रांति की लहर आई हुई थी उसने जहां एक ओर निरंकुश राजतंत्रों को और पोप को एक दूसरे के करीब लाने के लिए बाध्य कर दिया ऐसे वातावरण में पोप ने तख्त और वैदी (THRONE AND ALTAR) थ्रोन और आल्टर के बीच निकट का संबंध स्थापित करने का आग्रह किया । क्योंकि यही उदारता की बाढ़ को रोकने का एक उपाय था ।

डेविट थोमसन ने इस संबंध में लिखा है कि 1815 तक रोमन कैथोलिक चर्च अपने पर हुए अत्याचारों के लाभ उठाने लग गया था । क्रांति के समक्ष जो रक्तपात और आंतक फैला उसने धार्मिक विश्वासों को पुन: जीवित कर दिया और कैथोलिक समर्थक भावनाएं राजतंत्र समर्थक और कुलीन वर्गो में पुन: जीवित हुई । यही वर्ग यूरोपियन राजनीति के सर्वेसर्वा था । 1815 मे रोमन चर्च को अपनी पुरानी विशेष स्थिति प्राप्त हो गई । जहां तक फ्रांस का प्रश्न था यह असम्भव था कि क्रांतिकारियों ने चर्च की जिस सम्पत्ति और भूमि को हथिया लिया था उसको पुन: दे दें । इसलिये राज की ओर से बड़ी उदारता से चर्च को अनुदान दिये गये और चर्च का शिक्षा पर पुन: नियंत्रण स्थापित हो गया । दूसरे देशों में चर्च की सम्पत्ति उनको पुन: मिल गई और एन: प्रभाव भी प्राप्त हो गया यहां तक कि प्रोटेस्टेन्ट राज्य जैसे बिटेन और प्रशा भी यूरोप में पोप की सत्ता की पुन: स्थापना के समर्थक बन गये । इस काम में गैर कैथोलिक सत्ता रूस ने भी उनका साथ दिया । पोप पायस सप्तम के प्रति व्यक्तिगत सहानुभूति दर्शायी

गई क्योंकि नेपोलियन के हाथों उसका अपमान हुआ था । 1804 में जब नेपोलियन ने अपने आपको फ्रांस का सम्राट घोषित किया और पोप को राज्यभिषेक उत्सव में भाग लेने के पैरिस में बुलाया किन्तु पोप के हाथों अपने सर ताज रखने की बजाय उसने खुद ही रख लिया इससे पोप बहुत अपामानित हुआ । पोप ने अपने पुराने विशेषाधिकार व कार्य रोम तथा स्पेन में पुन: प्रारम्भ कर दिये, स्पेन, सार्डेनिया, बवेरिया और नेपुल्स ने चर्च के साथ नये धार्मिक समझौते किये और चर्च ने अपनी खोयी हुई सत्ता पुन: प्राप्त कर ली । चर्च समर्थक नीति के कारण बड़े देशों में विशेषकर फ्रांस और आस्ट्रिया में सरकारी तौर से विरोध प्रकट किया गया । क्योंकि धर्म प्रचारकों जैसविटो (JESUITS) ने फ्रांस, स्पेन और इटली में अपनी सोसायटियां बना ली थी और वे राजनीति, प्रशासन और शिक्षा को प्रभावित कर रहे थे । कुछ ही वर्षो में फ्रांस से जेसुविट की गतिविधियों को सीमित करने के कानून पारित किये । रूस ने उनको निष्कासित कर दिया किन्तु 18 वीं शताब्दी के अंत में जितनी निम्न स्तर पर कैथोलिक वाद पहुंच चुका था । उससे उसने बड़ी तेज गति से पुनरावृत्ति की ओर चर्च समर्थक बहुत ज्यादा प्रभावशाली हो गये ।

इंग्लैण्ड में जहां पर एग्लीकन चर्च को एक विशेष स्थान प्राप्त था और जहां पर उसके विरोध करने वालों को कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था । 1828 तक विधिवत उन लोगों को प्रशासनिक और सैनिक पदों से वंचित रखा जाता था और विश्वविद्यालयों में अध्यापन का कार्य नहीं करने देते थे । चर्च का वह भाग जो देश विदेश में धर्म प्रचार का काम करता था दास प्रथा का विरोध करता था मोटे तौर से राजनीति में रूढ़िवादी रहा और वहां के चर्च ने सुधार आन्दोलन को यहां तक कि ऐसे मानवीय सुधारों को जैसे जेल खाने के सुधार के प्रति किसी प्रकार का समर्थन प्रदान नहीं किया ।

चर्च की सत्ता की पुन: स्थापना संभवतया धार्मिक विश्वासों की पुनरावृत्ति के कारण हुई और तर्क संबंधी विचारधाराएं राज्य की धर्मनिरपेक्ष सिद्धान्त, मानव के प्रकृति संबंधी विचारों को क्रांतिकारी और नेपोलियन युग की ज्यादतियों के कारण धक्का लगा । यूरोप के महानतम बुद्धिजीवी यहां तक कि जो अब तक बहुत तीखी आलोचना करने वाले थे उन्होंने ईसाई सिद्धान्तों को पुराने धार्मिक विचारों के प्रति अपने आपको समर्पित कर दिया । एडमंड बर्क जैसा व्यक्ति सारे यूरोप में रूढ़िवादिता का वक्ता बन गया । फ्रांस में जोजेफ डी मिस्टर और डी बोनल ने राजतंत्र और पोप की सत्ता का समर्थन किया उन्होंने अपने लेखों से उदारवादी विचार धाराओं को खण्डित करने की कोशिश की उनके विचारों को लेमीना LAMENAAS ने लोकप्रिय बनाया और उसने इस बात की चेष्टा की । कि चर्च को राजतत्र से अलग करना चाहिए क्योंकि इन दोनों का घनिष्ठ संबंध चर्च को अनावश्यक रूप से बदनाम करता है उनके विचारों का मूलमंत्र था सत्ता की मांग सत्ता राज को भी मिले और चर्च को भी मिले और यही क्रांति और नास्तिकता के विरुद्ध सबसे बड़ा हथियार है

1800 से पहले-पहले अधिकांश प्रभावशाली बुद्धिजीवी तर्कवादी गणतंत्रीय विचारों के समर्थक और कैथोलिक विरोधी थे किन्तु अब एक दशक से ज्यादा महान बुद्धिजीवी परम्परावाद, रूढ़िवाद और चर्च का समर्थन करते थे ।

जब यूरोप में विशेषकर इटली में स्वतंत्रता के संघर्ष हुए और राजनैतिक एकीकरण हुआ तो इससे निरंकुशवाद की हार हुई और नये गणतंत्रीय अथवा संवैधानिक राजतंत्रों की स्थापना हुई । परिणामस्वरूप पोप ने ना केवल अपना लौकिक राज्य खोया अपितु युरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और मामलों में अपना प्रभाव भी खो दिया । चर्च ने नेपोलियन के युग के बाद जो आर्थिक और -सामाजिक सत्ता प्राप्त की और शिक्षा पर जो नियंत्रण स्थापित किया उसने उदारवादी मार्ग में बड़ी बाधाएं उत्पन्न कीं । इटली में विशेषकर जहां पोप को उसके लौकिक राज से हटा कर जो राष्ट्रीय एकीकरण हुआ चर्च और नव स्थापित इटली के राज्य के बीच स्थाई शत्रुता की स्थिति पैदा कर दी । कावुर के शब्दों में "एक स्वतंत्र राज्य में एक स्वतंत्र चर्च होना चाहिए" पोप के प्रभाव क्षेत्र को काफी नुकसान पहुंचाया कावुर ने पादरियों के विशेषाधिकार समाप्त कर दिये कानून के समक्ष सभी नागरिकों को समानता का अधिकार दिया । धार्मिक दलों को कुचल दिया और उनकी सम्पति को जब्त कर लिया । राज्य ने बीशप मनोनीत करने के अधिकार को त्याग दिया किन्तु यह अधिकार अपने पास रखा कि पोप के द्वारा नियुक्त किये हुए बीशपों की अनुमति देना और ना देना राज्य का कार्य होगा । बीशप और मठों के अनुदानों को जब्त नहीं किया गया बल्कि उनका प्रशासन राज्य के नियंत्रण में कर दिया गया । इस प्रकार का मिला-जुला सम्बंध चर्च और राज्य के बीच में स्थापित किया गया जिसमें एक ओर पुराने अधिकार क्षेत्र की बात थी तो दूसरी ओर नये उदारवाद को देखा जा सकता था । किन्तु सरकारी स्तर पर राज्य और चर्च एक दूसरे के विरूद्ध संघर्षरत रहे ।

17.8.3

पोप नये इटली के राज्य के लिए एक समस्या बना रहा मई 1871 में इटली की संसद ने गारन्टी की विधि पास की जो कावूर के स्वतंत्र चर्च और स्वतंत्र राज्य के सिद्धांत पर आधारित थी । पोप को वे सब निर्बाध्यताएं (Immunities) दे दी गई जो किसी राजा को प्राप्त रहती है और उसको वह सब औपचारिक आदर प्रदान कर दिये गये जो राजाओं को मिलते हैं जैसे सशस्त्र अंगरक्षक रखने की आज्ञा और लगभग तीस लाख लीरा (Lira) पोप ने जेब खर्च के लिए । पोप को अपने सभी धार्मिक कृत्यों को करने की पूरी छूट थी वह कैथोलिक ईसाईयों से सम्पर्क स्थापित कर सकता था । उसके दरबार में उपस्थित रहने वाले चार धार्मिक प्रतिनिधियों को भी कूटनीतिक निर्बाध्यताएं प्रदान कर दी गई । इटली की सरकार ने पोप को वह अधिकार भी सौंप दिये जिनका वह इटली के पादरियों पर प्रयोग करती थी । अब पोप को यह अधिकार भी प्रदान कर दिया गया कि वही सारे देश के लिए बीशप नियुक्त करेगा । किन्तु पोप पायस नवम् ने ना तो यह स्वीकार किया कि उसे चर्च का साम्राज्य अब उसके अधिकर में नहीं रहा और ना उसने गारंटीज की विधि को ही स्वीकार किया । पोप ने निष्क्रिय और असहाय असहयोग का मार्ग अपनाया और 1870 के बाद से तो वह अपने भवन से निकला ही नहीं । एक स्वयं बंदी बन गया अपने संतोष के लिए उसने मान लिया कि पोप कोई गलती नहीं कर सकता उसने कहा "मैं तुमको फिर बताना चाहता हूं कि तुमने मेरे और धर्म के विरूद्ध जो भीषण हिंसा की है उसका फल भोगने के लिए तुम अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहोगे ।"

पोप पायस नवम् का पोप काल बहुत दिनों तक चला और प्रसिद्ध भी रहा किन्तु इसी पोप के काल में पुन: पोप के अधिकारों में वृद्धि भी होने लगी । संसार भर में कैथोलिक मत वालों की उन्नति हुई । यह उन्नति समान रूप से अमेरिका और तुर्क साम्राज्य में, अफ्रीका और मेडागास्कर में, भारत और सुदूरपूर्व में हुई । कैथोलिक मत की सबसे अधिक उन्नति प्रोटेस्टेन्ट देशों में हुई । जिनमें होलैण्ड और इंग्लैण्ड प्रमुख थे । कई शताब्दी के बाद रोमन कैथोलिक पादरियों को कई यूरोपियन राज्यों में उच्च स्थान मिले ।

17.8.4 जर्मनी में सभ्यता का संघर्ष:-

1866 से बिस्मार्क, रोमन कैथोलिकों से जलता था । कारण यह था कि जर्मनी के रोमन कैथोलिक आस्ट्रिया के समर्थक थे । और प्रशा के प्रोटेस्टेन्ट राज्य परिवार के प्रति - शत्रुभाव रखते थे युद्ध में पोप ने खुले आम प्रार्थना की थी कि युद्ध में आस्ट्रिया की विजय हो । रोमन कैथोलिक चर्च उसी प्राकर नवीन जर्मन साम्राज्य से भेदभाव रखता था जिस प्रकार कि अनेक पोप सदैव जर्मन सम्राटों के विरूद्ध ऐसा करते थे । पोप का जर्मनी में भारी प्रभाव था और सर्वसाधारण पर भी । कैथोलिक दल एक राष्ट्र विरोधी संस्था थी जो राज्य के बाहर की सत्ता के आदेश ग्रहण करती थी । वह ग्रह नीति और विदेशनीति में बिस्मार्क के लिए बाधा उत्पन्न करते थे और पोप की सर्वोच्चता के समर्थक थे । जब यह सिद्धान्त स्थापित हुआ कि कोई राजा ऐसे राज्य में राजा ही नहीं है जिसमें कैथोलिक प्रजा निवास करती हो ।

बिस्मार्क' ने कहा था "पोप की निरभ्राता का सिद्धान्त ही राज्य के लिए भारी खतरा है । पोप ने अपने लिए मनमाने अधिकार सुराक्षेत कर रखे हैं । वह हमारी विधियों को निष्फल घोषित कर देता है ।

बिस्मार्क इस तत्व पर बल देता था कि रोमन कैथोलिकों का विरोध राजनैतिक महत्व रखता है । उसने कहा था यह संघर्ष प्रोटेस्टेन्ट राज्य परिवार और कैथोलिक चर्च के बीच नहीं है । यह संघर्ष धर्म और अधर्म के बीच भी नहीं है । यह तो उसी पुराने संघर्ष की पुनरावृत्ति है जिसमें ईसा को प्राण त्यागने पड़े थे । यह संघर्ष वास्तव में सत्ता हथियाने का संघर्ष है । इस संघर्ष में सभी तत्व जुट गये जो कैथोलिक चर्च के विरोधी थे । जब 1670 में वेटीकन परिषद ने यह आज्ञा पत्र निकाल दिया कि पोप के सब कार्य और सब निश्चय निर्दोष और निरभ्रांत होते हैं । तब तो संघर्ष अनिवार्य हो गया । कुछ जर्मन कैथोलिक ऐसे थे जिन्होंने पोप की निरभ्रांता के सिद्धान्त को मानने से इन्कार कर दिया और कुछ इसके समर्थक थे । इससे कैथोलिक पार्टी का विघटन होने की संभावना बढ़ी । जो पोप के निरभ्रातां के सिद्धान्त को अस्वीकार कर रहे थे उन्हें धर्म बहिष्कृत किया जाने लगा विश्वविद्यालयों से उनको निकाला जाने लगा । बिस्मार्क ने कैथोलिक दल की इन चुनौतियों को समझा और वह स्वयं कैथोलिक के विरूद्ध मैदान में उतर आया । 1873 में मई नियम पारित किये गये थे नियम कैथोलिकों के उपर भारी वज़्रपात थे

इनके अनुसार सिविल विवाह को अनिवार्य कर दिया जो व्यक्ति पुजारी बनने के इच्छुक थे उनकी शिक्षा पर राजकीय नियंत्रण स्थापित कर दिया और उनके लिए कुछ राजकीय परीक्षाएं पास करना अनिवार्य कर दिया । किसी को धर्म बहिष्कृत करने का अधिकार नहीं दिया

गया, और यदि केथोलिक चर्च ने किसी व्यक्ति को कुछ दण्ड दिया गया हो तो ऐसे व्यक्ति को अपील का अधिकार दिया । समस्त कैथोलिक संस्थाएं राज्य के नियत्रंण में आ गई और राज्य के अधिकारी उनका निरीक्षण करने लगे । धार्मिक पुजारियों की नियुक्ति या राज्य अधिकार की परिधि में आ गये ।

पोप पायस नवम् ने यह घोषणा का कि मई नियमों का कोई मूल्य ही नहीं है । और उसने रोमन कैथोलिकों को आज्ञा दी कि वे उन नियमों के मानने से इंकार कर दें । बिस्मार्क भी पोप के बिरूद्ध मैदान में डटा रहा ओर उसने कहा "हम केनोसा (Canossa) नहीं जायेंगे और पोप के आगे नही झुकेगे ।" वर्चाऊ (Evirchow) ने कैथोलिकों के विरूद्ध चलने वाले इस सघर्ष नाम कुल्टुर्केम्प (cultureamph) रखा और यह संघर्ष पांच वर्षो तक चला । किन्नु 1878 में पोप पायस नवम् की मृत्यु होने पर लियो त्रयोदश (Leo XIII) नया पोप बना, तो बिस्मार्क ने भी कैथोलिकों के प्रति समझौतावादी और नरम रूख अपनाया । इस संघर्ष से बिस्मार्क को कोई लाभ नहीं हु आ । वास्तव में तो उसकी कठिनाइयों ही । नया पोप लियो त्रयोदश (Leo XIII) अधिक कूटनीतिज्ञ, निपुण और मध्यमार्गी था और वह बिस्मार्क से आधे मार्ग पर समझौता करने के लिए तैयार हो गया । यदपि पोप ने सिद्धान्तों पर समझौता नहीं किया बिस्मार्क ने कैथोलिक विरोधी नियमों को वापस ले लिया । पोप के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध फिर से स्थापित कर लिए और धार्मिक संस्थाओं को फिर से स्थापित होने की अनुमति दे दी ।

जब बिस्मार्क ने इस प्रकार कैथोलिकों के आगे आत्म समर्पण कर दिया तो प्राचीन कैथोलिक की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई । कैथोलिक के साथ बिस्मार्क ने समझौता क्योंकि किया है? इसके कई कारण थे-

17.8.5 फ्रांस में कैथोलिक विरोधी कानून:-

ड्रिफ़्रस काण्ड के फलस्वरूप फ्रांस की गणतंत्रीय शासन और चर्च के बीच संघर्ष उभर आया । वस्तुत: गणतंत्र की स्थापना. से चर्च और राज्य के सम्बन्ध बहु त तनावपूर्ण थे । गेनवेटा ने जोकि एक विख्यात गणतंत्रवादी था । 1870 में कह दिया था कि "पादरी गणतंत्र का शत्रु है" तभी से गणतंत्रवादी चर्च को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे, यदपि 1801 का धार्मिक समझौता अभी भी विद्यमान था, परन्तु अक्सर दोनों ओर से इसकी भावनाओं का उल्लंघन किया जाता था । वार्षिक धनराशि जो चर्च की अवश्यकता के लिये आवंटन की जाती थी वह चर्च की जरूरतों से बहु त कम होती थी और इसकी स्वीकृति भी अनचाही तरीके से भी दी जाती थी । धार्मिक मन्त्रालय में साधारणत: ऐसे लोग होते थे जो चर्च विरोधी होते थे और वे चर्च के कामकाज को इस तरह से रखते थे कि किसी प्रकार से मित्रतापूर्ण नहीं माना जाता था । फिर भी शासन और चर्च दोनों धार्मिक समझौते को बनाये रखने के इच्छुक थे । क्योंकि इस समझौते से चर्च को प्रतिष्ठा मिलती थी । क्योंकि राज्य की ओर से उसको मान्यता प्राप्त थी और थोड़ी बहु त आमदनी राज्य से हो जाती थी । शासन इसलिये समझौते को परस्पर करता था क्योंकि वे इस बात से डरते थे कि एक शस्त्रहीन राज्य में एक शस्त्ररत् चर्च है । इसका अर्थ यह था कि अगर गणतंत्र चर्च को अपने नियंत्रण और निरीक्षण से मुक्त कर दे तो वे

गणतंत्र के लिये बड़ा खतरनाक हो सकता था । फ्रांस के कैथोलिक पादरी आरम्भ से ही राजतंत्र वादियों के समर्थक थे और अपनी पाठशालाओं और अपने धार्मिक उपदेशों में गणतंत्र के आधारभूत सिद्धांतों की आलोचना करते थे चर्च के पास न केवल धार्मिक प्रभाव था बल्कि अपार सम्पत्ति भी थी । अत: वह गणतंत्र का विरोध करने में स्वयं को पर्याप्त शक्तिशाली समझता था । चर्च के व भिक्षुणियों की हजारों संस्थाए थी जो चर्च के पक्ष में प्रचार करती थी बुलंजिस्ट आंदोलन तथा ड्रीफ़्स काण्ड समय मं चर्च ने अपने आर्थिक प्रभाव व प्रचार साधनों का पूरा प्रयोग किया । चर्च का रवैया गणतंत्र के लिये संकटपूर्ण बन गया । राज्य व चर्च में एक अन्तिम संघर्ष स्वाभाविक था । पोप लियो XIII त्रेयोदश द्वारा फैन्च सरकार को प्रारम्भ मे मान्यता नहीं दी थी और जब मान्यता प्रदान की तो भी गणतन्त्र वादियों व पादरी वर्ग के बीच की पारस्परिक घृणा कम नहीं हुई । पोप ने अपने आज्ञा-पत्र 1892 में जारी किये, उसने फ्रांसीसी कैथोलिक पादरियों को याद दिलाया कि चर्च किसी एक प्रचार की शासन पद्धति के प्रति बचनबद्ध नहीं है । और जब एक सरकार गठित हो गई है तो उसे स्वीकार कर लेने की अनुमति नहीं बल्कि उसका कर्तव्य है । उसने गणतंत्र को स्वीकार करने का सुझाव दिया, इस प्रकार वह शासन के कैथोलिक विरोधी भावनाओं को ठण्डा करने की कोशिश करना था । कुछ फ्रांसीसी कैथोलिकों ने पोप के परामर्श को स्वीकार किया और गणतंत्र का समर्थन किया । इस समर्थन को Rattied कहा जाता है और सदन में इस प्रकार का दल बना, वह रेलिस कही जाने लगी लेकिन अधिकांश फ्रांसीसी कैथोलिक राजतंत्र समर्थक ही रहे और उन्होंने राजनैतिक मामलों में हस्तक्षेप करने पर पोप की निन्दा की ।

ड्रीफ्स मामले ने चर्च और गणतन्त्र के लिये एक विकट स्थिति उत्पन्न कर दी क्योंकि कैथोलिक ड्रीफ्स के मामले की पुन: सुनवाई का सक्रिय विरोध कर रहे थे । पहला विरोध भिक्षुओ, भिक्षुणियों ने किया जो ड्रीफ्स के विरूद्ध विशेषतौर से सक्रिय थे भिक्षु और भिक्षुणिए भिक्षा विभाग में काम करते थे । धार्मिक स्कूलों के साथ-साथ सार्वजनिक सरकारी विद्यालय भी कायम किये थे और इस तरह इन दोनों के बीच बहुत द्न्द् चल रहा था । इससे भी गणतत्रंवादी बहुत चिन्तित हुए और उन्होंने यह आरेप लगाया कि धार्मिक विद्यालयों में राजतंत्र समर्थक प्रवेश कर गये हैं । वॉल्डेक रूसों ने 1900 में एक भाषण दिया जिसमें जनमत को बहुत प्रभावित किया इस भाषण में उसने कहा कि परस्पर विरोधी शिक्षा पद्धति के कारण फ्रांसीसी जनता की नैतिक एकता खण्डित हो गई है । एक पद्धति सार्वजनिक विद्यालयों की है जिसमें क्रांति के गणतंत्रीय आदेशों की शिक्षा दी जाती है और दूसरी पद्धति की शिक्षण संस्थाऐं जिन पर चर्च का नियंत्रण है वह राजतंत्रीय पद्धति से प्रभावित है इस तरह की स्थिति असहनीय है । 1901 में सघं कानून (Law of Association) वॉल्डेक रूसों के मंत्रीमण्डल थे ने पास किया और घोषणा कर दी कि कोई भी संस्था चाहे धार्मिक हो या रानीतिक उसे सरकार की स्वीकृति लेना आवश्यक होगा जिस संस्था ने अधिकार पत्र या स्वीकृति पत्र ना लिया हो अथवा जिस संस्था को सरकार ने स्वीकृति पत्र ना दिया हो ऐसी संस्था का कोई सदस्य ना तो कोई शिक्षालय खोल सकता था ना ही शिक्षा का कार्य कर सकता था । इस आज्ञा से बहुत सी धार्मिक संस्थाऐ और लगभग दस हजार धार्मिक विद्यालय बंद हो गये । कैथोलिक पादरियों के हाथ से शिक्षा का नियंत्रण निकल गया ऐसी सभी संस्थाओं की सम्पत्ति और उनके मतों को

जब्त कर लिया गया । ये काम एक ऐसे मंत्री को सौंपा गया जो कट्टर चर्च विरोधी था । और वह कटिबद्ध था कि इस कानून का हर सम्भव तरीके से पालन किया जाए । लगभग हर उस धार्मिक संस्था ने जिसने स्वीकृति पत्र मांगा उसको स्वीकृति नहीं दी गई । बहुत कम संस्थाओं को यह स्वीकृति पत्र प्राप्त हुए । हजारों की संख्या में भिक्षु ओर भिक्षणिया बेघर और असहाय हो गई । 1904 में एक और नियम पारित किया गया जिसके द्वारा धार्मिक शिक्षण संस्थाओं से शिक्षा देने का अधिकार ही छीन लिया । इसके द्वारा यह आज्ञा भी जारी कर दी गई कि धार्मिक संस्थाएं या तो अपनी शिक्षा संस्थाओं को उदार और धर्म निरपेक्ष बनाएं अन्यथा वे अपनी शिक्षण संस्थाओं को तुरंत बन्द कर दे ।

उपरोक्त कठोर कानून शुरूआत की उस महत्वपूर्ण कानून की जिसके अन्तर्गत राज्य को चर्च से पृथक करना था 1 बहुत से गणतंत्रीय समर्थक लोक इस विचारधारा के बन गये थे कि राजय को धार्मिक विश्वासों के मामने में पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए और हर धार्मिक संस्था पर उसकी प्रभुसत्ता होनी चाहिए इसलिए लगभग हर गण्तंत्रीय दल का मोर्चा चर्च को पृथकीकरण था 1902 में चुनाव हुए और इसमें कैथोलिक विरोधियों को बहुमत प्राप्त हुआ चुनाव के बाद शासन ने इस समस्या का स्थाई निदान निकालने का प्रयास किया । एक बिल सदन में रखा गया जिसके अनुसार चर्च और राज्य को अलग-अलग किया गया था । इसको बनाने वाला ब्रियां था जो एक नौजवान समाजवादी नेता था । सदन में धार्मिक नीति पर गरमा-गरम बहस हुई क्योंकि ये एक ऐसा विधेयक था जिससे उस पद्धति का अंत हो रहा था जो फ्रांस में शताब्दियों से चली आ रही थी ।

ब्रियां अपने विधेयक का सबसे बड़ा समर्थक था उसने घोषणा की कि वह हर उस चीज का विरोध करेगा जो बहुत ज्यादा कैथोलिक विरोधी हो और जिसके अन्तर्गत चर्च का ही अन्त कर दिया जाए । उसकी दृष्टि सें "राज्य के सभी धर्मों के मामले में तटस्थ रहना चाहिए ये विधेयक धर्म विरोधी नहीं है, क्योंकि राज्य को ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं ये विधेयक केवल गैर धार्मिक है इसलिए राज्य को ना तो किसी धर्म को सताना चाहिए और ना उसका पक्ष लेना चाहिए । एक दूसरे समाजवादी नेता ने यह घोषणा की कि फ्रांस में धार्मिक शान्ति स्थापित करने का एक ही उपाय है और वह यह कि सभी धार्मिक चिन्ह पूर्णतया नष्ट कर देने चाहिए और राज्य को पूर्णतया धर्म निरपेक्ष बना देना चाहिए । 1801 के धार्मिक समझौते के द्वारा जो सार्वजनिक अधिकार चर्च को मिले हैं वह उससे छीन लेने चाहिए । चर्च समर्थक दल के नेता काऊन्टीमन ने यह कहा कि साधारणतया वह चर्च के प्रथ्थकीकरण का विरोधी है विशेषकर फ्रांस में जहां पर जनता का मिजाज इतिहास ओर परम्पराएं नागरिक और धार्मिक जीवन की एकता के आदर्श पर विश्वास करती हैं । जो विधेयक सदन में रखा गया है वह धर्म और ईसाईयत से घृणा पर आधारित है, इससे नैतिक व्यवस्था में परिवर्तन आऐगा और इससे अन्त में फ्रांस में ईसाईयत का खात्मा हो जाएगा । आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि फ्रांस और पोप के बीच जो धार्मिक समझौता हुआ है उसमें कुछ परिवर्तन किया जाए पोप की अनदेखी करके शासन ने बदले की भावना से कार्य किया है सद्भावना से नहीं उसने विधेयक की निन्दा करते हुए कहा कि एक लूट और अत्याचारी उपाय है । 1905 में ये विधेयक बहुमत से पारित कर दिया गया । इस विधेयक को प्रथक्करण कानून कहा गया । इस कानून द्वारा

1801 का धार्मिक समझौता भंग कर दिया गया । भविष्य में राज्य ना तो किसी धर्म को मान्यता देगा ना अनुदान देगा ना ही बिशपों को मनोनीत करेगा । अब तक फ्रांस में कैथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट और यहूदी चर्च सरकार से अनुदान लेते थे। अब वे स्वयं शासित और आत्मनिर्भर होगें । कहीं गतिरोध पैदा ना हो जाये इसलिए जीवन पेंशन दी गई जिन्होंने चर्च की लम्बी सेवाएं की थी । और कुछ लोगों. को सीमित अवधि के लिए भत्ता दिया गया । चर्च की सम्पत्ति की एक सूची तैयार की गई । और प्रत्येक जिले में उपासना समितियां तैयार की गई जिसमें पादरी सदस्य नही हों सकते थे और धार्मिक संस्थाओं की चल और अचल सम्पति का प्रबन्ध ये उपासना समितियां करती थी । चर्च के भवनों को राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित कर दिया गया किन्तु इनकी देखरेख उपासना समितियों के पास ही रही । चर्च के सभी विशेषाधिकार समाप्त कर दिये गये । किन्तु धार्मिक स्वतंत्रता की पूरी जमानत दी गई ।

चर्च ने सरकार की इस नीति का घोर विरोध किया पोप पायस दसम् ने प्रथ्थकरण कानून को चर्च के अधिकारों का उल्लंघन बताकर फ्रांस की कैथोलिक चर्चो का उसे ठुकरा देने का आदेश दिया । पादरी नये कानून के विरोध में मरने-मारने को उतारू हो गये । दो वर्ष तक फ्रांस में दंगे फसाद होते रहे । सरकार ने दृढ़ता पूर्वक चुनौती का मुकाबला किया राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखी । पोप ने उपासना समितियों में सम्मिलित होने से लोगों को मना किया 1906 में क्लीमेन्सों संसदीय चुनावों के परिणाम स्वरूप प्रधानमंत्री बना इस चुनाव में पादरी प्रथा विरोधियों को पुन: बहुमत प्रदान किया और इस तरह स्पष्ट हो गया कि फ्रांस की अधिकांश जनता राज्य और चर्च के सम्बन्ध विच्छेद के पक्ष में है । नये प्रधानमंत्री ने जो गेम्बेटा का अनुयायी रह चुका था कट्टर चर्च विरोधी था । उसने इस कानून का कठोरता से पालन किया विशेषकर चर्च की सम्पति की सूचियां तैयार करने में । वफादार कैथोलिक की भीड़ चर्चो में जमा हो जाती थी । जिसमें अधिकारियों को चर्च में प्रवेश से रोका जा सके । कई अवसरों पर तो सैना को भी गड़बड़ करने वालों को तितर बितर करने के लिए काम में लिया गया । उपासना समितियां बनाने का समय निकल गया और ऐसा लगने लगा कि कहीं धार्मिक युद्ध ना प्रारम्भ हो जाए किन्तु ऐसा कुछ हुआ नहीं । शासन ने भी चर्चो को बन्द करने की जो धमकी दी थी इस धमकी को क्रियान्वित नहीं किया । क्योंकि इससे शासन अपने आपको अत्याचारी नहीं कहलवाना चाहता था । स्थिति को सुलझाने और कैथोलिकों को शान्त करने के लिए 1907 में एक कानून पारित किया गया जो 1905 के प्रथ्थकीकरण कानून का पूरक था । इसके द्वारा कुछ रियासतें दी गई । जिन जिलों में उपासना समितियां नहीं बनी थी उन जिलों में चर्चो और पादरियों के निवास स्थानों के प्रबंध करने का अधिकार पादरियों को ही दे दिया गया ।

फ्रांस के इतिहास में चर्च और राज्य के संघर्ष के महत्वपूर्ण परिणाम निकले । जिसके फलस्वरूप चर्च और राज्य का पृथ्यकीकरण पूर्ण हो गया फ्रांस का राज्य एक लौकिक राज्य बन गया । चर्च का शिक्षा देने का अधिकार समाप्त हो जाने से पादरियों का राजनैतिक प्रभाव घट गया । गणतंत्रीय फ्रांस में राज धर्म की सरकारी मान्यता की यूरोपियन परंपरा का अन्त कर दिया । फ्रांस के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण धार्मिक क्रांति थी जो चर्च और राज्य दोनों के लिए हितकारी सिद्ध हुई । सरकार को धार्मिक झगड़ों से फुरसत मिल गई और चर्च को भी राज

के निरंतर हस्तक्षेप से मुक्ति मिल गई । अल्पकाल के लिए राज्य और चर्च में तनाव बढ़ा किन्तु अन्त में दोनों की तनातनी कम हों गई और समय के साथ कैथोलिकों ने नवीन व्यवस्था को स्वीकार कर लिया । बहुत से कैथोलिक अब राजतंत्र समर्थक नहीं रहे । और उन्होंने उदारवादी दल का संगठन किया । और इस दल ने गणतंत्र को खुले-आम स्वीकार कर लिया । जब राजतंत्र वादियों को कैथोलिक समर्थन मिलना बंद हो गया तो वे फ्रांस की राजनीति में नग्न हो गये जिनको गणतंत्र वादी लोग से एक थैली की चार गोलियां कहते थे । ये पृथ्यकीकरण स्वेच्छा से नहीं हुआ था और अगणतंत्रीय कानूनों के द्वारा कैथोलिकों की आजादी को सीमित किया गया था । इसलिए ये कानून प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान और बाद में निरस्त कर दिये गये । यही परिस्थितियां युरोप के अन्य कैथोलिक राज्य में भी उत्पन्न हुई थी ।

यघपि चर्च और पोप इनमें पराजित दिखाई देते हैं किन्तु इस पराजय से भी उन्हें काफी लाभ पहुंचा । एक लाभ तो यह था कि पादरी जो अब तक राजनैतिक सत्ता से जुड़े हुए थे वे बन्धन अब ढीले पड़ गये थे । और उदारवादी विचार धाराओं से बड़े पादरियों को जीता नहीं जा सकता था वे इटली में शासन विरोधी बने रहे और फ्रांस में वैध वादी कहलाये । फ्रांस की सरकार ने जब उनको आर्थिक सहायता नहीं दी तो वे गरीब बन गये परन्तु उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली । राष्ट्रीय चर्च का विचार धूमिल हो गया और चर्च समर्थकवाद का जन्म हो गया Ultramonatism पोपाधिकार विधिया की भक्ति बढ़ गई । इटालियन लॉ ऑफ गारन्टीस के द्वारा पोप की सार्वभौम सत्ता को मान्यता दे दी गई और अब पोप एक लौकिक राजा के रूप में पहले से कहीं ज्यादा स्वतंत्र हो गया । पहली बार इतिहास में पोप स्वतंत्रता से कई देशों में बीशप और धार्मिक अधिकारी को चुन सकता था और नियुक्त कर सकता था । गणतंत्रीय अधिकारों का सहारा लेकर अपने भाषणों, प्रकाशनों और संघों की मदद से चर्च अपने हितों की रक्षा कर सकता था अपने पर किये जाने वाले आक्रमणों को रोक सकता था और हर जगह कैथोलिक शक्तियों को संगठित कर सकता था । इस तरह जहां उदारवाद ने चर्च को काफी नुकसान पहुंचाया किन्तु उसी समय उसको यह अवसर भी प्रदान किया कि वह अपनी स्वतंत्रता भी प्राप्त कर सकता है ।

मध्य और दक्षिणी अमेरिका में 19 वीं शताब्दी में नये धार्मिक समझौते हुए जिनके अन्तर्गत कैथोलिक धर्म को ना केवल राजधर्म ही घोषित किया गया और अन्य धर्मो को अवैध घोषित कर दिया गया बल्कि चर्च को शिक्षा पर पूर्ण नियंत्रण और प्रेस सेंसरिशिप और कई धार्मिक सुविधाएं प्राप्त हुई । राज की ओर से वित्तीय सहायता भी प्रदान की गई । इसके बदले में हर गणतंत्र के राष्ट्रपति को रिक्त बीशप के पदों पर अपनी तरफ से मनोनीत करने का अधिकार प्राप्त हुआ । ये धार्मिक समझौते ज्यादा समय तक नहीं चल सके और ना ही वहां की सरकारों ने उनको सम्मान दिया क्योंकि इन देशों में एक के बाद एक तानाशाही स्थापित हुई । इसलिए वर्तमान में इन राज्यों में धार्मिक स्वतंत्रता और धार्मिक सहिष्णुता की संविधान में जमानत दे दी गई है । किन्तु फिर भी कैथोलिक चर्च को विशेष सुविधाऐं प्राप्त धार्मिक समझौतों का सारा इतिहास समझौते का इतिहास है । इसकी शुरूआत सर्वप्रथम 1887 में पोप ल्यू तेरहवे ने अपने धर्म आज्ञाओं से प्रारम्भ की थी जिसके अन्तर्गत उसने चर्च को यह

सिखाया कि उसको हर राज्य को मान्यता देनी चाहिए और सम्मान देना चाहिए चाहे उसका स्वरूप कुछ भी क्यों ना हो । शर्त ये कि राज्य भी चर्च को मान्यता दे और उसको सम्मान दे।

17.8.6

आधुनिक युग में चर्च सभी धर्मो और सम्प्रदायों के प्रति उदासीन (Indifferent) रहता है शर्त है कि ये धर्म सम्प्रदाय कानूनों का सम्मान करे । चर्च गणतंत्रीय राज्य के प्रति उदासीन (Indifferent) रहता था । पोप ने इसका विरोध किया और यह कहा कि राज्य का स्वरूप कुछ भी हो । चाहे वह राजतंत्र हो या गणतंत्र हो रूढ़िवादी हो, शर्त ये हैं कि ये राज्य चर्च की स्वतंत्रता और बिशेषाधिकारों की जमानत दे । इस शिक्षा के कारण कैथोलिक पार्टियों का गठन हुआ ।

पायस ग्यारहवें (1922- 1939) के समय में आधुनिक युग में बहुत धार्मिक समझौते हुए। पौलेण्ड ने 1925 में, इटली ने 1929 में, आस्ट्रीया ने 1934 में, धार्मिक समझौते किये । जब ये समझौते कैथोलिक राष्ट्रों के साथ किये गये तो कैथोलिक धर्म को राजधर्म स्वीकार किया गया । किंतु अन्य धर्मो और सम्प्रदायों के प्रति सहष्णुता बरतने, के लिए कहा गया । सार्वजनिक स्कूलों में धार्मिक शिक्षा चर्च के अधीन अनिवार्य घोषित की गई ।

इसके अलावा जो विवाह विवादास्पद हो और तलाक संबंधी मामले से सबंधित हो उसके निर्णय का अधिकार चर्च को दिया गया । राज्य ने इस बात की जिम्मेदारी ली कि वह पादरियों ओर धार्मिक संस्थाओं को पूर्णतया या आंशिक सहायता प्रदान करेगे । इसके बदले में सभी पादरी सरकार के प्रति वफादारी की शपथ लेगें और सभी पादरियों को राजनीति में सक्रिय भाग लेने के लिए मनाकर दिया गया । इन समझौतों की सबसे विशेष बात यह थी कि पुराने समझौतों के विपरीत अब कोई भी राजा या हैड ऑफ स्टेट Head of State बीशप या किसी धार्मिक पद पर अनी ओर से किसी को मनोनीत नहीं करेगा । पोप ने इसके बदले में यह सुविधा थी वह नियुक्ति करने से पूर्व संबंधित राज्यों को नियुक्ति की सूचना दे देगा ओर यदि राजनैतिक आधार पर कोई आपत्ति हो तो उसको व्यक्त करने का अवसर मिल सकता था ।

अकैथोलिक राज्यों के साथ जो समझौते किये गये उसमें कैथोलिकों को उनकी संस्थाओं को और स्कूलों को पूर्ण स्वतंत्रता की जमानत दी गई । सार्वजनिक सेवाओं से पादरियों को मुक्त रखा गया । किसी-किसी राज्य में चर्चो को आर्थिक सहायता भी प्रदान की गई ।

ये मध्य युग से अब तक किये जाने वाले समझौतों में सबसे महत्वपूर्ण समझौते थे और चर्च के हित में सबसे ज्यादा थे । कोई भी आधुनिक गणतंत्रीय शासन इन तमाम धाराओं को अपने संविधान के मूलभूत सिद्वांतों का उल्लंघन करके स्वीकार नहीं कर सकता था । किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध से पहले जहां-जहां भी तानाशाह थे । उन्होंने ये धार्मिक समझौते किये और उन्होंने अपने राज्य संविधान की धज्जियां उड़ाई क्योंकि वे तानाशाह बने रहने के लिए चर्च का पूरा-पूरा समर्थन प्राप्त करना चाहते थे द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लगभग सारे धार्मिक समझौते रद्दी के टोकरे में डाल दिये गये । पायस ग्यारहवें के द्वारा किये गये समझौते में से केवल एक ही समझौता जीवित रहा जो 1929 में उसने फासिस्ट इटली के साथ किया था । जिसके अन्तर्गत पोप को वेटिकन सिटी का शासक मान लिया गया था ।

अमेरिका ने अपने संघीय संविधान में एक संशोधन किया वह संशोधन यह है कि कांग्रेस कोई ऐसा कानून नहीं बना सकती जिसके अन्तर्गत किसी धर्म को स्थापित किया जाए अथवा धर्म के पालन करने की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया जाए । इस संशोधन को लेकर काफी विवाद उत्पन्न हुआ एक मान्यता तो यह है कि इससे चर्च और राज्य अलग-अलग हो गये । इसके विपरीत एक व्याख्या यह है कि शासन को मनाकर दिया गया कि कांग्रेस धर्म के मामले में किसी एक धर्म को दूसरे पर प्राथमिकता नहीं देगी । वर्तमान में धार्मिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त को संसार के सभी संविधानों में मान्यता दे दी गई है । किन्तु अब यह देखने में आ रहा है कि चर्च और राज्य के बीच नये गठबंधन की शक्तिशाली विचारधारा पनप रही है । जिसमें एक तरफ तख्त होगा तो दूसरी तरफ ऑल्टर वेदी चाहे अब तख्त के स्थान पर गणतंत्र की आरामदेह कुर्सी ही क्यों ना हो।

17.9 बोध प्रश्न

(1) चर्च ओर राज्य के सम्बन्धों को कितने चरणों में विभाजित किया जा सकता है? उनमें से एक चरण की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।

(2) पोप गिरिगोरी के चर्च और राज्य सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट कीजिए ।

(3) कांग्रेस ऑफ वियना के पश्चात् चर्च का प्रभाव कैसे व क्यों बढ़ा?

(4) चर्च के सम्बन्ध में नैपोलियन की क्या नीति थी और जो नीति उसने अपनाई उसके क्या परिणाम निकले?

(5) बिस्मार्क के सभ्यता के संघर्ष से आप क्या समझते हैं? विस्तार से समझाईये ।

(6) 1870 के पश्चात् चर्च ओर राज्य के सम्बन्धों की केन्द्र बिन्दू शिक्षण संस्थाएं थीं । स्पष्ट कीजिए ।

(7) यूरोप में धर्म निरपेक्षता का सिद्धांत किस प्रकार विकसित हुआ? भारत के धर्म निरपेक्षता के सिद्धांत से उसकी तुलना कीजिये ।

17.9.1 संदर्भ ग्रंथ

1. Brogan: Modern France.
2. Swain: Story of Civilization.
3. Lucas: History of Civilization.
4. Collior’s Encyclopaedia.
5. David Thomson: Europe Since Napoleon.
6. Schapiro: Modern & contemporary European History.
7. Hugh Thomas: An unfinished History of the world.
8. C.J. Hayes: Modern Europe to 1870.

इकाई- 18

टर्की में समाज सुधार व युवातुर्क आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 टर्की में सुधार योजना

18.2.1 सुल्तान अब्दुल मजीद (1839-1861) और आन्तरिक सुधार कार्य

18.2.2 टर्की यूनान संघर्ष का प्रभाव

18.2.3 जर्मन प्रभाव में वृद्धि

18.2.4 मैसीडोनिया में सुधारों की समस्या

18.3 युवा तुर्क क्रान्ति जुलाई 1908.

18.3.1 आन्दोलन के कारण

18.3.1 अब्दुल हमीद का निरंकुश शासन 1873-1909.

18.3.2 यूनानी स्वतंत्रता संग्राम का प्रभाव

18.3.3 यूरोपीय राष्ट्रीयता का प्रभाव

18.3.4 अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का प्रभाव

18.3.5 युरोपीय राष्ट्रों का दृष्टिकोण

18.3.6 साहित्य का योगदान

18.3.7 राष्ट्रवादी नेताओं का योगदान

18.3.8 समितियों व संस्थाओं का गठन

18.4 आन्दोलन के उद्देश्य

18.5 घटनाकम

18.6 युवा तुर्को की समस्याएं

18.7 युवा तुर्क सुधार कार्य

18.7.1 जातिय संगठनों को अवैधकरार

18.7.2 व्रहत् आटोमन वाद

18.7.3 वृहत् मुस्लिम वाद

18.7.4 वृहत् तुर्कवाद

18.7.5 अन्य महत्वपूर्ण कार्य

18.8 युवातुर्क आन्दोलन एवं विश्व

18.9 असफलता के कारण

18.9.1 नीतियों के सुदढ़ता का अभाव

18.9.2 प्रशासन की अनुभवहीनता

18.10 तुर्कीकरण की नीति का प्रभाव
18.10.1 विश्व राजनीति का प्रभाव
18.10.2 प्रभाव
18.10.3 टर्की में प्रजातंत्र का आरम्भ
18.10.4 सेवा में सुधार वादी दृष्टिकोण
18.10.5 जातिगत वैमनस्यता को प्रोत्साहन
18.10.6 अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव
18.11 आन्दोलन के बाद टर्की
18.12 सारांश
18.13 अभ्यास के लिये प्रश्न
18.14 संदर्भ ग्रन्थ

18.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप:-

1. आटोमन साम्राज्य के उदय के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करेंगें ।
2. टर्की साम्राज्य के क्षेत्रीय विस्तार के बारे में जान पायेंगे ।
3. टर्की के सुधार कार्यकमों के बारे में जानकारी करेंगे ।
4. टर्की युनान संघर्ष, जर्मन प्रभाव में वृद्धि एवं मैसीडोनिया सुधार कार्यकम की जानकारी कर सकेंगे ।
5. टर्की सुल्तान की गैर मुस्लिमों के प्रति कठोर नीति का विश्लेषण कर सकेंगे ।
6. युवा तुर्क आन्दोलन की पृष्टभूमि जान सकेंगे ।
7. युवा तुर्क आन्दोलन (1908) के कारणों का विश्लेषण कर सकेंगे ।
8. युवा तुर्क आन्दोलन के घटनाक्रम, असफलता के कारण व उसके प्रभावों का विश्लेषण कर सकेंगे ।

18.1 प्रस्तावना

चौदहवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में एक तुर्क जाति में आटोमन या ओसमान के नेतृत्व में तुर्की या टर्की साम्राज्य की नींव रखी । उसी के नाम पर इस साम्राज्य को आटोमन साम्राज्य" भी कहा जाता है । 1453 ई. तक तुर्की ने एशिया माइनर डार्डीनल सम्पूर्ण बाल्कन प्रदेश और कुस्तुतुनिया पर अधिकार कर लिया । शीघ्र ही टर्की साम्राज्य अरेबिया तथा मिश्र तक फैल गया। उत्तरी अफ्रीका के अनेक क्षेत्र इस साम्राज्य के अन्तर्गत आ गये । टर्की में ऐसे विशाल साम्राज्य की स्थापना हो गयी जो तीन महा द्वीपों एशिया यूरोप और अफ्रीका में फैला हुआ था। एशिया में मैसोपोटामिया, ईरान और अरब देशों में टर्की का राज्य था । पूर्वी यूरोप के बोसनिया, सर्बिया, यूनान, रोमानिया बलगेरिया आदि क्षेत्र इस साम्राज्य में थे । यूरोप के इस भू-भाग को बाल्कन कहा जाता है । जिसका विस्तृत उल्ले इकाई सं. 27 में हैं । अफ्रीका में मिश्र टर्की के साम्राज्य में सम्मिलित था । टर्की अपने इस विशाल साम्राज्य की रक्षा नहीं कर

सका और 19 वी शताब्दी के उर्द्ध में इसका पतन होने लगा । बार-बार यूरोपीय देशों ने टर्की को बचाने का प्रयास किया । टर्की के अस्तित्व की सुरक्षा के लिये 1908 में युवा तुर्क आन्दोलन हु आ लेकिन वह भी अन्ततः असफल रहा ।

18.2 टर्की में सुधार योजना:-

18.2.1 सुल्तान अब्दुल मजीद (1839-1861) और आन्तरिक सुधार कार्य-

15 जुलाई 1840 को ब्रिटिश विदेश मंत्री लार्ड पामर्स्टन ने टर्की पर फ्रांस व रूसीप्रभाव को रोकने के उद्देश्य से लन्दन में एक सम्मेलन बुलाया जिसमें इंग्लैण्ड रूस प्रशा व आस्ट्रिया ने भाग लिया । इस सम्मेलन का मुद्दा मिश्र के पाशा मेहमत अली की समस्या रही जिसने असन्तुष्ट होकर टर्की के विरूद्ध विद्रोह कर दिया था । चारों राज्यों ने सामूहिक रूप से टर्की की सुरक्षा का आश्वासन दिया ।

मेहमत अली द्वारा लन्दन सम्मेलन की शर्ते स्वीकार नहीं की गयी चारो राष्ट्रों ने टर्की के समर्थल में मेहमत अली के विरूद्ध सैनिक कार्यवाही की । मेहमत अली को मिश्र राष्ट्रों के प्रस्ताव स्वीकार करने पड़े । सीरिया व क्रीट पुन: टर्की को प्राप्त हो गये । जुलाई 1841 में लन्दन में दूसरा सम्मेलन आयोजित किया गया । जिससे इंग्लैण्ड आस्ट्रिया रूस ने प्रशा ने भाग लिया । इस समझौते बाद 10 वर्षों तक टर्की में शान्ति बनी रही ।

1840-411 की घटनाओं के परिणाम टर्की के लिये महत्वपूर्ण साबित हु ये । इस समय यूरोप के राष्ट्रों ने तुर्की सम्रिाज्य को अक्षुष्ण बनाये रखना स्वीकार किया । मेहमत अली ने यूरोपीय राजनीति से सन्यास ले लिया । उसकी सारी महत्वाकाक्षाएं समाप्त हो गई । टर्की के सुल्तान अब्दुल मजीद जो कि अपने पिता महमूद की मृत्यु के बाद 1837 में सुल्तान बना था, ने आन्तरिक सुधारों की ओर ध्यान दिया । 1841 से 1851 तक पूर्व में शान्ति बनी रही । निकट पूर्व में पामर्स्टन की नीति पूर्णतया सफल रही ।

सुल्तान अब्दुल हमीद ने अनुकूल परिस्थितियों का लाभ उठाकर सुधार के समर्थक रशीद पाशा की सलाह से सुधारों की एक वृहत् योजना बनायी और उसकी क्रियान्विति आरम्भ कर दी । सुल्तान ने सैनिक क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र, स्थानीय शासन और शिक्षा के क्षेत्र में सुधार कार्य किये । लेकिन इसमें सुलान को सफलता नहीं मिली । जब सुल्तान ने धार्मिक पक्ष पात्र को समाप्त करके सभी धर्मों के मानने वालों को समान अवसर देने का निर्णय किया तो कट्टर पंथी मौलवियों और उलेमाओं ने कड़ी आलोचना करनी आरम्भ कर दी । इतिहासकार मेरियट लिखते हैं "ऐसे वातावरण में तुर्की के साम्राज्य में रहने वालों कैमोलिकों, ग्रीक वर्ग के अनुयायियों एवं मुसलमानों में पारस्परिक कटुता बढ़ता स्वाभाविक था" ("दी ईस्टर्न क्वश्चन") रूढ़िवादियों के विरोध के कारण सुल्तान की सुधार योजनाएं सफल नहीं हो सकी और प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार पहले की तरह बना रहा । इससे जार को यह विश्वास हो गया कि "टर्की मरणासन्न है"

18.2.2 टर्की यूनान संघर्ष का प्रभाव:-

1897 में क्रीट को लेकर यूनान व टर्की के मध्य संघर्ष हुआ। बड़े राज्यों के हस्तक्षेप से 19 मई 1897 में युद्ध विराम की घोषणा हो गयी । इसके बाद ब्रिटिश प्रधान मंत्री सैलिसबरी ने रूस फ्रांस और इटली के सहयोग से संधि की शर्तें निश्चित की और तुर्की के सुल्तान को उन्हें मानने के लिए विवश किया । 4 दिसम्बर 1987 को कांसटेन्टीनोपोल में संधि पर हस्ताक्षर हुये। इसके अनुसार यूनान ने टर्की को 40 लाख रूपये युद्ध का हर्जाना देने का वचन दिया । थैसेली में अतिरिक्त भू-भाग तुर्की को नहीं मिला । परन्तु यूनान की क्रीट को सम्मिलित करने की महत्वाकांक्षा अधूरी रह गई । यूरोपीय राज्यों ने क्रीट की व्यवस्था अपने हाथ में ले ली । इस युद्ध में टर्की सेनाओं की विजय का यूरोप पर प्रभाव पड़ा । इससे बाल्कन राज्यों को मेसीडोनिया पर अधिकर करने का विचार कुछ समय तक स्थगित करना पड़ा । प्रो. लेंगर के अनुसार- "यूरोपीय राज्यों के समक्ष यह बात स्पष्ट हो गयी कि टर्की उतना निर्बल नहीं है, जितना कि उनका अनुमान था और निकट भविष्य में उसके विघटित होने की कोई सम्भावना नहीं थी"

18.2.3 जर्मन प्रस्ताव में वृद्धि

जर्मनी में कैसर विलियम द्वितीय के राज्यारोहण के बाद से ही 1889 से टर्की साम्राज्य में जर्मनी का प्रभाव बढ़ने लगा । 1889 में महारानी सहित सम्राट ने टर्की की यात्रा की । टर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद ने उसका भव्य स्वागत किया । जर्मनी ने टर्की में व्यापार का प्रसार आरम्भ किया । जर्मन ड्यूत्स बैंक की एक शाखा कान्सटेन्टीनौपाल में स्थापित की । जर्मन पूंजीपतियों ने सुल्तान को कर्ज देकर हैदर पाशा से हस्मिद तक रेलें चलाने का अधिकार ले लिया । अंगारातक नई रेल लाईन तथा एस्की शहर से कोनिया तक रेल लाइन का अधिकार प्राप्त कर लिया ।

8 नवम्बर 1898 में विलियम केसर ने दमिश्क में अपने भाषण में कहा "मैं सुल्तान अब्दुल हमीद और 30 करोड़ मुसलमानों को जो उसे अपना खलीफा मानते हैं जर्मन का सुल्तान सदैव उनका मित्र बना रहेगा । (मैरयिट- दी ईस्टर्न क्वश्चन) 1902 में जर्मन कम्पनी "बगदाद रेलवे कम्पनी" ने सुल्तान से अनुबन्ध किया जिसके अनुसार उसे कोनिआ से अदाना, मोसुल और बगदाद होकर बसरा तक रेलवे लाइन का अधिकार दिया गया । इस रेलवे कम्पनी ने योजना की क्रियान्विति के लिये इंग्लैण्ड फ्रांस व टर्की से ऋण लेने का निश्चय किया । ऋण के बदले इंग्लैण्ड व फ्रांस के प्रतिनिधियों को रेलवे कम्पनी के संचालन मंडल में सम्मिलित करने का प्रावधान किया गया" ("बैन्स यूरोपीयन हिस्ट्री सि सं. 1870)

लेकिन ब्रिटेन फ्रांस व रूस तीनों ने इसका समर्थन नहीं किया और न ही क्रय की अनुमति दी । अत: 1908 में कम्पनी ने बगदाद से फारस की खाड़ी तक रेलवे लाइन बनाने की योजना त्याग दी । बगदाद रेल योजना से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि हुई ।

18.2.3 मैसीडोनिया में सुधारों की समस्या

यह ऐसा देश था जहां पर टर्की के आधिपत्य में तुर्क, बस्गर, यूनानी, अल्बानिया और यहूदी एक साथ रहते थे । अत: यहां पर सभी देश अपना प्रभाव बनाये रखना चाहते थे । बल्गेरिया यहां पर स्वायत्त शासन का अधिकार चाहता था ।

टर्की शासन में यहां की दशा दयनीय थी । अधिकारी यहां के ईसाइयों का शोषण करते थे और उन्हें उत्पीडित करते थे । बर्लिन कांग्रेस में टर्की ने मेसीडोनिया की दशा सुधारना का वर्णन दिया था परन्तु उसने कोई सुधार नहीं किये । इससे मैसीडोनिया में टर्की के विरूद्ध असंतोष बढ़ने लगा । बल्गेरिया ने इस असंतोष को प्रोत्साहित किया । टर्की में विरोध के लिए कई गुप्त समितियां बनी व 1893-95 में विद्रोह भी किये जो दबा दिये गए । 1899 ई0 में मैसोडोनियां समिति ने जिसका मुख्यालय बल्गेरिया में था, स्वायत्ता की मांग की लेकिन बड़े राष्ट्रों ने इस ओर ध्यान नही दिया ।

1900-1903 तक मैसीडोनिया में कई स्थानों पर विद्रोह हुए सुल्तान अब्दुल हमीद चिन्तित हुआ और सुधारों के लिए एक योजना तैयार की । लेकिन 1903 में मैसीडोनियनों ने आटोमन बैंक ध्वस्त कर दिया ओर कई व्यापारिक जहाजों को बम से उड़ा दिया गया । इससे यूरोपीयन राज्यों की सहानुभूति उनके प्रति नहीं रही । सुल्तान ने अवसर का लाभ उठाकर सेनाएं भेजकर अत्याचार पूर्ण तरीके से विद्रोह का दमन कर दिया । बल्गारिया ने बड़े राज्यों से मैसीडोनिया में हस्तक्षेप की मांग की आस्ट्रिया व रूस के सम्राट वियना के निकट मर्जास्तेग महल में मिले और मैसीडोनिया समस्या के समाधान के लिये एक सम्मिलित योजना तैयार की जिसे "मर्जास्तोग का कार्यक्रम" कहा जाता है । इस योजना के सुझाव निम्नलिखित थे ।

1. मैसीडोनिया में टर्की के इन्सपेक्टर जनरल के साथ आस्ट्रिया व रूस के प्रतिनिधि मिलकर ईसाईयों की कठिनाइयों की ओर सुल्तान का ध्यान आकर्षित करें । मैसीडोनिया में पुन: शान्ति व व्यवस्था स्थापित कर सुधार कार्यक्रमों की क्रियान्विति करें ।
2. विदेशी सेना नायकों व विदेशी अधिकारियों के अधीन पुलिस व्यवस्था का पुन: गठन किया जाए ।
3. मैसीडोनिया का प्रशासनिक व न्यायिक संस्थाओं का पुन: गठन किया जाए व प्रशासकीय इकाइयों का पुन: विभाजन किया जाए ।
4. ईसाईयों व मसलमानों की मिली जुली समितियां 1903 के विद्रोह के अपराधों की जांच करें और जलाये गये ग्रामों का एक वर्ष का कर माफ कर दिया जावे ।
5. टर्की के सुल्तान को प्रस्तावित सुधारों को यथा शीघ्र कार्यान्वित करना चाहिये । जी.पी.गूच" हिस्टी ऑफ मार्डन युरोप पृ. 337)

आस्ट्रिया व रूस के दबाब के कारण सुलान ने मर्जस्तेग योजना स्वीकार कर ली परन्तु यह योजना सफल नहीं हो सकी । 1905 में ब्रिटेन फ्रांस आस्ट्रिया व इटली ने मिलकर मैसीडोनिया में एक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त आयोज की नियुक्ति करायी गयी जिसमें टर्की के इन्सपेक्टर जनरल के अलावा सभी प्रतिनिधि सम्मिलित किये गये । लेकिन सुल्तान ने बड़ी

शक्तियों की योजना की क्रियान्विति न होने के लिये हर सम्भव प्रयास किया । युवा तुर्क क्रान्ति के बाद नयी समस्या उत्पन्न हो गयी और मैसीडोनिया की ओर से ध्यान हट गया ।

18.3 युवा तुर्क क्रान्ति- जुलाई 1908

19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विशाल टर्की साम्राज्य कमजोर होने लगा था टर्की की अव्यवस्था का लाभ रूस उठाना चाहता था । वह टर्की को बीमार राज्यों समझता था । रूस के जार अलेक्लेण्डर द्वितीय ने इंग्लैण्ड को इस प्रकार लिखा था- "हमारे हाथ में एक बीमार व्यक्ति है जो अत्यन्त बीमार है । मैं तुम्हें बताना चाहता हूं कि हमारा बहुत बड़ा दुर्भाग्य होगा यदि वह हमारे द्वारा बिना प्रबन्ध किये हमारे हाथ से निकल गया ।

टर्की की गिरती हुई स्थिति से यहां का एक वर्ग चिन्तित होने लगा । 1873 ई0 में अब्दुल हमीद द्वितीय टर्की का सुल्तान बना । 1876 में इसने जनता को एक उदार संविधान प्रदान किया । लेकिन प्रतिक्रिया वादियों द्वारा विरोध किये जाने के कारण संविधान वापिस ले लिया । टर्की की स्थिति धीरे-धीरे इतनी दयनीय हो गयी कि वहां सुधार की आवश्यकता महसूस की जाने लगी पूर्व में तंजीमान सुधार काल में टर्की में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ । मुराद पंवम भी स्थिति सम्भालने में असफल रहा । अब्दुल हमीद के शासनकाल में व्यवस्था के विरोध में टर्की के युवकों द्वारा आन्दोलन हुआ जो कि युवा तुर्क आन्दोलन के नाम से जाना जाता है । हेजन ने लिखा है "1908 ई. की ग्रीष्म में पूर्वी समस्या ने एक नया व विस्मयकारी रूप धारण कर लिया" व्राइने ने लिखा- "क्रान्तिकारी दल का "वास्तविक नाम एकता व प्रगति समिति "इतिहाद-ए-तरक्की" था । इसके सदस्य अपने आपको युवा तुर्क पुकारते थे अत: इसे युवा तुर्क आन्दोलनके नाम से जाना जाता है' (आटोमन एम्पायर इट्स रिकार्ड एण्ड लीजेसी)

18.3.1 आन्दोलन के कारण:-

18.3.1 अब्दुल हमीद का निरंकुश शासन- 1873-1909:- 1876 में सुल्तान हमीद ने उदारवादी संविधान को प्रतिक्रियावादियों के विरोध के कारण वापिस ले लिया । उसके बाद वह अधिक निरकुंश व स्वेच्छाचारी हो गया । उसने संसद को भंग कर मन्त्रियों को उनके अधिकारों से वंचित कर दिया । उदारवादी नेता मिद्दत पाशा को सुल्तान अजीज की हत्या के जुर्म में फाँसी की सजा दे दी । किन्तु इंग्लैण्ड व फ्रांसीसी दवाब के कारण सुल्तान को यह दण्ड वापिस लेना पड़ा । परन्तु मिद्दम पाशा की हस्या करवा दी गयी । क्रान्तिकारी भावना को प्रोत्साहित करने वाले साहित्य पर टर्की में आने पर प्रतिबन्ध लगा दिया । लेखन, व प्रकाशन पर सरकारी नियन्त्रण कठोर कर दिया । प्रेस पर प्रतिबन्ध लगाते हुए स्वतंत्रता एवं संविधान जैसे शब्दों पर प्रतिबन्ध लगा दिया । हमीद ने सूचनाएं एकत्र करने के लिये 40 हजार गुप्तचरों का जाल बिछा रखा था, जो सदैव तुर्की में घूमा करते थे । सुल्तान के "पान इस्लामिज्म प्रचारक" प्रभावशाली व्यक्तियों की हत्या में महत्वपूर्ण भूमिका थी ।

अब्दुल हमीद की इस निरंकुशता नें जन साधारण को हिला कर रख दिया । खिन्न होकर उदारवादी वर्ग सुधार कार्यों पर विशेष ध्यान देने लगे । वे टर्की की वैधानिक प्रगति

देखना चाहते थे । तुर्की से निर्वासित उदारवादियों ने जेनेवा में 1890 में एकता की प्रगति समिति का गठन किया ।

18.3.2 यूनानी स्वतंत्रता संग्राम का प्रभाव

यूनान के स्वतंत्रता संग्राम की सफलता अपने राज्य में सुधार व प्रतिष्ठा की पुन: स्थापना के उद्देश्य से एक समिति बनायी थी । उस समय टर्की के सेनापति खलील पाशा ने कहा था - "मुझे विश्वास हैं कि हम शीघ्र ही यूरोपीय ढंग से सुधार नहीं करते तो हमें एशिया में वापस जाने के लिये तैयार रहना चाहिये" ।

(मेरियट - "ईस्टर्न क्वश्चन" यही शब्द युवा तुर्क आन्दोलन की उप्तत्ति के मूल स्रोत थे।

18.3.3 यूरोपीय राष्ट्रीयता का प्रभाव

इस समय सम्पूर्ण यूरोप में राष्ट्रीयता की लहर चल रही थी । 1830-48 की क्रान्तियां हुई, 1870 में जर्मनी व इटली का एकीकरण हुआ । इन घटनाओं ने टर्की के युवा वर्ग को प्रोत्साहित किया ।

18.3.4 अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का प्रभाव-

1877 में रूस टर्की युद्ध में टर्की की पराजय हुई थी । मार्च 1878 में सेनस्टीफेनों की संधि के द्वारा रूस ने टर्की को अपना संरक्षित राज्य की तरह बना दिया था । उसे अपने विशाल साम्राज्य के बहुत बड़े भू-भाग से वंचित होना पड़ा । 1878 की जार्ज ने संधि के द्वारा यधपि रूस के लाभों को कम कर दिया था । परन्तु उससे टर्की का विघटन कम नहीं हुआ था । इससे टर्की में असंतोष उत्पन्न हुआ । अत: राष्ट्रीवादी नेताओं ने टर्की की गिरती हुई स्थिति को उभारने के लिये हमीद के निरंकुश शासन की समाप्ति करना चाहते थे ।

18.3.5 यूरोपीय राष्ट्रों का दृष्टिकोण:-

यूरोप की महान शक्तियों ने टर्की को बीमार राज्य मानकर अपने हितों के संवर्द्धन के लिये टर्की का शोषण किया । आस्ट्रिया, जर्मनी एवं इंग्लैण्ड ने टर्की में हस्तक्षेप करके अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयास किया । यह हस्तक्षेप उतना बढ़ गया कि बर्लिन संधि में यूरोपीय राष्ट्रों ने टर्की के भाग्य का निर्णय किया । और टर्की ने उसे स्वीकार भी किया । टर्की के उदारवादी नेता इस विदेशी प्रभाव की समाप्ति चाहते थे ।

18.3.6 साहित्य का योगदान

यूरोप के राष्ट्रवादी साहित्य का भी टर्की के युवा वर्ग पर प्रभाव पड़ा । टर्की से प्रकाशित समाचार-पत्रों में मेशवर्त मीजान एवं तरक्की जैसे समाचार पत्रों एवं प्रकाशनों ने युवा तुर्क आन्दोलन की पृष्ठ भूमि तैयार करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

18.3.7 राष्ट्रवादी नेताओं का योगदान

युवा तुर्क आटोमान साम्राज्य को नवजीवन प्रदान करके पश्चिमी ढंग पर उसका पुन: गठन करना चाहते थे । वे टर्की में संसदीय संविधान, बौद्धिक एवं धार्मिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त की घोषणा और प्रेस की स्वतंत्रता की स्थापना करना चाहते थे । इसके साथ ही वे शिक्षा का प्रसार, व्यापार वाणिज्य का प्रसार, व मध्यकालीन कुरीतियों का उन्मूलन करने के इच्छुक थे । प्रमुख राष्ट्रवादी नेताओं ने अहमद रिजा मुरादवे आगस्ट कॉम्स, कमाल, इब्राहीम तेमों, इमिल दुरवाइम, हेनरी वर्गसन सहबाहलद्दीन विशेष उल्लेखनीय हैं ।

18.3.8 समितियों व संस्थाओं का कठन

टर्की के उदारवादी इस तथ्य से भलिभांति परिचित थे कि उन्हें सुल्तान अब्दुल हमीद के निरकुंश शासन को समाप्त करना है तो संगठित होना आवश्यक है । युवक तुर्को ने टर्की साम्राज्य के विभिन्न भागों में गुप्त समितियां स्थापित कर अपने कार्यक्रम का प्रचार किया ।

(I) एकता व प्रगति समिति:- टर्की के निर्वासित देश भक्तों ने टर्की के बाहर रहकर ही स्वयं को संगठित करना आरम्भ कर दिया । 1889 में इस्तामबूले नामक स्थान पर इम्पीरियल मिलिटरी व कालेज में इब्राहिम तेमों के नेतृत्व में एक गुप्त समिति का गठन किया जो एकता व प्रगति समिति के नाम से जानी जाती है । इसका कार्यालय जेनोवा में रख गया । टर्की के निर्वासित देश भक्तों ने जेनोवा या पैरिस जाकर समाचार पत्रों व पत्रिकाओं के मासध्यम से “टर्की को पतन के बचाने” का प्रचार आरम्भ कर दिया । अहमतद रिजा मुरादवे को समिति का सभापति बनाया गया । 1898 में सुल्तान हमीद की समाप्ति हेतु एक प्रस्ताव पारित किया गया । सुल्तान ने सुधार योजना का आश्वासन देकर मुदरादवे को इसताम्बूल बुलाकर कैद कर लिया इससे समिति को थोड़ा आघात लगा लेकिन तुर्की नेतृत्व कर्ताओं ने अपने को कमजोर नहीं होने दिया ।

(II) ओस्मानली- यह समिति भी 1897 टर्की में बाहर जेनोवा में गठित की गयी थी । 1902 में आटोमन साम्राज्य के उदारवादियों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया । इस सम्मेलन में अरब, यूनानी, आर्मेनियन व तुर्क आदि ने मिलकर एक संघ बनाने का प्रयास किया जिसका मुख्य उद्देश्य 1876 के संविधान को क्रियान्विति करना था ।

(III)टर्की में गठित संस्थाएं:- अब तक उदारवादियो द्‌वारा टर्की के बाहर संगठन बनाये जा रहे थे । टर्की साम्राज्य के भीतर क्रान्ति का वातावरण बनाना जरूरी था । मुस्तफा कमाल ने दमिशक में ‘वतन” नामक क्रान्ति कारी संस्थान का गठन किया और सैलोनिका में इसकी विभिन्न शाखाए खोली गयी ।

सैलोनिका सेना की तीसरी कोर ने इससे प्रोत्साहित होकर “ओसमाली हू रियत जामियत” नामक दल की स्थापना की ।

कालान्तर में इन सभी संगठनों को मिला दिया गया व एकता व प्रगति संगठन को मजबूत किया और पैरिस के क्रान्तिकारी कार्यवाही की जाने लगी ।

18.4 आन्दोलन के उद्देश्य

युवा तुर्की के दो प्रमुख उद्देश्य थे:-

(I) वे टर्की को लोकतांत्रिक ढंग पर गठित करना चाहते थे टर्की में संविधान हो, संसद हो धर्म और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हो आदि । लिम्पसन ने लिखा है । "युवा तुर्क संवैधानिक व राष्ट्रीय भावनाओं से प्रभावित थे ।"

(II) टर्की विदेशी प्रभाव से मुक्त हो तथा टर्की की अपनी राष्ट्रीय नीति हो । वै तुर्की की गिनती विश्व के महान राष्ट्रों में करना चाहते थे । कैटलबी के अनुसार "युवा तुर्क टर्की का स्थान विश्व में प्रगति शील देशों के मध्य एक महान साम्राज्य के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे । और यह सब तुर्की के विदेशी हस्तक्षेप से मुक्ति पर ही सम्भव था"

(III) टर्की की एकता व अखण्डता की रक्षा करना । यहाँ पर विभिन्न जातियां व अलग-अलग धर्मो के लोग निवास करते थे । अत: टर्की की एकता की रक्षा करना इनका मुख्य उद्देश्य था । लिप्सन ने लिखा है "युवा तुर्क पतनोंज़ख तुर्की साम्राज्य को संगठित कर उसे नवजीवन प्रदान करने के इच्छुक थे और आटोमन साम्राज्य में एकता स्थापित करना चाहते थे इतिहास कार ल्यूक के अनुसार "टर्की साम्राज्य का यह नवीन शासक दल टर्की में न्याय, स्वतंत्रता व बन्धुत्व की स्थापना करना चाहता था ।" (मेकिंग ऑफ मॉर्डन टर्की) ।

(IV) युवक तुर्क टर्की के आधुनिकी करण के पक्षपाती थे वे निवास और प्रगति के समर्थक थे । विभिन्न विविधताओं को नष्ट कर परिवर्तन के पक्षधर थे । पश्चिमीकरण के समर्थक थे ।

18.5 घटनाक्रम

1908 में इंग्लैण्ड व रूस ने टर्की सुल्तान पर सुधारों का दबाव डालने लगे युवा तुर्को को यह हस्तक्षेप कष्टदायक लगा वे इस हस्तक्षेप को समाप्त करना चाहते थे । 3 जुलाई 1908 को अनवर के व अहमद नियाजी नामक सैनिक अधिकारियों ने विद्रोह कर दिया । विद्रोह दमन के लिये सुल्तान ने शक्सी पाशा को भेजा परन्तु उसकी हत्या कर दी और सेना विद्रोहियों के साथ मिल गयी । 6 जुलाई को मोनिस्टर में विद्रोह हो गया । मैसीडोनिया, एर्जेरम बिटलिस, इज्यीर तथा इस्तमबुल में प्रदर्शन हु ये । सेलोनिका में टर्की के लिये नवीन सरकार व संविधान के गठन की घोषणा की । सुल्तान ने 1876 संविधान को पुन: लागू करने की घोषणा की व ससंद का अधिवेशन भी आंमत्रित किया । वेने ले लिखाहै "23 जुलाई 1908 को सुल्तान अब्दुल हमीद ने संविधान की कठिबद्धता संसद को बुलाने व प्रेस की स्वतंत्रता देने का वचन दिया" (आटोमन एम्पायर इट्स रिकार्ड एण्ड लीगेसी "मेटियर के अनुसार" उसने धर्म और जाति के भेद भाव के बिना अपने साम्राज्य की प्रजा को वैयक्तिक स्वतंत्रता और समान अधिकार देने की घोषणा की । समाचार पत्रों का प्रतिबन्ध समाप्त कर दिया और 40 ,000 गुप्तचरों को हटा दिया"

17 दिसम्बर 1908 को सुल्तान ने नई संसद का अधिवेशन बुलाया । निम्न सदन चेम्बर ऑफ डिपुटीज का चुनाव जन साधारण के द्वारा किया गया था और उच्च सदन सीनेट

के सदस्यों को सुल्तान ने मनोनीत किया था । क्रिमियल पाशा के नेतृत्व में नया मंत्री मंडल गठित किया गया । मैसीडोनिया तथा यूरोपीय राज्यों ने विशेषकर इंग्लैण्ड ने इस परिवर्तन का स्वागत किया ।

क्रिमियल पाश ने सुधार योजना की क्रियान्विति का प्रयास किया परन्तु तुर्की साम्राज्य के एशियाई भाग के पाश्चात्य ढंग से सुधारों को क्रियान्वित करना कठिन हो गया था । फरवरी 1909 में क्रिमियल पाशा ने त्याग पत्र दे दिया । उसके स्थान पर- हिलरी पाशा प्रधान मंत्री बना लेकिन उसे भी सफलता नहीं मिली । स्वयं सुल्तान सुधारों की क्रियान्विति नहीं चाहता था । अत: उसने समानान्तर क्रान्ति को प्रोत्साहित किया । हजारों तुर्की युवा तुर्की के विरोधी हो गये । क्रान्ति का जोश ठण्डा देखकर सुल्तान अब्दुल हमीद ने 13 अप्रैल को सेना की सहायता से पुन: निरंकुश स्थापित कर दिया । किन्तु सुल्तान की यह सफलता क्षणिक सिद्ध हुई । 24 अप्रैल 1909 को महमूद शेवकत के नेतृत्व में युवक तुर्की की एक सेना सेलोप्कि से चलकर कॉन्सटेटीनोपाल में प्रविष्ट हो गई व राजधानी पर अधिकार कर लिया । मेरियट के अनुसार "27 अप्रैल को तुर्की की राष्ट्रीय सभा ने सर्व सम्मति से प्रस्ताव पारित कर अब्दुल हमीद को गद्दी से हटा दिया और उसके भाई मोहम्मद पंचम को सुल्लान घोषित कर दिया" - दी ईस्टर्न स्वश्चन" हिल्मी पाशा पुन: प्रधान मंत्री बने । इसका मुस्लिम यूनानी सर्व बल्गेरियन अर्मेनियत, अल्बानियन, आदि सभी ने स्वागत किया । इसीलिये इतिहासकार हेजमेन लिखा है- "आधुनिक इतिहास में यह सबसे अधिक बन्धुत्व पूर्ण आन्दोलन था"

18.6 युवा तुर्को की समस्याऐं:-

युवा तुर्की को शासन संचालन का अनुभव नहीं था ।

यूरोपीय देशों का रोष सहना-बल्गेरिया ने स्वत: ही अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया । 1991 में ट्रिपोली पर इटली का अधिकार हो गया । बोस्निया हर्जीगोविनापर आस्ट्रिया ने कब्जा कर लिया तथा यूनान ने क्रीट पर अधिकार कर लिया ।

18.7 युवा तुर्क सुधार कार्यक्रम:-

18.7.1 जातिय संगठनों को अवैध करार

विभिन्न जातिय व राष्ट्रीय नामों के राजनैतिक संगठन युवा तुर्को की धारणा के अनुसार टर्की की अखण्डता व एकता के लिये खतरा थे । अत: 16 अगस्त 1909 को समिति सरकार ने संगठन का कानून पास करके इन्हें अवैध घोषित कर दिया । 27 अगस्त 1909 को डकैती निरोधक कानून पारित किया गया । संगठनों को कुचलने के लिये सैनिक दस्ते भी बनाये परन्तु युवा तुर्को का यह कार्य सफल नहीं हो पाया गिबन्स से लिखा मैसीडोनिया तथा एशिया माइनरर में 30,000 ईसाइयों की हत्या कर दी गयी"

18.7.2 वृहत ऑटोमनवाद

इसका तात्पर्य सम्पूर्ण ऑटोमन साम्राज्य को एकता के सूत्र में बांधना था । इस उद्देश्य से युवा तुर्की ने जो नीति अपनायी वह पान आटोमैलिज्म के नाम से जानी जाती है । इसके

लिये सर्वप्रथम उन्होंने सम्पूर्ण जनता को कानून के समक्ष समा न घोषित करते हुये मानवाधिकारों की घोषणा की । टर्की को लोकतांत्रिक राज्य बनाने के लिये प्रजातांत्रिक संस्थाओं का विकास किया । संसद की स्थापना करके, उसे दो सदनों (प्रतिनिधि सभा व सीनेट) में विभाजित किया । संसद देश के लिये कानूनों का निर्माण करती थी । समान शिक्षा पद्धति लागू की ।

युवा तुर्की की उक्त नीति सफल हो जाती तो तुर्की के लिये बरदान सिद्ध होती, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में वृहत ऑटोमनवाद की नीति असफल रही । इसका मुख्य कारण तुर्की का विचित्र प्रकार का संगठन था । अब्दुल हमीद के शासन काल में वृहत इस्लाम वाद के द्वारा मुसलमानों को जो विशेष अधिकार मिल गये थे वह उन्हें कैसे छोड़ सकती थी । अत: उन्होंने अरेबिया में पान ऑटोमनवाद के विरूद्ध "मोहाबी आन्दोलन" छेड़ दिया । ब्लगेरियन युनान व रूमानिया की जनता अपनी राष्ट्रवादी भावना के कारण युवा तुर्की से नाराज थे ।

18.7.3 वृहत् मुस्तिम वाद

युवा तुर्को ने मुस्लिम वर्ग को अपने समर्थन में लेने के उद्देश्य से मुस्लिमों को विशेष सुविधाएँ देकर कार्य करने का प्रयास किया । तुर्की की यह नीति "वृहत् इस्लामवाद के नाम से जानी जाती है । इस, नीति का जनक अब्दुल हमीद द्वितीय ही था । शिक्षा कानून व प्रशासन में मुस्लिम वर्ग को विशेष अधिकार दिये । परन्तु इस नीति से एकता की अपेक्षा करना मूर्खता थी क्योंकि टर्की में निवास करने वाली गैर मुस्लिम जातियों ने युवा तुर्की को अपना शत्रु समझना आरम्भ कर दिया । इसमें भी युवा तुर्क असफल रहे ।

18.7.4 वृहत तुर्कवाद

उक्त दोनों नीतियों में असफल होने के बाद युवा तुर्को ने इस बात पर बल देना आरम्भ कर दिया कि केवल तुर्की के सहयोग से ही एकता स्थापित हो सकती है क्योंकि विदेशी आक्रमण के समय तुर्क मुसलमानों का ही सहयोग प्राप्त हुआ था । यह नीति बृहत् तुर्कवाद या "यासी तुरानिज्य" के नाम से जानी जाती है । तुर्की को उन्होंने विशेषाधिकार प्रदान किये परन्तु इसमें भी उन्हें सफलता नहीं मिली ।

18.7.5 अन्य महत्वपूर्ण कार्य:-

देश की शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन किया गया । एकता के उद्देश्य से सम्पूर्ण देश में समान शिक्षा पद्धति लागू की ।

तुर्की को राजभाषा घोषित किया ।

प्रान्तीय प्रशासनिक पद्धति को अपनाया । पुलिस ने नगरपालिका की व्यवस्था में सुधार किये। अग्निशमन दल, नालियों की व्यवस्था व सफाईकर्मचारियों की व्यवस्था आटोमन साम्राज्य की मुख्य देन है ।

भूमि सुधार विशेष उल्लेखनीय है । जमींदारी प्रथा को समाप्त किया 1917 में स्थापित राष्ट्रीय बैंक को पूर्व की ही युवा तुर्क द्वारा स्थापना का निश्चय किया जा चुका था ।

दो बीमा कम्पनियों की स्थापना युवा तुर्की द्वारा की गयी ।

समाज शास्त्रियों को विशेष, सम्मान दिया जाने लगा । अहरद रिजा व सट्टीबुद्दीन महत्वपूर्ण विचारक थे । अब्दुल्लाह जोदत ने इजतिहाद नामक पत्रिका में "जागरित निन्दा" नामक शीर्षक के अन्तर्गत तुर्की की सामाजिक स्थिति का चित्रण खींचा था । वह महत्व पुर्ण था ।

युवा तुर्क आन्दोलन एवं विश्व:-

18.8 युवा तुर्क आन्दोलन के जोश और उनके उद्देश को देखकर विश्व चौकन्ना हो गया । युवा तुर्की को अपनी आन्तरिक नीति मे जब असफल होते देखा तो युरोपीय राज्यों ने अपनी गतिविधियां तेजकर दी । आस्ट्रिया ने बोसनिया वह हर्जीगोविना को हस्तगत कर लिया । उधर बलगेरिया ने अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया ।

इस घटना क्रम में टर्की साम्राज्य में उथल उथल आरम्भ हो गयी । 1911 में चार बाल्कन राज्यों सार्केया बलगेरिया, मान्टीनीग्रो और यूनान ने टर्की पर आक्रमण कर दिया जिसमें युवा तुर्क पराजित हु ये । 1913 में दूरसरा बाल्कन युद्ध हु आ । टर्की साम्राज्य अब डार्डेजलीज, बास्फोरस और कुस्तुतुन तुनिनिया तक ही सीमित रह गया ।

युवा तुर्की ने शासन काल में प्रथम युद्ध महायुद्ध आरम्भ हु आ । टर्की ने जर्मनी के साथ मित्र राष्ट्रों के विरूद्ध युद्ध में भाग लिया । युवा तुर्क सरकार को प्रत्येक मोर्चे पर युद्ध में असफलता का मुहँ देखना पड़ा अन्तत: 10 अगस्त 1920 के मित्र राष्ट्रों से सेब्र की संघि करनी पड़ी ।

इस प्रकार युवा तुर्क आन्तरिक दृष्टि से और वाहय दृष्टि से समस्याओं का समाधान करने के पूर्णत: असफल रहे । इससे जनता और अधिक सत्रस्त हो गयी ।

सामान्य जनता के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में एच.ए. गिबन्स लिखता है-

"युवा तुर्क अब्दुल हमीद की प्रतिष्छाया मात्र थे । वे अब्दुल हमीद की अपेक्षा अधिक खराब थे"

18.9 असफलता के कारण:-

18.9.1 नीतियों में सुदृदूता का अभाव

युवा तुर्क किसी एक नीति पर दृढ़ नहीं रहे । उन्होंने समय समय पर आटोमनवाद, इस्लाम वाद व तर्कवादी का सहारा लिया । कभी मुसलमानों को प्रसन्न किया तो कभी उन्हें अप्रसन्न करने की नीति अपनायी । यह सब उनकी अदूरदर्शिता व संकल्प नीति के अभाव के कारण हु आ । इससे सभी वर्ग असन्तुष्ट हो गये ।

18.9.2 प्रशासन की अनुभव हीनता

युवा तुर्क अच्छे प्रशासक नही थे । तुर्की साम्राज्य में विभिन्न जातियां धर्म परम्पराएं थी । ऐसी स्थितियों में विकेन्द्रीकरण के आधार पर संघीय शासन व्यवस्था की स्थापना की जाती थी युवा तुर्को ने इसके स्थान पर केन्द्रीय करण की नीति अपनायी ।

18.10 तुर्की करण की नीति का प्रभाव

टर्की में जाति, भाषा एवं सांकृतिक विभिन्नता थी । ऐसी परिस्थितियों में युवा तुर्को की तुकीकरण की नीति का सफल होना सम्भव नहीं था । गैर तुर्की में असंतोष हुआ । यूनानी पैट्कं ने इस समय कहा था "वे हमारे साथ कुत्तो जैसा व्यवहार कर रहे हैं ।"

18.10.1 विश्व राजनीति का प्रभाव

उस समय की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी युवा तुर्कों की असफलता के लिये उत्तरदायी थीं । टर्की की कमजोर स्थिति का लाभ उठाकर आस्ट्रिया ने बोस्नियां, हर्जीगोविना पर अधिकार कर लिया । 1912-13 के बाल्कन युद्धों ने भी काफी क्षति पहुंचाई । प्रथम विश्व युद्ध के पराजय के बाद की गई सब्र की संधि और अधिक घातक सिद्ध हुई ।

18.10.2 प्रभाव

यदपि यह आंदोलन सफल नहीं रहा, लेकिन इसने केवल तुर्की को ही नहीं सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया ।

18.10.3 टर्की में प्रजातंत्र का आरम्भ

इस आन्दोलन ने टर्की में एकतमात्मक निरकुंश शासन परम्परा को तोड़ने का कार्य किया । सर्वप्रथम 1907 ई. में संसदीय शासन की शुरूआत युवा तुर्की द्वारा ही की गयी । सुल्तान के पैतृक अधिकार में युवा तुर्की ने ही चुनौती दी ।

18.10.4 सेना में सुधारवादी दृष्टिकोण

युवा तुर्क आन्दोलन ने सेना का प्रयोग जिस प्रकार सुल्तान के विरूद्ध प्रयोग में सफलता अर्जित की इससे यह स्पष्ट हो गया कि सेना सुल्तान के प्रति अन्ध भक्ति नहीं रख सकती । जनवादी आन्दोलन में सेना सुधारकों को भी सहयोग दे सकती है ।

18.10.5 जातिगत वैमनस्य को प्रोत्साहन

आरम्भ में युवा तुर्की ने न्याय स्वतत्रता एवं बन्धुत्व की बात कही थी । परन्तु अपनी नीतियों में असफल होते देख उन्होने नये-नये प्रयोग करना आरम्भ कर दिया । इससे जनता में असंतोष हुआ और इस असंतोष को दबाने के लिये युवा तुर्क अनुदार एवं असहिष्णु बन गये । इससे आपसी वैमनस्य विकास हुआ ।

18.10.6 अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव

युवा तुर्की की अनुदारता के कारण कई गैर तुर्क विदेशों में चले गये और वहां पर तुर्की के विरूद्ध प्रचार करना आरम्भ कर दिया । तुर्कीकरण की नीति ने आन्तरिक विद्रोहों को जन्म दिया । 5 अक्टूबर 1908 को बल्गेरिया ने अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया । 7 अम्बर 1908 को आस्ट्रिया ने बोस्निया व हर्जीगोबिना पर अधिकार कर दिया । आस्ट्रिया की यह कार्यवाही 1878 की बर्लिन संधि का उल्लंघन था । बर्लिन संधि के उल्लंघन के कारण ही

बाल्कन युद्धों का जन्म हुआ । युवा तुर्को की अनुसार नीतियों के कारण ही मान्टीनीग्रो बल्गेरिया यूनान एवं सिर्बिया ने तुर्की के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी । इटली ने ट्पोली पर अधिकार कर लिया ।

वास्तव में इस युवक क्रान्ति ने पूर्वी समस्या से सम्बन्धित सभी समस्याओं को पुन: जागृत कर दिया और उसके परिणाम स्वरूप घटनाओं का ऐसा क्रम आरम्भ हुआ, जिनके कारण 6 वर्ष बाद ही प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हुआ ।

इस आन्दोलन ने विश्व की सम्पूर्ण राजनीति को प्रभावित किया है इसीलिये इतिहासकार हेजन ने युवा तुर्क आन्दोलन टर्की को और यूरोप के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना माना है।

18.11 आन्दोलन के बाद टर्की

1911 से अनवरत युद्धों ने टर्की को विनाश के कगार पर ला खड़ा किया । प्रथम महायुद्ध में टर्की धुरी राष्ट्रों के पक्ष में लड़ा और बहुत बुरी तरह पराजित हुआ । 10 अगस्त 1920 को मित्र राष्ट्रों से सेब्र की संधि की । जिसके अनुसार सम्पूर्ण गैर तुर्की जनसंख्या की प्रभुसत्ता मित्र राष्ट्रों को समर्पित की । प्रथम महायुद्ध के बाद टर्की में राष्ट्रवाद आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । यहीं से उसका राष्ट्रीय राज्य के रूप में इतिहास आरम्भ हुआ । 4 जुलाई 1923 को टर्की व यूनान की समस्या के समाधान के लिये लोसाने की संधि की गयी ।

यदपि टरकी ने पहले भी यूरोपीय शक्तियों की सफलता पूर्वक अवहेलना की फिर भी अपने देश को विदेशी प्रभाव से मुक्त करने के उपरान्त मुस्तफा कमाल ने टर्की का आधुनिकरण किया । साम्राज्य के व आर्थिक दोनों के क्षेत्र में सुधार किये सुल्तान और सलीफा का पद समाप्त करके टर्की को गणतन्त्र घोषित कर दिया । राज्य में सभी धर्मों की समानता को मान्यता दी गयी । स्त्रीयों को अधिकार दिया गया । कृषि व उद्योग के विकास हेतु कुछ विशेष विभाग गठित किये गये । आर्थिक ढांचे का पुनगर्ठन किया गया । अनेक उघोगों का राष्ट्रीयकरण किया गया । औघोगिक विकास के लिये 1934 में एक पंच वर्षीय योजना भी लागू की गयी ।

18.12 सारांश

इस इकाई को पढने के बाद आपने जाना कि टर्की साम्राज्य का उद्भव किस प्रकार हुआ और यूरोप के विशाल आटोमन साम्राज्य की स्थापना हुई ।

टर्की के सुल्तान अब्दुल मजीद ने सुधार योजना लागू की परन्तु रूढ़िवादियों के विरोध के कारण उसे सफलता मिली ।

टर्की को पड़ौसी बाल्कन राष्ट्रों से निरन्तर संघर्ष करना पड़ा ।

टर्की पर सही प्रभाव को रोकने और टर्की के अस्तित्व की रक्षा के लिये यूरोपीय राज्यों ने सक्रिया हस्तक्षेप किया

टर्की विदेशी प्रभाव से बचाने एवं सुधार योजनाएं लागू करने की दृष्टि से टर्की के युवकों ने आन्दोलन किया जो कि युवा तुर्क आन्दोलन के नाम से जाना जाता है।

युवा तुर्की ने अनेक सुधार योजनाएं प्रस्तावित की । परन्तु दृढ़ता में कमी, जातीय कट्टरता के जन सहयोग के अभाव में उन्हें सफलता नहीं मिली ।

युवा तुर्क आन्दोलन ने -विश्व के सम्पूर्ण घटना क्रम को प्रभावित किया ।

18.13 बोध प्रश्न

1. युवा तुर्क क्रान्ति से पूर्व टर्की में सुधार कार्यो को वर्णित करिये ।
2. यूनान व टर्की के मध्य संघर्ष की जानकारी दीजिये ।
3. युवा तुर्क आन्दोलन क्या थे इस आन्दोलन के कारणों का विश्लेषण करिये ।
4. युवा तुर्क आन्दोलन के संगठन व समितियों की जानकारी दीजिये ।
5. युवा तुर्क क्रान्ति के विभिन्न कार्यक्रमों का वर्णन करिये ।
6. उन परिस्थितियों का विश्लेषण करिये जिनके कारण युवा तुर्क आन्दोलन सफल नहीं हुआ ।
7. युवा तुर्क आन्दोलन का टर्की व विश्व पर क्या प्रभाव पड़ा ।

18.14 संदर्भ ग्रन्थ:-

1. जी. पी गूच- आधुनिक यूरोप का इतिहास
2. एस.बी.फे- आरीजन्स ऑफ दी वार
3. लुइगअलबर्टिनी: आरीजन्स ऑफ दी वार ऑफ 1914.
4. एफ. जी. बेन्स- “योरोपीयन हिस्ट्री सिसं 1870”
5. सी.डी.एम. केटल्वी- “आधुनिक काल का इतिहास
6. सी.डी.हेजन-मार्डन यूरोपीयन हिस्ट्री (हिन्दी संस्करण)
7. गिब्बन्स- “न्यू मैप ऑफ यूरोप”
8. जे.ए.आर. मेरियट- “दी ईस्टर्न क्यशचन”
9. के.एल. खुराना- एशिया का आधुनिक इतिहास
10. देवेन्द्र सिंह चौहान- यूरोप का इतिहास
11. लिप्सन- “यूरोप इन नाइन्टीन्थ एण्ड टूवन्यियत सेन्चुरी”
12. एच.ल्युक- मेंकिग ऑफ माडर्न टर्की
13. व्हाइने- “आटोमन एम्पायर इट्स रिकार्ड एण्ड लीगेसी ।

इकाई-19
अमेरिका में काले लोगों का इतिहास

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 अमेरिका की खोज, वहाँ के मूल निवासी तथा वहाँ जाकर बसने वाले आरम्भिक यूरोपवासियों के उद्देश्य ।

19.3 काले लोगों को दास-बनाकर अमेरिका ले जाने के उद्देश्य ।

19.4 काले लोगों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति 1830 तक ।

19.5 काले लोगों को दासता से मुक्त कराने के प्रयास ।

19.6 अब्राहम लिंकन का निर्वाचन-दास समर्थक राज्यों का संघ से अलग होना ।

19.7 अमेरिका का गृह-युद्ध; दास प्रथा का अन्त

19.8 सारांश

19.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे:

- अमेरिका की खोज, वहां जाकर यूरोपवासी क्यों बसे ।
- औपनिवेशिक काल-जिसमें विश्व की अनेक संस्कृतियों का मेल-मिलाप हुआ ।
- काले लोगों को वहां पहुंचाने का लाभ-प्रद व्यापार क्यों आरम्भ हुआ ।
- अमेरिकी स्वतन्त्रता की घोषणा-काले लोग अब भी स्वतन्त्र नहीं हुए ।
- काले लोगों की दास के रूप में स्थिति ।
- दास-प्रथा को समाप्त करने हेतु प्रयास ।
- लिंकन का निर्वाचित होना- राज्यों का संघर्ष आरम्भ ।
- दास-प्रथा की समाप्ति-काले लोग स्वतन्त्र हुए ।

19.1 प्रस्तावना

सत्रहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक के कोई सौ वर्षों तक यूरोप से अमेरिका जाकर वहाँ बसने वाले अप्रवासियों का एक प्रवाह-सा चलता रहा । यह तुफानी प्रवाह इतिहास की उन महानतम घटनाओं में से एक है, जिसमें आबादी का बड़े पैमाने पर स्थानान्तरण हुआ । इस स्थानातरण में सभी देशों से गोरे, पीले, भूरे और काले लोग वहाँ पहुंचे । शक्तिशाली किन्तु विविध प्रयोजनों से प्रेरित इस आन्दोलन के फलस्वरूप एक बियाबान वन्य प्रदेश का एक नये राष्ट्र के रूप में जन्म हुआ । इस राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में सभी लोगों ने रंग, जाति, धर्म, रीति-रिवाजों तथा राजनीतिक विचारधाराओं के भेद-भाव को भूलाकर एकजुट होकर कार्य किया । सभी के संयुक्त प्रयास के कारण अमेरिका जो इंग्लैण्ड का एक उपनिवेश

मात्र था, एक स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली देश के रूप में उभरा । यहाँ के लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता की स्वयं घोषणा की । अमेरिका के संविधान में यह घोषणा की गयी थी, कि "सब मनुष्य जन्म से बराबर है", किन्तु यह बात गोरे लोगों पर लागू थी कालों पर नहीं । स्वतन्त्रता की घोषणा के बाद भी काले लोगों की स्थिति दास जैसी ही बनी रही । सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक अमेरिका में अफ्रीकी नीग्रो दासों को इतनी बड़ी संख्या में लाया गया था कि प्राय: प्रत्येक योरोपीय ईसाई के यहाँ लकड़ी काटने और पानी भरने के लिए एक नीग्रो-दास था । इन काले लोगों को स्वतन्त्रता के अधिकार दिलाने के लिए अमेरिका के उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों के बीच चार वर्ष तक संघर्ष चला । अमेरिका के इतिहास में इसे भाई-भाई का युद्ध, ग्रह-युद्ध; उत्तर तथा दक्षिण का युद्ध आदि कई नामों से पुकारा गया है । इस संघर्ष के अन्त में अब्राहम लिंकन के अथक प्रयासों के कारण 1863 में दास प्रथा की समाप्ति की कानूनन घोषणा की गयी । लिंकन ने अमेरिका का यथार्थ रूप में संयुक्त राष्ट्रीय निर्माण किया, उसने दासता का उन्मूलन कर समाज को नव-ज्योति भी प्रदान की ।

19.2 अमेरिका की खोज, वहाँ के मूल-निवासी, तथा वहाँ जाकर बसने वाले आरम्भिक यूरोपवासियों के उद्देश्य

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों से अमेरिका का इतिहास आरम्भ होता है । उसके पश्चात वहाँ की गतिविधियां संसार के दूसरे भागों से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हो गई । इस महाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों का नामकरण भी आगन्तुकों के द्वारा ही किया गया । सर्वप्रथम यहां - की धरती पर पहुंचने वाला यूरोपवासी कोलम्बस था, जिसे स्पेन के सम्राट फीर्डनेण्ड और साम्राज्ञी इसाबेला ने 1492 ई0 में प्रोत्साहित कर अन्वेषण कार्य हेतु भेजा था । कोलम्बस ने इस नये प्रदेश को एशिया की मुख्य भूमि के निकट का भाग समझा । वह यह कभी नहीं जान सका । कि उसने एक नये प्रदेश की खोज की है । 1498 तथा 1503 में उसने पुन: इसी मार्ग पर अन्वेषण का कार्य किया, फिर भी अमेरिका का मुख्य भाग उसकी पहुँच से बाहर ही रहा । ब्रिटेन ने सर्वप्रथम अमेरिका के अन्वेषण का कार्य कोलम्बस की सफलता के पश्चात आरम्भ किया । सम्राट हेनरी सप्तम द्वारा नियुक्त जान वेबर ने 1497 तथा 1498 ई0 के अभियानों में न्यूफाउन्डैलैण्ड तथा मेनलेण्ड का अन्वेषण किया, किन्तु उसके पश्चात ब्रिटेन ने अन्वेषणों पर ध्यान देना बन्द कर दिया । ब्रिटेन के पश्चात इटली के अमीरीगों वेस्पूची ने 1499 ई0 में केप केसीपोर के दक्षिणी क्षेत्रों, दक्षिण अमरीकी तटों, अमेजन नदी के उद्गम स्थान एवं ब्राजील के निकट केपड़ी-लाबिला की खोज की । 1507 ई0 में भूगोलवेत्ता मार्टिन वाल्डसीमूलर ने इन प्रदेशों का नाम अमेरिका रखा, क्योंकि इन प्रदेशों की खोज का सर्वाधिकार श्रेय अमीरीगो वेस्पूची को ही था ।

मूल निवासी:- यूरोपीय प्रवासियों और काले निग्रो लोगों के अमेरिका पहुंचने से पूर्व अमेरिकी भूमि पर निवास करने वाले व्यक्तियों का जीवन अभी तक एक रहस्य बना हुआ है । पुरातत्ववेताओं के गहन अध्ययन के बाद भी इनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी हैं । कोलम्बस ने अमेरिका के आदिवासियों को "इंडियन्स" कहा है । उसका मानना था

कि वहां रहने वाले पन्द्रह से बीस मिलियन लोग "इन्डियन्स" हैं । इतिहासकार इस संख्या के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं । उपनिवेश स्थापित करने वाले यूरोपवासियों का यह सौभाग्य था कि अमेरिका के इन आदिवासियों ने इनका अधिक विरोध नहीं किया । ये आदिवासी मुख्यत: शिकार करके अपना जीवन निर्वाह करते थे, अतएव उनके साधन-स्रोत भी बुरी हालत में थे । मेक्सिको के उत्तर में पायी जाने वाली मूल-जातियाँ जो 59 कबीलों में विभक्त थी-अल्पसंख्यक थीं । इनमें सबसे अधिक शक्तिशाली इरोक्वोस (Iroquois) कबीले की पांच आदिम जातियां थीं जिनका गढ़ पश्चिमी न्यूयार्क था । इन लोगों की आक्रमाक नीति के कारण पड़ौसी आदिवासी दूसरे कबीले अलगोनकियान्स (Algonquians) इनसे भय खाते थे । दक्षिण पूर्व में क्रीक जनजाति का सुदृढ़ संगठन था जो मस्कोजियन कबीले के थे । उत्तर-पश्चिम के दूरवर्ती मैदानों में सायक्स के कबीले का कमजोर जातिय संगठन भी अस्तित्व में था । अमेरिकी महाद्वीप के ये आदिवासी विश्व के अन्य भागों से अनभिज्ञ थे । अत: अपनी आत्मरक्षा हेतु वे भाग कर दूसरे स्थानों पर भी नहीं जा सके । यूरोपीय लोगों के आक्रमणों ने इन आदिवासियों को धीरे-धीरे समाप्त कर दिया या उन्हें दास बना लिया । इस प्रकार अमेरिका में पूर्णत: विदेशी लोगों का ही आधिपत्य रहा ।

आरम्भिक यूरोपवासियों के उद्देश्य:-

सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में वर्तमान संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्वीतट पर यूरोपीय लोगों का पहुंचना आरम्भ हो चुका था । अमेरिकी सोने-चांदी की प्राप्ति को लेकर स्पेन और इंग्लैण्ड के मध्य भीषण जलयुद्ध भी हुआ जिसमें स्पेन की पराजय हुई । एलिजाबेथ के समर्थन से इंग्लैण्ड ने अमेरिका में बस्तियां बसाना शुरू कर दियां 1606 में इग्लैण्ड के सम्राट जेम्स प्रथम ने एक संयुक्त स्टाक कम्पनी (Joint Stock Company) को एक आज्ञापत्र प्रदान किया, जिसमें हिस्सेदारों (Shareholder) के दो समूहों का उल्लेख था, एक लन्दनवालों का और दूसरा प्लीमथ वालो का । इन दोनों समुहों को वस्तुत: दो प्रथक कम्पनिया ही माना गया है । इन दोनों कम्पनियों को कुछ निशचित क्षेत्रों में उपनिवेश बसाने एवं व्यापार करने की अनुमति दी गयी । 1607 में कप्तान क्रिस्टोफर न्यूफोर्ट के नेतृत्व में 120 अंग्रेजों ने वर्जीनिया क्षेत्र की जेम्स नदी के किनारे "जेम्स टाउन" नामक बस्ती की स्थापना की । यह अमेरिका में पहली अंग्रेज बस्ती थी जो लन्दन कम्पनी द्वारा स्थापित की गयी थी । प्रथम सात महिनों में खाद्य पदार्थों की कमी ओर बीमारी के कारण वहीं पर रहने वाले 105 व्यक्तियों में से 73 की मृत्यु हो गई । जेम्स टाउन के प्रबन्धकों की अकुशलता, इन्डियन्स के आक्रमण और प्रतिकूल जलवायु के कारण वहां अगले दस वर्षो तक विशेष प्रगति नहीं हो सकी । फिर भी तम्बाकू की व्यापारिक सम्भावनाओं ने शेष लागों को वहां रहने की प्ररेणा प्रदान की । जेम्स टाउन से सबसे पहले तम्बाकू से लदा जहाज 1614 ई0 में इंग्लैण्ड पहुंचा । 1622 ई0 में रेड इण्डियन्स के एक अन्य आक्रमण में लगभग 350 अंग्रेज मारे गये, जिससे वर्जीनिया में निराशा फैल गयी। अत: 1624 ई0 में इंग्लैण्ड के सम्राट ने लन्दन कम्पनी के अधिकारों को समाप्त करने की घोषणा की । इस समय से वर्जीनिया सम्राट द्वारा शासित उपनिवेश बन गया । सम्राट द्वारा नियुक्त प्रथम गर्वनर सर विलियम बर्कले (Sir William Berkeley) था ।

जैम्स टाउन में स्थापित प्रथम उपनिवेश की स्थापना के 150 वर्षों में अमेरिका में अटलान्त महासागर के तट पर मेन से लेकर जार्जिया (इंग्लैण्ड का अन्तिम उपनिवेश 1753 ई.) तक एक सहस्त्र मील के विस्तृत प्रदेशों में उसके तेरह उपनिवेश स्थापित हो चुके थे । ये उपनिवेश थे-न्यू हैम्पशायर, मैसाचुसेटस, रोड आइलैण्ड, कनेक्टिकट, न्यूयार्क, न्यूजर्सी पेन्सिलवेनिया, डेलावेयर, मेरीलैण्ड, वर्जीनिया, उत्तरी केरोलिना, दक्षिणी केरोलिना और जार्जीया । इन उपनिवशों में रहने वाले 90 प्रतिशत अंग्रेज थे और शेष 10 प्रतिशत में डच, जर्मन, फ्रांसीसी, और पुर्तगाली थे ।

इंग्लैण्ड के अतिरिक्त स्पेन, हालैण्ड, तथा फ्रांस ने भी उतरी अमेरिका में अपने उपनिवेश स्थापित किये थे । किन्तु इन देशों को इंग्लैण्ड की तरह व्यापारियों, सुधारकों, सम्राटों तथा जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त नहीं हो सका । सामान्य नागरिकों के लिए 5000 कि0 मी0 चौड़े प्रशान्त महासागर को पार करना काफी कठिन कार्य था । लकड़ी के जहाजों में 2-3 महीने की इस यात्रा में अपर्याप्त भोजन, बीमारी, और तूफान से बचकर, कुछ ही लोग अमेरिका पहुंचते थे और वहाँ पहुँचकर भी वहाँ के मूल निवासी रेड इण्डियन्स तथा प्रकृति के कोप का उन्हें सामना करना पड़ता था प्रश्न उठता है कि फिर यूरोपीय लोग यहां आकर क्यों बसे? या इतना कष्ट उठाने के पीछे उनका क्या उद्देश्य था ।

1. यूरोप में निरन्तर होने वाले जन-संहारक युद्धों से मुक्ति की आशा में प्रव्रजन के लिये प्रेरित किया ।

2. निर्धन लोगों को दास बनाकर युद्धों में झोंकने के लिए अमीरो एवं सत्ताधारियों के हाथों बेच दिया जाता था । इससे बचने के लिये उन्होंने उपनिवेशों में बसना उपर्युक्त समझा ।

3. अधिकांश यूरोपीय अप्रवासियों ने अपना घर इसलिये छोड़ा था कि उन्हें वहाँ अधिक आर्थिक लाभ के अवसर मिलेंगें । इस प्रेरणा को बहुधा धार्मिक स्वतन्त्रता की लालसा, अथवा राजनीतिक उत्पीड़न से बचकर भागने के दृढ़ संकल्प ने और भी बल दिया ।

4. धार्मिक तथा साम्प्रदायिक अत्याचार एवं उत्पीड़न से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से ईश्वर की आराधना कर सकेंगें, जहाँ न तो चर्च का दबाव होगा और न ही सरकारी लालफीताशाही का । सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों की धार्मिक उथल-पुथल ने भी बहुत से लोगों को अपना देश छोडने के लिये विवश किया । 1600 ई0 में इंग्लैण्ड की साम्राज्ञी एलिजाबेथ ने इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टेन्ट धर्म के स्थान पर एंग्लिकन चर्च की स्थापना की, स्टुअर्ट शासकों के शासन-काल में धार्मिक मतभेदों ने गम्भीर रूप धारण कर लिया तथा केथोलिकों के अतिरिक्त प्यूरिटनों ने भी एंग्लिकन चर्च की सत्ता को मानने से इन्कार कर दिया था, अत: लाखों लोगों ने इंग्लैण्ड छोड दिया, वे अमेरिका के उपनिवेशों में जाकर बस गये । न्यू हेम्पशायर से जार्जिया तक जितनी भी बस्तियाँ स्थापित हुई उनकी पृष्ठभूमि में धार्मिक असन्तोष का कुछ न कुछ अंश अवश्य था ।

5. स्वदेश छोड़कर अमेरिका में बसने का एक अन्य कारण राजनीतिक था चार्ल्स प्रथम कें शासन काल में स्टुअर्ट वंश समर्थक गृह-युद्ध में पराजित होकर अमेरिका चले गये । जर्मन राजाओं की निरंकुशता ने भी बहुत से जर्मनों को उपनिवेशों में बसने को प्रेरित किया ।

6. भूमिहीन कृषकों की संख्या में वृद्धि के कारण, इंग्लैण्ड में भिखारियों की संख्या बढ रही थी, इसके साथ ही अपराधियों की संख्या में भी वृद्धि हो रही थी । अत: ब्रिटिश सरकार ने ऐसे भिखारियों एवं अपराधियों को अमेरिका भेजना उचित समझा ।

7. कई सरकारी कर्मचारियों, अधिकारियों तथा सैनिकों ने उच्च पद प्राप्ति के लाभ को देखते हुऐ उपनिवेशों में बसना उचित समझा ।

इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से प्रभावित होकर ये विदेशी अमेरिका में बसने के लिये प्रेरित हुए । इनमें मुख्यत: इंग्लैण्ड निवासी थे, किन्तु धीरे-धीरे डच, स्पेन, फ्रांस, पुर्तगाल, हालैण्ड आदि देशों के यूरोपीय लोगों ने भी अपने उपनिवेश वहाँ स्थापित किये । अमेरिका में बसने वाली ये जातियाँ यूरोप के विभिन्न भागों से आयी थी, अत: यह स्वभाविक ही था कि उनका सामाजिक जीवन, धार्मिक विश्वास रहन-सहन का स्तर, रीति-रिवाज, परम्पराएं एवं राजनैतिक विचार परस्पर भिन्न होते । इस समाज का जब तक अमेरिकीकरण हुआ, तब तक इसके सदस्य आपसी विरोध, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा और अनावश्यक विवादों में उलझे रहे । इस विभिन्नता के कारण ही सी0 वी0 डोरेन ने लिखा है "अमेरिका ऐतिहासिक रूप से एक उपनिवेश है, जिसका मातृ देश संसार हैं ।"

19.3 काले लोगों को दास बनाकर अमेरिका ले जाने के उद्देश्य

कोलम्बस द्वारा खोजी गई इस नई-दुनिया की ओर लोगों का ध्यान धीरे-धीरे आकर्षित होने लगा था । आर्थिक उन्नति और धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति हेतु अधिक से अधिक यूरोपवासी अमेरिका में बसने हेतु प्रेरित हुए । अमेरिका के 3, 15, 065 वर्ग मील के लम्बे-चौडे भू-भाग पर विकास की सम्भावनाएँ अधिक थी, किन्तु 5,000 कि.मी. चौडे प्रशान्त महासागर को पार कर वहाँ पहुंचना कठिन कार्य था । अत: आरम्भ में साहसिक व्यक्ति ही वहाँ पहुंच पाये । वहाँ इस समय शारीरिक श्रम करने वालों की अधिक आवश्यकता थी । वहाँ के अधिकांश आदिवासी या तो संघर्ष में मारे जा चुके थे या उन्हें गुलाम बनाकर इस काम में लगाया जा चुका था, किन्तु परिस्थितियों को देखते हुये यह महसूस किया गया कि अमेरिका के इन नये उपनिवेशों में शारीरिक श्रम करने वाले लोगों की अधिक आवश्यकता है । यूरोप के देशों से यदि श्रमिकों को अधिक संख्या में लाया जाता तो उन्हें लाने तथा अधिक वेतन देने के कारण लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती । अत: अफ्रिका के हब्सी लोगों को दास बनाकर अमेरिका लाया जाना उचित समझा गया । अफ्रीका के नीग्रो जाति के काले लोग शारीरिक रूप से हष्ट-पुष्ट होते थे तथा कठिन से कठिन कार्य करने की क्षमता भी रखते थे तथा इन पर होने वाला खर्च भी बहुत कम था । आरम्भ में अफ्रीका के इन काले लोगों को अमेरिका में व्यक्तिगत स्तर पर लाया गया था, किन्तु सोलहवीं शताब्दी के अन्त में अफ्रीका के दासों को अमेरिका में लाकर बेचने का कार्य आरम्भ हो गया । इन काले लोगों से जंगल साफ करने, खेती करने, सड़क बनाने आदि का कार्य करवाया जाता था । इस तरह की गुलामी या दासता की प्रथा अमेरिका में उसकी स्वतन्त्रता प्राप्ति के दो सौ वर्ष पहले ही आरम्भ हो चुकी थी । सर्वप्रथम ज्ञात व्यापारी वार का डचमेन (Dutchman of warre) था, जिसने जैम्स टाउन में

बीस अफ्रीकन हब्ली दास बेचे थे । सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक अमेरिका में अफ्रीकी नीग्रो दासों को इतनी बड़ी संख्या में लाया गया था कि प्राय: प्रत्येक यूरोपीय ईसाई के यहां लकडी काटने तथा पानी भरने के लिए एक नीग्रो दास था । अफ्रीकियों को अमेरिका ले जाकर गुलामों की तरह बेच देने का यह धन्धा लाभकारी था । इस प्रकार गुलामों का व्यापार बढ़ा और इसमें अंग्रेजों, स्पेनियों, और पुर्तगालियों ने व्यापार की तरह धन कमाया । गुलामों के व्यापार के लिए विशेष प्रकार के जहाज बनाये जाने लगे । गुलामों के व्यापार की नींव पर लिवरपूल बहुत बड़ा शहर बन गया । 1730 में लिवरपूल के पन्द्रह जहाज इस धन्धे में लगे हुए थे, यह संख्या 1792 में बढ़कर 132 हो गयी थी । एक नवयुवक नीग्रोदास 40 पौण्ड तक प्राप्त हो जाता था । यद्यपि 1771 में इंग्लैण्ड ने दास-प्रथा की समाप्ति की घोषणा कर दी थी, किन्तु इस लाभदायक व्यवसाय को रोकने के लिए कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया ।

यही प्रश्न उठता है कि अमेरिका में इतनी अधिक संख्या में नीग्रो-दासों की मांग उतोत्तर क्यों बढ़ती गयी ।

1- औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ होने से लंकाशायर में रुई की कताई का उद्योग बहुत उन्नति कर रहा था, वहां खपने वाली रूई अमेरिका के दक्षिणी राज्यों के बड़े-बड़े कपास बागानों से आती थी । इन बागानों में खेती का कार्य इन दासों द्वारा ही होता था । अत: वहां दासों की मांग बढ़ती गई ।

2- दक्षिणी अमेरिका में कपास के अतिरिक्त गन्ना, तम्बाकू की खेती भी बड़े पैमाने पर होती थी, जिनमें दास मजदूर के रूप में कार्य करते थे । इस समय तक कृषि के लिए उपर्युक्त व यान्त्रिक शक्ति से संचालित होने वाले यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था अत: शारीरिक श्रम करने वालों की अधिक आवश्यकता थी ।

3- अमेरिका पहुंचने वांले अधिकांश यूरोपवासी व्यापार में लाभ कमाने के उद्देश्य से वहां गये थे । कोई भी यूरोपवासी श्रमिक का कार्य नहीं करना चाहता था, अत: मजबूरन श्रमिक के कार्य हेतु नीग्रो दासों पर निर्भर रहना पड़ता था ।

उपर्युक्त कारणों से दास-व्यापार धीरे-धीरे बढता गया, जिससे अमेरिका में इनकी संख्या में तेजी से बढ़ोतरी हुई । 1700 ई0 में इनकी संख्या 20 हजार थी जो 1763 में बढ़कर चार लाख तक हो गयी । इनमें से लगभग एक लाख 25 हजार अकेल वर्जीनिया में और 70 हजार केरोलिना के बागानों में ही कार्य करते थे । 1790 तक लगभग 60 लाख दास अमेरिका पहुंच चुके थे ।

19.4 काले लोगों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति 1830 तक

अमेरिका पहुंचने वाले प्रत्येक यूरोपवासी के समक्ष केवल दो ही लक्ष्य थे- प्रथम धार्मिक स्वतन्त्रता और दूसरा सुखमय जीवन । अत: उनका समस्त कार्य कलाप इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में लगा रहा । किन्तु अमेरिका पहुंचने वाले काले लोगों के समक्ष कोई लक्ष्य नहीं था । उन्हें तो दास बनाकर वहां बेचा गया था अत: उन्हें तो वे सभी कार्य करने थे जो उनके मालिकों द्वारा उन्हें सौंपे जाते थे । अमेरिका में शारीरिक श्रम करने वालो की कई श्रेणियाँ थी- प्रथम श्रेणी उन

लघु कृषकों की थी जो श्वेत दास अनाथ और भिखारी होते थे, वे खेतों में मजदूरी का काम करते थे, इन्हें केवल सीमित मजदूरी प्राप्त होती थी जिससे किसी प्रकार उनका गुजारा हो जाता था । दूसरा वर्ग श्रमिक संयुक्त दल का था जिसमें कई परिवार एक साथ मिलकर श्रम का कार्य करते थे, इनका काम था-काठ के लट्ठो को काट कर लाना, खेतों से फसल काटना, मकानों और झोपडियों तथा खलिहानों का निर्माण करना इत्यादि । इन्हें हम ठेके के श्रमिक कह सकते हैं । इनमें ऐसे अपराधी, जिन्हें यूरोप में मृत्यु दण्ड अथवा आजीवन कारावास दिया गया था होते थे । इनका जीवन भी सामान्य ही था । तीसरे प्रकार के श्रमिक श्रेणी में ऐसे लोग आते थे जो स्वेच्छा से यात्रा व्यय से निपटने के लिए निश्चित अवधि के लिए श्रमिक बने थे, इनमें गौर वर्ण तथा स्यामवर्ग दोनों ही श्रेणी के लोग सम्मिलित थे ।

चौथे प्रकार के श्रमिक थे-नीग्रो जाति के लोग, ये दास कहलाते थे । अन्य वस्तुओं के समान इनका भी व्यापार होता था । जिस समय खुले बाजार में दासों की बोली होती और उनकी निलामी की कीमत पुकारी जाती थी, उस समय का हृदय-विदारक दृश्य बहुत से लोगों से देखा भी न जाता था क्योंकि उस निलामी के फलस्वरूप कई परिवार सदैव के लिए तितर-बितर हो जाते थे । जिस प्रकार दासों ने यूनान को समृद्धिशाली बनाया, लगभग उसी प्रकार अमेरिकी उपनिवेशों को भी दासों ने ही धन्य-धान्य से परिपूर्ण किया । मेहनत में इनकी समता कोई नहीं कर पाता था और कष्ट सहन करने में तो ये अद्वितीय थे । परन्तु इनका कभी भी अपने स्वामियों की सहानुभूति प्राप्त न हुई । इनके साथ पशुओं से भी बदतर व्यवहार किया जाता था, कोड़ों से मारा भी जाता था । दास आजीवन दास ही बना रहता था और उसकी संतान पीढ़ी-दर-पीढ़ी परतन्त्र ही रहती थी । दासों को किसी प्रकार के भी अधिकार प्राप्त नहीं थे । यहाँ तक कि वे अपने स्वामियों की अनुमति के बिना विवाह भी नहीं कर सकते थे । भाग जाने पर दासों को और अधिक कठोर दण्ड दिया जाता था । दासों की कोई निजी सम्पत्ति नहीं हो सकती थी । कई सम्पन्न बागान-मालिको के यहां दासों की स्थिति अच्छी थी, उनके साथ सद्व्यवहार किया जाता था, उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध भी किया जाता था । सम्भवत: इसका कारण दक्षिणी बागान व्यवस्था में उनकी उपयोगिता हो सकती थी । दक्षिणी अमेरिका में दास-प्रथा समाज की एक आवश्यकता बन गयी थी, किन्तु दासता की बेड़ियो से मुक्ति की आशा सम्भव नहीं थी । सात नीग्रो दासों का एक स्थान पर एकत्रित होना भी अपराध था । वर्जीनिया ने तो 1661 ई0 में ही नीग्रो दास-प्रथा को कानूनी मान्यता प्रदान कर दी थी । अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा में निहित सिद्धान्त दास-प्रथा की जड़ों को आघात करते थे, फिर भी यह प्रथा जीवित रही । उत्तरी अमेरिका के लोगों ने दासता विरोधी अभियान चलाया और घोषणा-पत्र को सार्थक बनाने के लिए समस्त अमेरिकी राज्यों से आग्रह किया, किन्तु दक्षिणी अमेरिका में दास-प्रथा जन जीवन में घुल चुकी थी अत: यहाँ के दास स्वामियों ने दास-विरोधी भावनाओं का तिरस्कार किया । दक्षिण के लोग दासों को अपनी निजी सम्पति मानते थे । इस प्रकार दासता का प्रश्न अमेरिका की राजनीतिक क्षितिज पर 1830 तक उभर चुका था, किन्तु इस प्रश्न को हल करने का कोई ठोस प्रयास नहीं किया गया ।

19.5 काले लोगों को दासता से मुक्त कराने के प्रयास

अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा के समय सभी राज्यों में दास-प्रथा का प्रचलन था, केवल मैसाचुसेटस का राज्य इस संबध में अपवाद था । स्वतन्त्रता की घोषणा में कहा गया था कि विधाता द्वारा सभी मनुष्य समान बनाये गये हैं तथा सभी सरकारें अपनी यथोचित शक्तियां शासितों की सम्मति से ही प्राप्त करती है । इस प्रकार की घोषणा द्वारा मानव-अधिकारों में विश्वास प्रकट किया गया और उनकी अभिपुष्टि की गई । इसके साथ-साथ वंशानुगत अधिकारों, असमानताओं तथा निरंकुश सरकारों का खण्डन भी किया गया । किन्तु यह कहना कठिन है कि उक्त स्वतन्त्रता का अधिकार दासों पर लागू होता था या नहीं । परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 18 वीं शताब्दी के अन्त में अमेरिका के आम लोग दास व्यापार को बुरी नजरों से देखने लगे थे । उत्तरी अमेरिका में तो दास-व्यापार समाप्त कर दिया गया था । दास-प्रथा उत्तर में पेन्सिलेवेनिया की दाक्षंली सीमा तक बन्द हो गई । इस सीमा रेखा को मेसन-डिक्सन सीमा (Mason-Dixon-Line) कहा जाता था । एलीगनीज के पश्चिम के नए प्रदेश में एक ओर ओहियो नदी के उत्तर में दास-व्यापार 1787 के एक अध्यादेश द्वारा बन्द किया जा चुका था । दक्षिणी अमेरिका में भी दास व्यापार धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा था, किन्तु दक्षिण में यह कार्य कानून द्वारा न होकर व्यक्तियों के ह्दय परिवर्तन द्वारा पूरा हो रहा था । जार्ज वाशिगंटन जैसे जमींदारों ने स्वयं ही दासों को मुक्त कर दिया और जैफरसन ने एक ऐसी योजना तैयार की थी, जिसके अनुसार कुछ दासों को तो अमेरिका से चले जाने पर मजबूर किया जाता और कुछ को धीरे-धीरे मुक्त कर दिया जाता । कई राज्यों में धीरे-धीरे करके दास-व्यापार को बन्द कर दिया था, किन्तु संघीय आदेश के रूप में दास व्यापार 1808 से पहले बन्द नहीं किया जा सका । किन्तु एली व्हिटने (Eli Whiteney) ने जब कपास ओटने की मशीन (gin) का आविष्कार किया और उसके साथ-साथ जब रूई की पैदावार बढ़ी तो दास-व्यापार का महत्व बढ गया । अब दक्षिणवासी दास-प्रथा को इतना हितकर समझने लगे कि वे इसकी रक्षा के लिए एक दृढ समुदाय के रूप में संगठित हो गये । इस परिवर्तन के अनेक कारण थे, किन्तु नेविन्स और कौमेगर के अनुसार "सबसे बड़ी बात यह थी कि कुछ नये आर्थिक पहलुओं ने दास-प्रथा को 1790 के पहले की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभकारी बना दिया था । जिसे पहले आवश्यक बुराई समझा जाता था, उसे अब इतना आवश्यक समझा जाने लगा कि वह बुराई ही नहीं रही ।" इस आर्थिक परिवर्तन का प्रमुख कारण रूई, गन्ना और तम्बाकू सम्बन्धी विशाल उद्योगों का तेजी से विकसित होना था ।

मिसूरी समझौता

उत्तर और दक्षिण के बीच तनाव की गम्भीर स्थिति उस समय उत्पन्न हुई, जब मिसूरी प्रदेश ने 1819 में संयुक्त राज्य की सदस्यता के लिए आवेदन पत्र दिया । मिसूरी एक दास-प्रथा समर्थक राज्य के रूप में प्रवेश चाहता था, किन्तु ज्यो-ज्यों उत्तर का स्वतंत्र समाज और दास-समर्थक समाज पश्चिमी की ओर बढ़ता गया, यह वांछनीय लगा कि दोनों के मध्य सन्तुलन रखा जाए । "1818 में 10 दास-प्रथा वाले और 11 मुक्त राज्य थे । अलाबामा को

दास राज्य के रूप में प्रवेश देने पर पहले ही सहमति हो चुकी थी । इस प्रकार दास-प्रथा वाले राज्यों और मुक्त राज्यों की संख्या ग्यारह-ग्यारह थी, जिससे दोनों पक्षों में सन्तुलन बना हुआ था । इस स्थिति मे मिसूरी के प्रवेश का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गया । क्योंकि इसका प्रवेश होने पर प्रान्तीय सन्तुलन समाप्त हो जाता और विशेषकर सीनेट में एक पक्ष अधिक शक्तिशली बन जाता । दक्षिण के लिए इस सन्तुलन को बनाये रखना अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गया, क्योंकि प्रतिनिधि सभा में उत्तर का बहुमत पहले से ही था । 1820 में प्रतिनिधि सभा में मुक्त राज्यों के 123 और दास प्रथा वाले राज्यों के 89 प्रतिनिधि थे । ऐसी स्थिति में दास-प्रथा वाले दक्षिणी राज्यों को भय था कि यदि प्रान्तीय सन्तुलन बिगड़ गया और मुक्त राज्यों की संख्या बढ गई तो सीनेट में भी उनका बहुमत हो जायेगा । इस स्थिति में मुक्त राज्य दास-प्रथा को समाप्त करने के लिए भी कानून बना सकते थे । अन्तत: 1820 में इस गतिरोध को एक समझौते द्वारा समाप्त किया गया । इसमें हेनरी क्ले ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । इसके अनुसार मिसूरी को दास-प्रथा समर्थक राज्य के रूप में प्रवेश दिया गया । किन्तु उसी समय मैन (Maine) को भी एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में प्रवेश दिया गया । इस समय तक मैंन मैसाचुसेटस राज्य का ही एक अंग था । इस प्रकार दास-समर्थक राज्यों और मुक्त राज्यों की संख्या समान रूपेण 12-12 हो गई और प्रान्तीय सन्तुलन भी स्थापित हो गया ।

तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में यह समझौता सभी पक्षों के लिए समान ढंग से न्यायपूर्ण था, किन्तु दोनों पक्षों के उग्रवादियों ने इसे एक "गन्दा सौदा" (Dirty Bargain) बताया ओर इसकी आलोचना की । यद्‌यपि यह समझौता अगले 34 वर्षों तक कायम रहा । 1830 के बाद दासता का प्रश्न एक राष्ट्रीय समस्या के रूप में उभरा । साहित्यिक प्ररेणा ने भी दासता के प्रश्न को उभारा । हिटियर लौवेल, ब्राएण्ट, एमर्सन और लौंगफेलो जैसे कवियों ने दासता के विरूद्ध धृणा के भाव प्रभावशाली रूप से प्रकट किये । समाचार-पत्रों के माध्यम से दास-प्रथा के अत्याचार, दमन, क्रूरता, अमानवीयता आदि को प्रचारित किया जाने लगा । 1840 ई0 तक अमेरिकी दास-विरोधी समाज की दो हजार शाखाएं तथा उसके लगभग दो लाख सदस्य हो गये थे । किन्तु दक्षिणी अमेरिका के लोगों ने मुक्ति आन्दोलन वालों को बाहर निकाल दिया । वहा समाचार-पत्रों अथवा सार्वजनिक सभाओं में दासता का विरोध करना भी खतरनाक था । दास समर्थकों का कहना था कि प्रत्येक समाज में किसी न किसी वर्ग को शारीरिक श्रम करना होता है, जो श्रम से विमुख न हों । ऐसी स्थिति में अमेरिका के समाज में से किसी को उत्तरी श्रमिक आश्रित समाज अथावा दक्षिणी दास आधारित समाज में से किसी एक को प्राथमिकता देनी होगी । दोनों में से दासता, इनके तर्क के अनुसार अधिक सुरक्षित एवं स्थायी संस्था थी । क्योंकि दास-प्रथा में श्रमिक संगठनों, हड़तालों तथा जातिवादी वर्गभेद का भय नहीं था । इसके साथ ही साथ उत्तरी उत्पादकों के विपरीत दक्षिणी दास मालिक अपने दासों को अधिक सुविधा प्रदान करते थे । इस मनोवृति तथा तर्को के आधार पर दक्षिणी अमेरिकियों ने दास-प्रथा को आवश्यक बतलाया ।

उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों के बीच दास-प्रथा को लेकर, जो मतभेद उभरे उन्हें सुलझाने के कई प्रयत्न भी किये गये । सीनेटर हेनरी क्ले ने कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखे । सितम्बर, 1850 में कांग्रेस ने इस संबध में पाँच कानून बनाये ।

1- केलिर्फोनिया को संयुक्त राज्य में एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में शामिल किया गया ।

2- कोलम्बिया जिले में दास-व्यापार समाप्त कर दिया गया ।

3- एक नया और कठोर "भगोड़े दास कानून (Fugitive Slave Law) बनाया गया । तदनुसार राष्ट्रीय सरकार के कार्यकारी अभिकरणों को दास-स्वामियों के अधीन रख दिया गया ।

4- उटा (Utah) को एक प्रदेश के रूप में संगठित किया गया ।

5- न्यू-मेक्सिकों को एक प्रदेश के रूप में संगठित किया गया । टेक्सास को राष्ट्रीय सरकार द्वारा एक करोड डालर का भुगतान करने को कहा गया, ताकि न्यू मेक्सिकों के प्रदेश पर वह अपना दावा छोड दें ।

उपरोक्त समझौते के अन्तर्गत केलिर्फोनिया के अतिरिक्त मेक्सिकों से प्राप्त सभी प्रदेश न्यू-मेक्सिकों और उटा प्रदेश के रूप में संगठित किये गये । यह कहा गया कि जब ये प्रदेश राज्य बन जाए तो दास-प्रथा के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय यहां के निवासियों द्वारा ही लिया जाए ।

भगोडे दासों से सम्बन्धित अधिनियमि का उत्तरी राज्यों के बुद्धिवादियों तथा मानवतावादियों ने विरोध किया और इसे ईसाई सिद्धान्तों तथा अमेरिकी आदर्शों के विरूद्ध माना। भगोंडे दास कानून के उत्पीडन से श्रीमती हैरियट बीचर स्टोवे (Mrs. Harriet Beecher) को 'अंकित टाम्स केबिन' (Uncle Tom's Cabine) नामक उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली, जिसमें दास-प्रथा का इतना सटीक चित्रण किया गया था कि उत्तर और दक्षिण के लोगों में इस प्रथा की वीभत्सताओं के प्रति घृणा व्याप्त हो गयी । इस पुस्तक ने अमेरिका में दास-प्रथा के विरूद्ध भावना को उत्पन्न करने में जो कार्य किया, वह हजारों सभाओं, व्याख्यानों व पुस्तिकाओं द्वारा भी नहीं हुआ था । अभी तक दासता को अभूर्त तर्कों द्वारा बुरा बताया जाता था किन्तु इस उपन्यास के पात्रों ने उसे साकार रूप प्रदान किया । रिचार्ड करेन्ट तथा अन्य ने 1850 के समझौते को उत्तर तथा दक्षिण के बीच "अल्पकालीन शान्ति" संधि कहा है।

केन्सास-नेब्रांस्का अधिनियम:-

1850 के समझौते के अधिकांश प्रस्ताव स्टीफन डगलस की सूझ थी, क्ले ने तो उन्हें स्वरूप प्रदान किया था । इस समझौते से मानों सभी विवादों का अन्त हो गया, किन्तु यह समझौता तीन वर्षों तक ही प्रभावी रहा । विग तथा डेमोक्रेट दलों में से बहुमत ने इसका समर्थन किया था, फिर भी भीतर ही भीतर असन्तोष की आग धधक रही थी भगोडे दासों को पकडने सम्बन्धी नये कानून से कई उत्तरी लोगों के सम्मान को गहरी ठेस पहुंची थी । उन्होंने भागे हुए दासों को पकड़ने में किसी भी तरह की सहायता देने से इन्कार कर दिया । इसके विपरित दक्षिण के उग्र नेता मिसूरी समझोते को भंग कर सारी उपरी मिसूरी घाटी को दासता के लिए पा लेना चाहते थे । 1854 के एक अधिनियम द्वारा दो नये क्षेत्र राज्य केन्सासा तथा

नेब्रासका की स्थापना का प्रस्ताव किया गया । ये क्षेत्र मिसूरी के उत्तर में थे, तथापि यह प्रस्तावित किया गया था कि दास प्रथा यहां लागू न हो । इससे उत्तर तथा दक्षिण के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी । मिसूरी नदी के नीचे की उपजाऊ भूमि जो नेब्रास्का व कन्सास राज्य में थी बसने वालों को आकर्षित करने लगी थी । इस भू-भाग में होकर चिकागों से प्रशान्त तट तक रेल मार्ग आसानी से बन सकता था । न्यू ओरलियन्स से पश्चिम की ओर बढ़ने वाले रेल मार्ग के लिए यहां दक्षिणी क्षेत्र की सम्भावनाएं भी थी । संघर्ष का मुख्य मुद्दा यह था कि इन नये प्रदेशों को दास समर्थक राज्य के रूप में स्वीकार किया जाए या मुक्त राज्य के रूप में । इस संबंध में स्टीफन डगलस तथा जेर्फसन डेविस के बीच वाद-विवाद भी चला ।

डगलस ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) के आधार पर यह मत प्रकट किया कि इन नये प्रदेशों के निवासियों द्वारा ही यह निर्णय लिया जाय कि वे दास-प्रथा चाहते है या नहीं । किन्तु जेफर्सन का तर्क था कि कांग्रेस को अमेरिकी नागरिकों के अधिकारों पर जोर देना चाहिये और यदि कोई प्रदेश इन्हें लागू न करे तो कांग्रेस को लागू करना चाहिये । दक्षिणवासियों ने डगलस द्वारा प्रस्तावित इस विधेयक में यह प्रावधान भी शामिल कर दिया कि मिसूरी समझौता अब रद्द हो गया है । इस संबंध में डगलस का वास्तविक उद्देश्य अभी तक विवाद का विषय है । उसके विरोधियों के अनुसार वह अगले राष्ट्रपति चुनाव के लिए दक्षिणवासियों का समर्थन प्राप्त करना चाहता था । राष्ट्रपति पार्थस के समर्थन से यह अधिनियम पारित तो हो गया, किन्तु देश में इसके विरूद्ध चारों और उत्तेजना व्याप्त हो गई । इस विधेयक ने न केवल राजनीतिक दलों को परस्पर विभक्त किया वरन् कैन्सास में गृह-युद्ध को भी उत्पन्न किया ।

इस तनाव पूर्ण स्थितिं में 1856 में राष्ट्रपति के चुनाव हुए और बुचानन राष्ट्रपति बने । उनका समर्थन दक्षिण की ओर था । उनके समय में ड्रेट स्काट नामक व्यक्ति के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने एक महत्वपूर्ण निर्णय दिया, जिसके अनुसार दास अपने स्वामी की सम्पति थे तथा कांग्रेस को कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के बिना किसी की व्यक्तिगत सम्पति को छीनने का अधिकार नहीं है ।

इस प्रकार दासता का प्रश्न इस समय तक उग्र रूप धारण कर चुका था । डगलस और प्रशासन की फूट के बाद स्पष्ट हो गया कि दासता के सम्बन्ध में अब तीन दृष्टिकोण थे-

1- रिपब्लिकन दृष्टिकोण के अनुसार संघीय कानून द्वारा दासता को समस्त प्रदेशों से निकाल देना चाहिए और ड्रेड स्काट के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को बदला जाना चाहिए ।

2- दक्षिणी ड्रेमोक्रेट्स की मांग थी कि संघीय कानून द्वारा सभी प्रदेशों में दासता की रक्षा की जानी चाहिये ।

3- स्टीफन डगलस और उसके अनुयायियों का मत था, कि लोकप्रिय संप्रभुता द्वारा प्रदेश की जनता स्वयं निर्णय करे कि वह दासता रखेगी अथवा नहीं ।

लिंकन-डगलस वाद-विवाद

1858 में जब समस्त अमेरिका में वर्गीय भावना जोर पकड़ रही थी उस समय अमेरिका में सीनेट के चुनाव हुए। इलिनोइस राज्य की सीनेट के लिए एक सीट रिक्त थी । निर्वाचन में सीनेट में स्थान प्राप्तकर्ताओं में लिंकन और स्टीफन डगलस थे, जो अपने-अपने दल के प्रतिक थे । चुनाव अभियान में इन दोनों में एक उच्च कोटि की वाद-विवाद श्रृंखला आरम्भ हुई। बाह्य रूप से दोनों का लक्ष्य सीनेट में स्थान प्राप्त करना था, किन्तु वास्तव में यह विवाद अमेरिका में उस समय के मौलिक प्रश्न दास-प्रथा से सम्बन्धित था । डगलस ने राष्ट्रपति बुचानन की केन्सास नीति का विरोध करके अपने आप को उत्तर में लोकप्रिय बना लिया था । लिंकन भी केन्सास-नेब्रास्क कानून का विरोधी था, किन्तु वह संयुक्त राज्य अमेरिका के संघ को किसी भी स्थिति में टूटने से बचाना चाहता था । वह रिपब्लिकन दल का एक प्रमुख वक्ता था । दोनों नेताओं ने इलिनाइस के प्रत्येक कांग्रेस जिले में बड़े जनसमुह के सम्मुख अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किये । लिंकन और डगलस का यह वाद-विवाद देश के समाचार-पत्रों में व्यापक रूप से छापा गया । डगलस ने अपने "लोकप्रिय संप्रभुता" के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए रिपब्लिकन्स पर आक्रमण किया । उसने लिंकन पर दोष लगाया कि वह और उसके साथी वर्ग भेद को प्रोत्साहित कर रहे हैं तथा दक्षिण में दासों की स्थिति में हस्तक्षेप कर रहे है । लिंकन ने इस दोषारोपण को गलत बतलाया और डेमोक्रेट्स तथा डगलस को प्रदेशों तथा स्वतन्त्र राज्यों में दासता फैलाने के द्याडयंत्र के लिए दोह्री ठहराया । इन आरम्भिक वाद-विवादों के पश्चात डगलस व लिंकन ने सात सम्मिलित सभाओं में वाद-विवाद किया । लिंकन ने ड्रेड स्काट निर्णय का खण्डन किया तथा उसने डगलस से पूछा कि क्या किसी राज्य क्षेत्र को यह अधिकार है कि दास-प्रथा को अपने क्षेत्र से निषिद्ध कर दे । लिंकन के सीधे प्रश्न का डगलस हां या ना में उत्तर नहीं दे सकता अत: उसने अपने उत्तर में यह कहा कि कोई भी राज्य क्षेत्र दास-प्रथा को कानूनी रूप से निषिद्ध किये बिना ही अपने क्षेत्र से प्रथक रख सकता है तथा ऐसा करने के लिए सम्बन्धित राज्य क्षेत्र को केवल इतना ही करना होगा कि वह दासों की गिरफ्तारी के सम्बन्ध में पुलिस नियम नहीं बनाये । लिंकन ने एक सभा में कहा था कि जिस घर में फूट हो वह टिक नहीं सकता, मेरा विश्वास है कि यह शासन आधे (लोगों को) दास और आधे (लोगों को) स्वतन्त्र रखकर स्थायी नहीं रह सकता । लिंकन का स्पष्ट मत था कि वह दासता को आगे फैलने से रोकेगा । प्रदेशों में इसका प्रसार नहीं होने देगा और इस प्रकार यह अन्त में स्वयंमेव ही समाप्त हो जायेगी । इस वाद-विवाद के पश्चात डगलस सीनेट के चुनाव में विजयी रहा, लेकिन फ्री पोर्टर वाद-विवाद में अपने उत्तर के कारण दक्षिण में डगलस की लोकप्रियता कम हो गई और वह संयुक्त डेमोक्रेटिक दल के प्रत्यासी के रूप में राष्ट्रपति पद के लिए अपने आपको नामांकित नहीं करा सका । इसके विपरित लिंकन की पराजय होने के उपरान्त भी उसकी सरलता और ईमानदारी के कारण उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी । 1860 ई0 के चुनाव में रिपब्लिकन दल ने लिंकन को अपना प्रत्याशी बनाना ही उचित समझा । इस समय अमेरिकन संघ में 18 स्वतन्त्र राज्य और 15 दास-प्रथा समर्थक राज्य थे ।

19.6 अब्राहम लिंकन का निर्वाचन: दास समर्थक राज्यों का संघ से अलग होना

1860 ई0 के राष्ट्रपति के निर्वाचन में उम्मीदवार के प्रश्न पर डेमोक्रेटिक पार्टी दो भागों में बंट गई थी। एक ओर रूई उत्पादक राज्यों के प्रतिनिधि थे, जो लोकप्रिय सम्प्रभुता का पक्ष ले रहे थे। प्रथम वर्ग ने केन्टकी राज्य के ब्रेकिनरिज को और दूसरे वर्ग ने डगलस को राष्ट्रपति पद के लिए अपना उम्मीदवार घोषित किया। इस फूट के कारण रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार अब्राहम लिंकन को विजय हुई। 4 मार्च, 1861 को लिंकन ने राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया। लिंकन के राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने से यह निश्चित था कि दास-प्रथा अब अधिक समय तो जीवित नहीं रह सकेगी। यद्यपि लिंकन ने अपने चुनाव प्रसार में दासता की अपेक्षा दूसरे प्रश्नों को अधिक महत्व दिया था। लिंकन ने एक सभा में कहा था कि "दासता जिस स्थिति में हैं, वह उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहता। यदि मुझे सारे नैतिक अधिकार और शक्तियाँ भी प्राप्त हो जाएं तो मैं यह नहीं जानना चाहुंगा कि मुझे दास-प्रथा की इस स्थिति का क्या उपयोग करना- है।" वास्तव में लिंकन के भारी बहुमत से विजयी होने के कारण दक्षिणी राज्यों को यह चिन्ता हो गई थी कि नई सरकार उनकी संस्थाओं तथा विशिष्ट सभ्यता को नष्ट कर देगी। इसी भावना ने दक्षिण के राज्यों को संघ से अलग होने के लिए प्रेरित किया। अनेक दक्षिणी नेताओं ने तो चुनाव से पूर्व ही यह तय कर लिया था कि वे रिपब्लिकन राष्ट्रपति के अधीन संघ में नहीं रहेंगे। इस दिशा में पहला कदम कैरोलिना राज्य द्वारा उठाया गया। उसने 20 दिसम्बर, 1860 को ही संघ से अलग होने की घोषणा कर दी। उसने घोषणा पत्र में कहा था कि उत्तर के तेरह राज्यों ने जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कानून पास किये हैं, वे संविधान के विरूद्ध हैं। साथ ही उत्तरी राज्यों के दास-विरोधी आन्दोलन ने इस व्यक्तिगत सम्पत्ति (दास) को असुरक्षित बना दिया है। साथ ही साथ दक्षिण पर उच्च तटकर लगाकर उत्तरी राज्यों को लाभ पहुंचाने का प्रयास भी किया गया हैं। लिंकन के राष्ट्रपति पद ग्रहण करने के समय तक दक्षिण के सात राज्य संघ से अलग हो चुके थे। इन राज्यों ने मिलकर 4 फरवरी, 1861 को एक 'दक्षिणी परिसंघ' बनाया। इस प्रकार ज्वालामुखी का विस्फोट सन्निकट था, किन्तु लिंकन कृत-संकल्प था कि संघ को किसी भी कीमत पर बचाना होगा। उसने पद ग्रहण करने के समय कहा था, "संयुक्त राज्य अमेरिका के रूप में, जो संघ स्थापित किया गया था, वह अखण्डनीय और शाश्वत है, उसकी अखण्डनीयता को किसी भी प्रकार नष्ट नहीं होने दिया जायेगा।" अमेरिकी संविधान निर्माताओं ने किसी राज्य को संघ से पृथक होने का अधिकार स्पष्टत: नहीं दिया था, क्योंकि वे इसे बनाये रखना चाहते थे। लिंकन ने समझौता करने हेतु न्यूयार्क, बोस्टन और फिलाडेलफिया में अनेक सभायें आयोजित की। इनमें दास-विरोधी व्यक्तिव्यों पर रोक लगायी गई और आम सभाओं, अखबारों तथा दूसरे मंचों से दास-विरोधी विषवमन पर प्रतिबंध लगाया गया, ताकि दक्षिणवासी समझौतावादी दृष्टिकोण अपना सके। किन्तु उनके समझौता प्रयास असफल रहे। और वह गृह-युद्ध को नहीं टाल सका। 12 अप्रैल 1861 को जब दक्षिणी कैरोलिना ने सुम्टर के किले पर बम फैंककर संघ के

विरूद्ध युद्ध छेड़ दिया तो लिंकन के लिए यह आवश्यक था कि वह सशस्त्र हस्तक्षेप द्वारा विघटित संघ की रक्षा करें ।

19.7 अमेरिका का ग्रह-युद्ध दास प्रथा का अन्त

अमेरिका का यह ग्रह-युद्ध 12 अप्रैल, 1861 में आरम्भ होकर 26 मई, 1865 में समाप्त हुआ। अमेरिका के इतिहास में इस ग्रह-युद्ध को दो नामों से लिखा गया है । उत्तरी राज्यों में इसे -महान विद्रोह कहा गया है और दक्षिणी राज्यों में "राज्यों का युद्ध" । हम यहां इसको गृह-युद्ध के नाम से ही लिखेंगे, क्योंकि यह संयुक्त राज्य अमेरिका की घरेलु लड़ाई थी । गृह-युद्ध के लिए कई कारण जिम्मेदार थे, जिनमें आर्थिक असमानता, तथा दास प्रथा मुख्य थे । उत्तरी राज्यों में उद्योगों की प्रधानता थी । वहाँ बड़े-बड़े उद्योगों का विकास तीव्र गति से हो रहा था । इन राज्यों में सूती ऊनी वस्त्र, जूते, चमड़े का सामान, लकडी की वस्तुएं बड़े पैमाने पर उत्पादित होती थी । इन कारखानों में मशीनों की सहायता से कार्य होता था और इनमें आर्थिक उन्नति के लिए दासों का विशेष उपयोग नहीं था । इसके विपरित दक्षिणी राज्यों का आर्थिक जीवन कृषि पर आधारित था । अत: इन राज्यों के किसान अपने खेतों के लिये गुलामों के श्रम पर ही निर्भर थे । दक्षिण में कपास, गन्ना, एवं तम्बाकू की खेती बहुत बड़े पैमाने पर होती थी, जिनमें दास मजदूर के रूप में कार्य करते थे । दक्षिण का समाज पूर्ण रूप से दासों पर निर्भर था । इन्हीं मतभेदों के कारण उत्तर तथा दक्षिण के स्वार्थ जुदा-जुदा थे और उनके बीच 1830 ई0 से ही तटकर एवं चुंगी के मामलों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी । प्रत्येक राज्य अपने-अपने स्वार्थों के कारण संघीय हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करता था । देश दो राजनैतिक दलों में विभक्त था । एक दल हर राज्य की प्रभुता का पक्षधर था, तो दूसरा मजबूत केन्द्रीय सरकार चाहता था । इसी आपसी मतभेद को समाप्त करने के लिए अब्राहम लिंकन ने ग्रह-युद्ध में भाग लेकर संघीय व्यवस्था को मजबूत बनाने का कार्य किया ।

गृह-युद्ध का मौलिक कारण दास-प्रथा थी । दास मालिकों ने इस प्रिय संस्था की रक्षा के लिए राज्य की सम्प्रभुता के प्रश्न पर संविधान की अनेक व्याख्यायें प्रस्तुत की, संघ से अलग हुए और ऐसे कार्य किये; जिनसे उत्तरवासियों के दिल में अविश्वास और रोष पैदा हुआ। लिंकन ने उत्तरी राज्यों की सैनिक शक्ति में वृद्धि कर दक्षिण को पूर्णत: जीत लेने का दृढ़ संकल्प कर रखा था । वह किसी भी कीमत पर संघ को टूटने से बचाना चाहता था । ग्रह-युद्ध के दौरान 1 जनवरी, 1863 को लिंकन ने अनी सुप्रसिद्ध "मुक्ति घोषणा" का एलान किया, जिसके अनुसार सब दास स्वंतत्र कर दिये गए और उन्हें राष्ट्रीय सेनाओं में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित भी किया गया । लगभग एक लाख पचास हजार नीग्रो दास उत्तरी सेनाओं में भर्ती हुए । इस घोषणा ने दक्षिणी राज्यों का मनोबल गिरा दिया । दक्षिणी दास भी उत्तरी दासों के समान स्वतन्त्र होना चाहते थे । अन्त में दक्षिणी सेना ने 9 अप्रैल 1865 को आत्म समर्पण कर दिया, इससे ग्रह-युद्ध समाप्त हो गया । लिंकन ने अमेरिका का यथार्थ रूप में संयुक्त राष्ट्रीय निर्माण किया, दासता का उन्मुलन कर समाज को नवज्योति दी तथा अमेरिकी राजनैतिक तन्त्र को केन्द्रित किया । किन्तु दुर्भाग्य वश अमेरिकी ऐतिहासिक एकता के सृजन

के स्रोत की 14 अप्रैल, 1865 को आकिस्मक हत्या कर दी गयी । किन्तु उसने मर कर भी चिरकालिक प्रान्तीय एवं संघीय राज्यों के अधिकारों के विवाद को सुलझा दिया। उसके प्रयासों से ही गुलामों को भी स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का अधिकार प्राप्त हुआ। संविधान के 14 वें और 15 वें संशोधनों द्वारा मुक्त दासों को अमेरिका की नगारिकता के पूर्ण अधिकार भी प्रदान किये गये । इस प्रकार लिंकन ने अपने राष्ट्रपति काल में विभाजित अमेरिकी राज्यों को संघीय शिक्त के अधीन लाने तथा दास लोगों को स्वतन्त्रता दिलवाने का महत्वपूर्ण कार्य किया ।

19.8 बोध प्रश्न

1- उन अधिनियमों की जानकारी दीजिये जिनके कारण दासता के प्रश्न को हल करने का प्रयास किया गया ।

2- उत्तरी राज्यों और दक्षिणी राज्यों के बीच क्या आर्थिक विषमताऐं थी । 100 शब्दों में उत्तर दें ।

3- निम्नलिखित वाक्यों को पढकर उनके सम्मुख सही या गलत (x) का निशान लगाइये ।

(1) क्या कोलम्बस ने अमेरिका के आदिवासियों को इण्डियन्स कहा था?

(2) 1824 में इंग्लैण्ड के सम्राट ने लन्दन कम्पनी के अधिकारों को समाप्त करने की घोषणा की, क्योंकि सम्राट स्वयं लाभ कमाना चाहता था?

(3) लंकाशायर की कपड़ा मिलों में खपने वाली रूई अमेरिका के दक्षिणी कपास बागानों से आती थी?

(4) अमेरिका में दास-प्रथा अधिक समय तक इस कारण नहीं चल पायी थी कि वहां के दास अधिक अमीर थे?

(5) काले लोगों को दासता से मुक्त करने हेतु अब्राहम लिंकन ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

19.9 सारांश

इस इकाई में आपने संयुक्त राज्य अमेरिका में काले लोगों के इतिहास का अध्ययन किया । आपने देखा होगा कि किस प्रकार अफ्रीका के काले नीग्रो लोगों को दास बनाकर अमेरिका के बाजारों में बेच दिया जाता था । जिससे इन दासों के परिवार छिन्न-भिन्न हो जाते थे । दास मालिकों द्वारा दासों के साथ निर्दयता पूर्वक व्यवहार किया जाता था, यहाँ तक की पशुओं से भी बदतर स्थिति दासों की थी । दक्षिण के लोगों ने दासों की मेहनत के आधार पर बड़े-बड़े बागान स्थापित किये थे । वे नहीं चाहते थे कि दास कभी स्वतन्त्र जीवन व्यतित करे । उत्तरी अमेरिका के लोग दास-प्रथा को घृणा की दृष्टि से देखते थे । वे मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाकर दासों की मुक्ति चाहते थे । अन्तत: अब्राहम लिंकन के अथक प्रयासों के कारण दास मुक्ति की घोषणा की गई । दास मुक्ति के प्रश्न को लेकर अमेरिका के उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों के बीच लगभग चार वर्ष तक गृह-युद्ध चला । अन्तत: उत्तरी राज्यों की विजय हुई और संघीय शक्ति की पुर्नस्थापना की गई, साथ ही काले लोगों को सभी नागरिक अधिकार भी प्राप्त हुए ।

19.9 सन्दर्भ ग्रन्थ की सूची

एडम्स.जे.टी - हिस्ट्री ऑफ दि. अमेरिकन पीपूल्स

एडम्स हेनरी - हिस्ट्री ऑफ दि यूनाईटेट स्टेट्स

एलसुन. एच. डब्लू - हिस्ट्री आफ दि यूनाईटेड स्टेट्स

बेली. टी0 ए0 - ए डिप्लोमेटिक हिस्ट्री आफ अमेरिकन पीपूल्स

कोमेगर एच0 एस0 - संयुक्त राज्य अमेरिका का संक्षिप्त इतिहास (हिन्दी)

करेंन्ट रिचर्ड एन एण्ड अदर्स - अमेरिकन हिस्ट्री-ए सर्वे

फ्रेकलिन, जान होप - फ्राम स्लेबरी टू फ्रीडम

हेनरी बेम्फोर्ड पार्क्स - दि यूनाईटेड स्टेट्स आफ अमेरिका

हारलों आर0 पी0 - दि यूनाइटेड स्टेट्स

हिट्टेन फ्रान्सेस - अमेरिकी इतिहास की रूपरेखा (हिन्दी)

केटलबी, सी0 डी0 एम0 - ए हिस्ट्री आफ मार्डन टाइम्स

कृष्ण बिहमरी वाजपेयी - संयुक्त राज्य अमेरिका का इतिहास (हिन्दी)

कोल.के.के - एक राष्ट्र: दो शताब्दियां (हिन्दी)

प्लेंट और ड्रमण्ड - अवर नेशन फ्राम इट्स क्रीएशन

रेंडाल जे0 जी0 - दि सिविल वार एण्ड रिकन्टाट्कशन

सक्सेना बनारसी प्रसाद - अमेरिका का इतिहास (हिन्दी)

शर्मा मथुरालाल - अमेरिका का इतिहास

mRrj inn'k jktf"k V.Mu
eqDr fo'ofo|ky;

MAHY-104
आधुनिक विश्व

एम.ए. पाठ्यक्रम
(इतिहास)

खण्ड-3
राष्ट्रवाद, पूँजीवाद एवं समाजवाद–5

इकाई संख्या

इकाई 20
प्रथम विश्व युद्ध के कारण व उसकी पृष्ठभूमि

इकाई 21
रूस की क्रांति की बौद्धिक नींव

इकाई 22
रूस की क्रांति एवं इसका प्रभाव

इकाई 23
लेनिन आंतरिक तथा विदेश नीति

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. बी.एस. शर्मा, कुलपति (अध्यक्ष)

प्रो. रविन्द्र कुमार
निदेशक, नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं
पुस्तकालय, नई दिल्ली

प्रो. बी.आर. ग्रोवर
पूर्व निदेशक, भारतीय इतिहास
अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली

प्रो. एस.पी. गुप्ता
इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम
विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ.प्र.)

प्रो. जे.पी. मिश्रा
पूर्व इतिहास विभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू
विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

प्रो. के.एस. गुप्ता
इतिहास विभाग, मोहन लाल सुखाड़िया
विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

डा. बृजकिशोर शर्मा
विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग कोटा
खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

डा. श्रीमती कमलेश शर्मा
इतिहास विभाग, कोटा खुला
विश्वविद्यालय, कोटा

डा. याकूब अली खान
इतिहास विभाग कोटा खुला
विश्वविद्यालय, कोटा

पाठ्यक्रम निर्माण दल

डा. अमीनुद्दीन
इतिहास विभाग
डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर

डा. याकूब अली खान
इतिहास विभाग कोटा खुला
विश्वविद्यालय, कोटा

प्रो. मंसूर हैदर
इतिहास विभाग,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

पाठ्यक्रम प्रभारी एवं सम्पादक

डा. (श्रीमती) कमलेश वर्मा,

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो.(डॉ.) नरेश दाधीच	**प्रो.(डॉ.)एम.के.घड़ोलिया**	**योगेन्द्र गोयल**
कुलपति	निदेशक(**अकादमिक**)	प्रभारी अधिकारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा	**संकाय विभाग**	**पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग**

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनः उत्पादन - मार्च 2011 MAHI-02/ISBN No.-13/978-81-8496-261-1

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

यूनिट-20
प्रथम विश्व युद्ध के कारण व उसकी पृष्ठभूमि

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 दूरगामी कारण

20.2.1 गुप्त सन्धि पद्धति

20.2.2 सैनिक वाद

20.2.3 उग्रराष्ट्रवाद

20.2.4 आर्थिक साम्राज्यवाद

20.2.5 समाचार पत्र व उनकी भूमिका

20.2.6 जातिवाद

20.2.7 नैतिक उद्देश्य

20.2.8 साम्राज्यवाद और जनमत

20.2.9 खोये हुवे क्षेत्रों की पुन: प्राप्ति का प्रश्न

20.3 अंतर्राष्ट्रीय अव्यवस्था

20.3.1 हेग सम्मेलन की असफलता

20.3.2 एक युद्ध दूसरे युद्ध को जन्म देता है

20.3.3 बिस्मार्क की कुटनीति व उसके परिणाम

20.3.4 फ्रांस की कुटनीति व उसके परिणाम

20.3.5 जर्मनी की महत्वोकाक्षां

20.3.6 जर्मनी व इंग्लैण्ड की नौसेना के क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्वता

20.3.7 जर्मनी की निकटपूर्ण की नीति

20.4 तात्कालिक कारण सराजीवो का हत्याकांड

20.5 बोध' प्रश्न

20.6 संदर्भ ग्रथं

20.0 उद्देश्य:-

इस इकाई में हमारा इरादा प्रथम विश्व युद्ध की पृष्ठ भूमि और उसके कारणों को बताना है। इसके पश्चात् इन कारणों का विस्तार से विश्लेषण किया जायेगा। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको यह स्पष्ट हो जायेगा कि-

- प्रथम विश्व युद्ध अन्य युद्धों से किस प्रकार भिन्न था।
- युद्ध के दूरगामी और तात्कानिक कारण क्या थे।
- क्या यह युद्ध विचारों का युद्ध था।

– क्या यह युद्ध आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम था।
– क्या यह युद्ध अवश्यम्भावी था क्या यह टाला जा सकता था।
– जिन उद्देश्यों के कारण यह युद्ध प्रारम्भ हुआ उनकी पूर्ति हुई या उद्देश्य और जुडते चले गये या परिणाम इस युद्ध के वो निकले जिनकी आशा नहीं की जा सकती थी।
– क्या युद्धग्रस्त देशों ने युद्ध की धटनाओ पर अपना नियंत्रण रखा या घटना चक्र उनके नियंत्रण से बाहर हो गया।

20.1 प्रस्तावना -

युद्ध जो 1914 में प्रारम्भ हुआ और चार साल और तीन महीने चला कई दृष्टि से मानव इतिहास में विचित्र था। इससे पूर्व के युद्ध जैसे फ़्रांसीसी राज्य क्रांति और नेपोलियन के युद्ध में अपने ही राज्य सम्मिलित थे और जयादा दिनों तक चले 1815 से हर दशक में कहीं ना कहीं युद्ध हुआ और युरोप अकेले में तेरह अलग-अलग युद्ध हुये इनमें वे युद्ध शामिल नहीं है जो यूरोपियन राज्यों ने यूरोप के बाहर लडे। किन्तु अगर साधारण शान्ति नहीं थी तो फिर साधारण-युद्ध नहीं था। ये पहला साधारण संघर्ष था जिनमें 20 वीं शताब्दी के सबसे ज्यादा संगठित राज्य लड़े। जिनको अपने नागरिकों पर पूरा अधिकार था, जिन्होनें आधुनिक औधोगिक उत्पादन शक्ति का भरपूर उपयोग किया और जिन्होने सुरक्षा और विनाश के नये-नये तरीके आधुनिक तकनकी के आधार पर खोजे। यह पहला युद्ध था जिसने बडे पैमाने पर 19 वीं शताब्दी से विकसित होने वाली अन्तराष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था को जर्जरित कर दिया इस युद्ध में यूरोप के उन राष्ट्रों ने भाग लिया जो लड़ा सामुहिक रूप से शेष संसार पर अपना नियंत्रण रखते थे। यह युद्ध बडे संकल्प से और उन्माद से गया क्योंकि प्रारम्भ में युद्धरत देशों का यह विश्वास था कि वे अपने अस्तित्व के लिए लड़ू रहें हैं। इसके पश्चात वे उच्च आदर्शों के लिए लड़े यह युद्ध यूरोप में पूर्णतया थकान के बिन्दू तक अथवा विनाश तक लड़ा गया जिसमें अद्वितीय विनाश हुआ कयोकि दोनों ही पक्ष बराबर के थे और युद्ध के लिए बड़े लम्बे समय से तैयारियां कर रहे थे। यह युद्ध जमीन पर, समुद्र पर, समुद्र के अन्दर लड़ा गया। टैंक और हवाई जहाज, युद्धपोत पनडुब्यिओं ने युद्ध को व्यापक बना दिया। नये आर्थिक स्त्रोत और मनोविज्ञानिक युद्ध पद्धति का भी उपयोग किया गया क्योंकि यह जन साधारण का पहला युद्ध था न केवन स्थल सेना, जल सेनाका था औधोगिक उत्पादन और नागरिकों के नैतिक मनोबल का भी बहुत महत्व था। दोनों तरफ का सैनिक नेतृत्व इस प्रकार के युद्ध लड़ने में अपने आपको असमर्थ पाता था। युद्ध जितने कुशल सैनिक पद्धति से जीते गये उतने ही शत्रुओं की गलतियों से भी। ऐसे क्षण भी आए जब नेता नागरिक और सैनिक सभी युद्ध की धटनाओ को नियंत्रित ना करने में अपने आपको असहाय पाते थे।

बिस्मार्क द्वारा लड़े गये युद्ध अपने कूटनितिक और राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बहुत ही छोटे युद्ध थे और उनका आधार विशेष लक्ष्य और सीमित जोखिम का था, किन्तु यह विश्व युद्ध शीघ्र ही अपने नेताओं के नियत्रण से बाहर हो गया इसके मूलभूत उद्देश्यों पर दूसरे कई लक्ष्यों का पर्दा पड़ गया। इसके परिणाम युद्धरत देशों के उद्देश्यों से भिन्न निकले।इस तरह यह इतिहास का ऐसा युद्ध था जिसके उद्देश्य में काफी भिन्नता थी एक बडी कीमत इसकी चुकानी पडी और इसके परिणाम भी निकले।

उपरोक्त बात को समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि युद्ध के कारणों का विश्लेषण किया जावे।

यूवानी इतिहासकार श्युसीडाइडीज ऐथींस और स्वार्टी के युद्धों का वर्णन करते हुये कहता है कि युद्ध के कारणों को हमें दो भागों में बांटना चाहिये एक दूरगामी अथवा मूलभूत कारण और दूसरे तात्कालिक कारण इस प्रकार कारणों को विभाजित करके समझने में आसानी होती है।

20.2 - दूरगामी कारण

दूरगामी कारणों को हम निम्न भागों में विभाजित करते है :-

20.21 गुप्त संधि पद्धति

20.22 सैनिक वाद

20.23 उग्रराष्ट्रीयवाद

20.24 आर्थिक साम्राज्यवाद

20.25 समाचार पत्र व उनकी भूमिका

20.26 जातिवाद

20.27 नैतिक उद्देश्य

20.28 साम्राज्यवाद और जनमत

20.29 खोये हुए क्षेत्रों की पुन: प्राप्ति का प्रश्न

20.3 अन्तराष्ट्रीय

20.30 अन्तराष्ट्रीय अव्यवस्था

20.31 हैग सम्मेलन की असफलता

20.32 एक युद्ध दूसरे युद्ध को जन्म देता है।

20.33 बिस्मार्क की कूटनीति

20.34 फ्रांस की कूटनीति

20.35 जर्मनी की महत्वकांक्षा

20.36 जर्मनी व इंग्लैण्ड की नौसेना के क्षेत्र में प्रतिद्वन्दता

20.37 जर्मनी की निकटपूर्ण की नीति

20.4 तात्कालिक कारण

20.4 तात्कालिक कारण सराजीवों की हत्या करना

गूच और टेम्परले ने लिखा है कि यह युद्ध डी-डी (Dreaded) सन्धि पद्धति के कारण हुआ जोकि आधुनिक युद्ध का अभिषाप था।

20.21 गुप्त सन्धि पद्धति :

इस पद्धति का विकास 1870-71 के फ्रंन्क्रो-प्रशयन युद्ध से हुआ इसने यूरोप को दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित कर दिया यह दो विरोधी गुट थे। त्रिराष्ट्र मैत्री और त्रिराष्ट्र

सौहार्द त्रिराष्ट्र मैत्री में जर्मनी आस्ट्रिया और इटली सम्मिलित थे। और त्रिराष्ट्र शहाई में इग्लैण्ड फ़्रांस तथा रूस शामिल थे।

एक दृष्टि से यह संधियां शांति बनाए रखने के लिए उपयुक्त थी क्योंकि संधि में सम्मिलित होने केले सदस्य एक दूसरे को अपना मित्र समझते थे और अपने आपको युद्ध में फंसाने से एक दूसरे को रोकते थे। परन्तु इसी पद्धति से युद्ध का होना भी अनिवार्य हो गया क्योंकि इसमें यूरोप की सभी बड़ी बडी शक्तियां शमिल थीं। हर एक दल के सदस्य अपने दल के दूसरे सदस्य का समर्थन करना अपना कर्तव्य समझते थे।

चाहे उस मामलें में उनकी प्रत्यक्ष रूप से रूचि हो अथवा नहीं हो क्योंकि ऐसा नाकरने की स्थिति में उस दल की शक्ति कमजोर होती। जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी का उसकी बाल्कन नीति में समर्थन करने के लिए मजबूर था क्योंकि ऐसा न करने पर जर्मनी को अपने अकेले विश्वास पात्र, मित्र को खो देने का भय था इसी तरह फ़्रांस का बाल्कन में कोई वित्तीय हित नही था किन्तु वह रूस का समर्थन करने में बाध्य था ऐसा ना करने से द्विराष्ट्र सौहार्द के अस्तित्व को खतरा हो सकता था। शाक्ति संतुलन बिगड़ सकता था औंर जर्मन आक्रमण के समय फ़्रांस की सुरक्षा की जो सबसे बड़ी जमानत थी वह समाप्त हो सकती थी। इसी प्रकार इंग्लैण्ड के विदेश मंत्रालय में अधिकारीगण यह सोचने लगे थे कि राष्ट्र मैत्री के विरूद्ध त्रिराष्ट्र मोहार्द की अखणडता को बनाए रखना आवश्यक है। जुलाई 1914 के संकट में प्रश्न आस्ट्रिया, सर्बिया और बाल्कन प्रति का ही नहीं था बल्कि यह दोनों ही गुटों की प्रतिष्ठा और अखण्डता का प्रश्न था जिसने यूरोप को दो गुटों में विभाजित कर दिया था।

20.22 सैनिकवाद :-

युद्ध का दूसरा सबसे बड़ा कारण जो गुप्त संधियों से जुडा हुआ था वह था सैनिकवाद जिसके दो अर्थ निकलते थे पहला स्थल और जल सैना के खतरनाक और बोझित संगठन जिसमें गुप्तचर, संदेह, भय और घृणा भी सम्मिलित थी। दूसरा अर्थ है कि शाक्तिशाली सैनिक और नौ सैनिक अधिकारियों को शाक्तिशाली वर्ग जो नागरिक अधिकारियों को राजनैतिक संकट के समय अपना प्रभाव जमाने की चेष्टा कर रहा था। बड़ी-2 सेनाओं का गठन जिसमें पुरूष जनसंख्या को सम्मिलित किया गया था। क्रांति के समय और नेपोलियन की देखरेख में बहुत पहले से सेना का गठन प्रारम्भ हो गया था। प्रशा ने इसे और बढाया और विकसित किया। 1 864,66 और 70 के युद्धों मे बिस्मार्क की सफलताओं के कारण प्रशा सैंनिक पद्धति को सराहा गया और पूरे यूरोपीयन महाद्वीप में इसका अनुसरण किया गया। फ्रेको-प्रशयन युद्ध के बाद यूरोप की सभी महान शक्तियों ने अपनी स्थल और जल शस्त्र दिन प्रतिदिन बढ़ाने प्रारम्भ कर दिये और वित्तीय बोझ भारी से भारी होता चला गया। जो शस्त्र एकत्र किये गये उनको कथित रूप से सुरक्षा और शांति के हितों की रक्षा के लिए उचित समझा गया। और यह प्रकट किया गया कि इससे सुरक्षा की भावना का जन्म होगा। यह तर्क इसलिए दिया गया कि विधान

सभाओं से धन की आवश्यक स्वीकृति प्राप्त की जा सके। वस्तुत: इसने व्यापक स्तर पर संदेह भय और घृणा देशों में पैदा की। अगर एक देश ने स्थल सेना को बढाया, सामरिक महत्व की रेलों को बिछाया, नये युद्धपोत बनाए तो पडौसी देश ने भी भयभीत होकर ऐसो ही किया इस प्रकार से शस्त्रों के भण्डार को बनाने का एक द्वन्द प्रारम्भ हो गया। यह स्थिति विशेष तौर से 1912-13 के बाल्कन युद्ध के समय और उसके बाद बनी। जब यह प्रकट, होने लगा तो इस युद्ध में बडी शक्तियां भी सम्मिलित हो जाएगी इसको संघी प्रणाली ने और हवा दी। जर्मनी आस्ट्रिया जो इटली की वफादारी के बारे में निश्चित थे विश्वास करने लगे कि अपनी सुरक्षा के लिए उन्हें शस्त्रों को बढ़ाना चाहिए। फ्रांस ने रूस को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे अपनी सेना और सामरिक महत्व की रेलों का निर्माण जर्मनी के विरूद्ध करें और इसके लिए पचास अरब फ्रेंन्क का सा भी उसको दे दिया इस शर्त पर कि, वह इसका उपयोग उपरोक्त कार्य में करें। रूस ने फ्रांस को उकसाया कि वह अपनी अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि दो साल मे बढ़ाकर तीन साल की कर दे। इसलिए सभी महाद्वीपी देशों में अनिवार्य सैनिक सेवा लागू कर की गई। रूसी युद्ध मंत्री ने कहा-

"रूस तैयार है फ्रांसको भी होना चाहिए।" इस प्रकार शस्त्रों की होड बढने लगी न केवल व्यक्तिगत रूप से किसी ईशा को सुरक्षा देने के लिए बल्कि उस गुट को शक्ति शाली बनाने के लिए भी जिनसे उनका संबंध है।

सैनिक वाद का एक अर्थ यह भी है-कि एक ऐसे प्रभावशाली सैनिक व नौसैनिक अधिकारियों का होना जिनका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण यह हो कि शीघ्रता से युद्ध का होना अगर अवश्यभावी नहीं है तो सम्भव तो है ही। इस प्रकार के व्यवसायिक योद्धाओं के लिए युद्ध के कारण उनको शीध्र पदोन्नति की और महान सम्मान की उम्मीदें बढ़ जाती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह केवल अपने व्यक्तिगत-स्वार्थो के लिए ही युद्ध करते थे। व्यक्तिगत उद्देश्यों के अतिरिक्त सभी सैनिक अधिकारियों में उच्च श्रेणी का राष्ट्रीय सम्मान और देश भक्ति भी थी और वे अपना पुनीत कर्तव्य भी समझते थे कि शस्त्रों की सहायता से अपने देश की रक्षा करें। रात दिन जनरल स्टाफ कम से कम सम्भावित समय में अपने पर होने वाले आक्रमण से निपटने के लिए तैयार रहता था। सैनिक अधिकारी साधारणतया इस सिद्धात में भी विश्वास करते थे कि आक्रमणात्मक युद्ध अधिक लाभकारी है इसका अर्थ शत्रु पर उस समय वार करना जब वह सेना की पूरी तैयारी कर ही रहा हो। दूसरा यह भी दृष्टिकोण था कि शत्रु का देश ही रण-भूमि बने। ना कि अपना देश इससे शत्रु का आर्थिक विनाश, राजनैतिक, और मनो वैज्ञानिक मनोबल का ह्रास होता है। इसलिए राजनैतिक संकट के समय सैनिक अधिकारी शीघ्र ही इस निर्णय पर पहुँच जाते ये कि युद्ध का होना आवश्यंभावी है। और अपने नागरिक, प्रशासनिक अधिकारियों को प्रभावित करने की चेष्टा करते थे- कि वह जहां तक शीध्र सभव हो उनको इसकी अनुमति प्रदान करने का लाभ उनको मिल जाएं किन्तु साधारण सेना कि लामबंदी (Mobilization) सैनिक दृष्टिकोण युद्ध को अनिवार्य बना देता है और लामबंदी जब एक बार प्रारम्भ हो जाए तो फिर इसको रोकना असम्भव है। यह सैनिक वाद की सबसे बड़ी एक बुराई है। और यही एक ऐसा संकट है कि जिसको कूटनीतिज्ञ ठंडे दिमाग से रोकना चाहे तो नहीं रोक

सकते और तब सैनिक नेता युद्ध का निर्णय शीघ्रता के साथ लेने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग करतें है।

सैनिकवाद की एक दूसरी बुराई यह है। जनरल स्टाफ की योजनाएं तकनीकी होती है और बहुत ही गुप्त तरीके से तैयार की जाती है ना वो केवल सदन बल्कि जनता से भी गुप्त रखी जाती थी। अक्सर विदेश मंत्री को भी बात की जानकारी नहीं होती थी अगर होती भी तो वह उस तकनीकी योजना के महत्व को समझ नहीं सकता था। इंग्लैण्ड का विदेश मंत्री सर एडबर्ग गिरे कहता है कि 1906 और 1911 के बीच उसकी उन योजनाओं के बारे मे कुछ भी जानकारी नही थी जो अंग्रेजी और फ्रांसीसी सैनिक अधिकारी आंगल फ्रांसीसी सैनिक सहयोग के लिए उत्तरी फ़्रांस में बना रहे थे इसी प्रकार से रूस में विदेश मंत्रालय के एक अधिकारी का जब यह बताया गया कि रूस के सैनिक अधिकारियों ने आस्ट्रिया के विरुद्ध आंशिक लामबंदी की योजना बनाली है उसने इस योजना को एक मूर्खता कहा।

सैनिक वाद की एक अन्य बुराई यह थी कि जनरल स्टाफ अपनी योजनाओं को गुप्त रूस से बनाते थे। और यह समझते थे कि यह सैनिक विजय के लिए सबसे उत्तम है किन्तु वह उसकी राजनैतिक गुत्थियों के बारें में कोई परवाह नहीं करते थे और जब युद्ध अवश्यंभावी हो जाता था तब प्रशासनिक अधिकारियों पर बहुत दबाव पड़ता था कि जो योजना सैनिक अधिकारियों ने गुप्त रूप से बनाई है उसे स्वीकृति प्रदान करें इस प्रकार का सैनिक दृष्टिकोण सभी देशों में पाया जाता था किन्तु यह बात दूसरी है कि किस देश में और कहां तक सैनिक अफसर प्रशासनिक अधिकारियों पर प्रभावी होते हैं।

इसी प्रकार से बड़े-2 उधोगपति भी और शस्त्रों के निर्माण करने वाले प्रशासनिक अधिकारियों पर दबाव डालते थे। कुछ सैनिक अधिकारी इस बात में विश्वास करते थे कि निवारक युद्ध लड़ा जाना चाहिए। अर्थात जब पड़ोसी कमजोर हो तो युद्ध छेड़ देना चाहिए ताकि उसकों शाक्तिशाली होने से रोका जा सके। इसलिए प्राय: यह कहा जाता है कि जर्मनी 1914 में युद्ध चाहता था। जिससे कि वह सलाववाद से अन्तिम रूप से निपट ले और रूस अपनी सैनिक पुनर्गठन के महान कार्यक्रम ''पूर्ण नही'' कर पाये। इसी प्रकार फ्रांसीसी नेता 1914 में युद्ध चाहते थे जिसके कि जर्मनी अपनी तेज गति से बस्ती हुई जनसंख्या, धन और नौसेना के कारण अधिक शक्तिशाली ना हो जाए। इसी तरह से रूस के सैनिक नेता भी शीघ्रता से युद्ध करना चाहते थे। इग्लैण्ड भी इस बात से खुश था कि उसको बढ़ती हुई जर्मन नौसेना को कुचलने का मौका मिले। हमसे पहले जर्मन नौसेना बढ कर इंग्लैण्ड के लिए खतरनाक ना हो जाए। किन्तु निवारक युद्ध विश्वयुद्ध के लिए कोई निर्णायक कारण नहीं था केवल आस्ट्रिया हंगरी में इस सिद्धान्त का काफी प्रभाव था। क्योंकि आस्ट्रिया हंगरी में साधारणतया यह जाना जाता था कि एक ना एक दिन शीघ्र या देर से सर्विया के साथ संबंध होना है। इसलिए वहां के सैनिक अधिकारी बार-2 कहते ऐसी स्थिति शीध्रता से युद्ध करना ज्यादा अच्छा है। युवराज की हत्या की घटना ने उनको एक अच्छा बहाना प्रदान कर दिया जिससे कि वे महान सर्बिया के खतरे को रौंद डाले।

इस बात में कोई सच्चाई नहीं है कि जर्मन अधिकारी युद्ध का स्वागत इसलिए करना चाहते थे कि इसमें समाजवाद की बढ़ती हुई बाढ़ को रोका जा सके। इसी तरह रूस भी युद्ध को

पंसद करता था क्योकि इससे वह मजदूरों की हड़तालों और क्रांतिकारी बैचानी को कुचलने का अच्छा अवसर प्राप्त कर सके। इसमें भी कोई ज्यादा सच्चाई नहीं है। इसलिए कहा जा सकता है कि सैनिकवाद अर्थात् सैना का प्रशासनिक अधिकारियों पर प्रभाव एक गंभीर मामला था। जो तीन पूर्वी राजतंत्रों में देखा जा सकता था जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस, फ़्रांस में यह बहुत कम था और इंगलैण्ड में वस्तुतया था ही नहीं क्योंकि वहां साधारण नागरिक सेना और आधुनिक शोध से अब यह प्रमाणित हुआ है कि जुलाई 1914 के पूर्व के समय में विभिन्न देशों के उच्च सेना अधिकारी राजनयिक सम्बन्धों का निर्धारण नहीं करते थे तथा उन्होनें अपनी युद्ध योजनाएं राजनैतिक नेताओं द्वारा किए गऐ फैसलों के अनुरूप बनाई जुलाई 1914 के संकट में भी जब राजनैतिकों के प्रयत्न असफल होते प्रतीत हुए, तब सेना अधिकारी सक्रिय कार्य करने लगे थे, इससे पूर्व नहीं।

20.23 उग्र राष्ट्रीयता :-

उग्र राष्ट्रीयता युद्ध के बड़े कारणों में से एक कारण था। राष्ट्रवाद बहुत ही विचित्र और कुटिल तरीकों से काम करता था इसने जर्मनी और इटली के एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका पर्दा की तो दूसरी ओर उसने ओटोमन साम्राज्य को खत्म कर दिया। और आस्ट्रिया के मोनाकी को खण्डित करने की धमकी दी अपने विकृत रूप में इसने सौ साल तक राष्ट्रीय स्वतंत्रता और एकता के नाम पर बाल्कन में अनेक युद्धों को जन्म दिया। यह बाल्कन प्रान्त में इतना महत्व पूर्ण तत्व था कि प्रथम विश्वयुद्ध को प्रत्यक्ष तात्कालिक

गुरूदेव टैगोर ने उग्रराष्ट्रवाद को शान्ति का शत्रु कहा है। राष्ट्रवाद के सिद्धान्त में प्रथम विश्व युद्ध युरोपियन देशों की दो परस्पर विरोधी पद्धतियों के बीच शक्ति परीक्षण था। राष्ट्रवाद को लौर्ड एक्टन ने एक मूर्खतापूर्ण खूनी सिद्धान्त बताया है जिसने बहुत नुक्सान पहुँचाया। इसने यूरोप को धृणा और संदेह का पिटारा बना दिया किसी अन्य क्षेत्र में राष्ट्रीय भावनाएं इतनी भड़कीली नहीं थी जितनी जर्मनी में थी।

इसने राष्ट्रीय गौरव को उत्तेजित किया और जर्मनी को इतना महत्वाकांक्षी बना दिया कि वह विश्व शान्ति के लिए खतरा बन गया। हर राष्ट्र के लोग अपनी सभ्यता संस्कृति आचार विचार को अन्य राष्ट्रों से श्रेष्ठ समझने लगे। बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों पर प्रभावी होने लगे। उग्रराष्ट्रीयता का नशा जर्मनी, फ़्रांस आदि देशों पर ही नहीं चढा वरन बाल्कन प्रायद्वीप के युनान सर्बिया आदि छोटे-2 देशों पर भी चढ गया। उग्र राष्ट्रीयताकी लहर में बहकर राज्यों को अन्य देशों के हितों, स्वार्थो और इच्छाओं का कोई ध्यान नहीं रहा। प्रत्येक राष्ट्र ने केवल अपनी शक्ति समृद्धि और व्यापार को प्रोत्साहन देना शुरू कर दिया। इससे ओपनिवेशिक प्रतिस्पर्घा पैदा हो गई। यूरोप का वातावरण विशान्त बने गया। यूरोपियन देश गुटबंदी में फंस गये।

20.24 आर्थिक साम्राज्यवाद :-

इसमें अन्तराष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्वता आती है। जो इग्लैण्ड में औधोगिक क्रांति का परिणाम था। जब उधोगों का विकास संसार के अन्य देशों में हुआ और जब वस्तुओं का अधिक मात्रा में उत्पादन किया जाने लगा तो इसने नये बाजारों की खोज और सस्ती कच्ची साम्रगी के नये स्त्रोतों के लिए संघर्ष को जन्म दिया औधोगिकरण के कारण जन संख्या में वृद्धि हुई जिसका

कुछ भाग संसार के उन क्षेत्रों में चला गया जहाँ अभी लोग जाकर बसे नहीं थे और इस तरह महान शाक्तियों में औपनिवेशिक द्वन्द्व तेज हो गया। इसके अतिरिक्त पूँजी को जन्म दिया जिससे विदेशों में नियोजन की आवश्यकता बढ़ी और इसने आर्थिक शोषण और राजनैतिक प्रतिस्पर्धा को बढाया। इन कारणों से महान शाक्तियों ने अफ्रीका का विभाजन आपस में कर लिया। चीन में अपने लिए कुछ क्षेत्र और प्रभाव क्षेत्र हासिल किए तुर्की और अन्य क्षेत्रों में निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। 19 वीं शताब्दी के अन्तिम 25 वर्षो में और बीसवीं के प्रारम्भ में नयेबाजार कच्चा माल और उपनिवेशों के लिए संघर्ष बहूत तीव्र हो गया। इसका मुख्य कारण यह था कि इस प्रतिद्वन्द्व में जर्मनी व इटली शामिल हो गए थे। अब तक यह देश राजनैतिक आधार पर शामिल हो गए थे। अब तक यह देश राजनैतिक आधार पर कमजोर व विभाजित थे। अब इन्होने राष्ट्रीय एकता प्राप्त कर ली थी और इस बात के इच्छुक थे कि संसार के विभाजन में अन्य शक्तियों के साथ हिस्सा बटोरने में आगे आए। 1914 तक युरोप की महान शक्तियों ने अफ्रीका के कई भू-भाग पर टुकडे करके अपना अधिकार कर लिया था। चीन में इटली अपने लिए कोई लाभ प्राप्त करने में असफल रहा। रेल निमार्ण के मामले में जो आर्थिक साम्राज्यवाद का महत्वपूर्ण कार्यो में से एक कार्य था क्योंकि इसमें राजनैतिक और आर्थिक दोनों ही हित प्राप्त होते थे। अग्रेंजों ने Cape of Good से Cape of Cairo काहेरा तक रेलवे लाईन का निर्माण किया। रूस ने ट्रांस (Trans Siberea) साइबेरिया की रेलवे लाइन बनाई और जर्मनी ने बर्लिन-बगदाद रेलवे लाइन का निर्माण किया पहली रेलवे लाईन के कारण जर्मनी, बैल्जियम, और फ्रांसकी महत्वाकाक्षाओं में टकराव आया दूसरी रेलवे लाईन कुछ हद तक रूस, जापान युद्ध के लिए उत्तरदायी बनी। तीसरी रेलवे लाईन ने जर्मनी और त्रिराष्ट्र मैत्री के बीच सन्देह और तनाव उत्पन्न किया।

संरक्षात्मक कर पद्वति

यह आधुनिक औद्योगिक पद्धति के साथ-2 चलती है, आर्थिक साम्राज्यवाद का दूसरा स्वरूप था। पैरिस युद्ध और इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उठाये जाने वाले कार्यो ने देशों के बीच तनाव उत्पन्न किया विशेषकर उस व्यक्ति के मस्तिष्क में जोकि बाजार में और पत्र-पत्रिकाओं में है। हमेशा यह खतरा बना रहता था कि बडे-2 व्यापारी उद्योगपति सरकारी सहायता से अपने लिए आर्थिक लाभ प्राप्त करते रहते है। इसने एक शासन में दूसरे शासन के प्रति तनाव पैदा करने की भूमिका बनाई साधारणतया आर्थिक साम्राज्यवाद को युद्ध के एक बड़े कारण के रूप में बढा चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाता है अक्सर यह कहा जाता है कि जर्मनी के औद्योगिक विकास जिससे इग्लैण्ड को ईर्ष्या थी, इन दोनों देशों के बीच युद्ध को देर-बेदेर अवश्यम्भावी बना दिया यह विचार उचित नहीं है। इस विचार का जन्म इस तथ्य पर आधारित है कि जनसाधारण के मस्तिष्क में आर्थिक प्रतिद्वन्द्वता को बढ़ा चढ़ाकार प्रस्तुत किया जाता है क्योंकि यह एक ऐसा विषय है जोकि समाज के सभी वर्गो की जेब को छूता है इसलिए इस पर साधारणतया ज्यादा चर्चा की जाती है और संभवतया अन्य प्रश्न जैसे गुप्त सन्धियां, सैनिकवाद और राष्ट्रीयवाद की तुलना में ज्यादा अच्छा समझता है। अक्सर ऐसा भी होता है कि महान व्यपारी व उधोगपति अखबारों के मालिक होते है या अखबारों को नियंत्रित करते है जोकि आपने निजी स्वार्थो के कारण आर्थिक प्रश्नों को बढा चढाकर कर प्रस्तुत करते हे अगर उन कुटनीतिक

पत्रों को पढा जाए जो युद्ध से पहले लिखे गए तो इस बात पर आश्चर्य होता है कि इन कुटनीतिक पत्र व्यवहार में आर्थिक प्रश्नों को बहुत कम स्थान दिया गया है इसके विपरीत एक व्यापारी और पत्र के सम्पादक के मष्तिक में भूत के तरह से घूमता है। आर्थिक प्रतिद्वन्द्वता कम और प्रतिष्ठा सीमाऐं, सेना, नौ सेना, शाक्ति संतुलन, गुप्त संधियां ऐसे प्रश्न है जिनमें कूटनीतिक पत्र व्यवहार में बहुत ज्यादा कागज काले किए गये हैं और हर देश के विदेश मंत्रालयों में इस चीज ने तापमान को खतरे के बिन्दु तक बढा दिया है।

20.25 समाचार पत्रों की भूमिका :

अखबारों के माध्यम से जनमत को विष से भरने, युद्ध का दूसरा कारण है यह सभी महान देशों में किया गया। अक्सर सभी देशों के अखबार राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजित करते थें, विदेशो में होने वाले घटनाओं को तोड मरोड़ कर पेश करते थे, और उन तथ्यों को छुपा लेते थें, जिसमें शान्ति को बढावा मिले। युद्ध से पहले 40 सालों के कुटनीतिक पत्रों का अध्ययन यह बताता है कि उस समय की सरकारों ने अनेक मामलों में अच्छे संबंध व मैत्री संबंध स्थापित करने की इच्छा दिखायी। किन्तु अपने-2 देशों में उनके इस कार्य में अखबारों के युद्ध प्रिय व्यवहार से बाधा पड़ी। राजदूतों ने और काबीना मंत्रियों ने बार-2 इस बात को स्वीकार किया कि उनके देशों में देश के बड़े-बड़े अखबारों का रवैया मुर्खतापूर्ण है और इसके लिए उन्होनें क्षमा याचना भी की और यह वादा भी किया वे इसको रोकने की चेष्टा करेगे। अगर दूसरा देश भी अपनी प्रेस के प्रति इसी प्रकार नीति का अनुसरण करे। यह प्राय: गंभीर प्रयास थे और युद्ध के पहले 25 वर्षों मे इग्लैण्ड व जर्मनीके संबंधों में देखे जा सकते है। दूसरे मौकों पर मंत्रियों ने प्रेस के आधार पर कुछ लाभ प्राप्त करने की कोशिश की या अपने रवैयों का बचाव किया यह कह कर कि उनके कार्यो की स्वतंत्रता, प्रेस व जनमत के किसी विवादस्पद बिन्दू पर दूसरे देश की बात मान ली ती जनता व अखबारों में इतना हुल्लड मचाया जाता था कि उस मंत्री को कार्य मुक्त कर दिया जाता। इस प्रकार के आरोप कभी कभी सही होते थे। अन्यथा गलत। विशेष कर केन्द्रीय व पूर्वी युरोप में जहां कि सरकारें अपनी प्रेस पर इंग्लैण्ड की तुलना में ज्यादा नियंत्रण रखती थी। फिर भी यह बात सत्य है कि दो देशों के अखबार अक्सर किसी विवादग्रस्त बिन्दू को अतिश्योक्तिपूर्ण उसे बढाते थे और आक्रमण प्रति आक्रमण करते थे, जब तक कि नियमित अखबारी युद्ध प्रारम्भ न हो जाए। यह कार्य जनमत को बहुत प्रभावित करता था और ऐसी उपजाऊ भूमि तैयार कर देता था जिसमें वास्तविक युद्ध का बीजारोपण सरल हो जाए। इसका एक उदाहरण आस्ट्रिया व सरबीया के बीच प्रेस युद्ध है जोकि आर्कड्यूक फर्डीनेन्ट (Arck Duke Ferdinand) की हत्या से प्रारम्भ हुआ जोकि हफ्तों तक चलता रहा। यह एक ऐसा मामला है जिसमें दोनों देशों की सरकारें अपने देश की ओर से क्षमा याचना करतीं अथवा उसको रोकने की चेष्टा करती बल्कि इसके विपरीत उन्होनें जान बूझकर अखबारों को जनमत को उत्तेजित करने की छूट देती। जिससे युद्ध के लिए जोश पैदा किया जाए। सम्भवतया: यह कहना तो अतिश्योक्ति होगी कि आस्ट्रिया व साईबेरिया के अखबारों में ऐसा संघर्ष नहीं होता तो युद्ध को टाला जा सकता। किन्तु यह सत्य है कि सरबीयन अखबारों की उग्रता ने काउन्ट डिसूजा (Count Tisza) को अपना मत बदलकर सरबिया के साथ युद्ध को स्वीकार करना पड़ा।

वह प्रारम्भ में युद्ध का कट्टी विरोधी था और उसकी सहमति के बिना सरबीया के विरूद्ध युद्ध प्रारंभ नहीं किया जा सकता था। प्रेस की स्वतंत्रता, सेंसरशिप पत्रकारिता पर उस समय तक बहुत कुछ लिखा गया किन्तु खेद का विषय था कि शासन का प्रेस पर नियंत्रण और प्रेस द्वारा राष्ट्रीयता और युद्ध को प्रभावित करने के विषय पर बहुत कम लिखा गया। बिस्मार्क का यह कथन उस समय की प्रेस की सही दिशा को दर्शाता है। हर देश प्रेस के द्वारा तोड़ी हुई खिडकियों के लिए दोषी ठहराया जाता है जैसे ही कोई विधेयक प्रस्तुत किया जाता है तो दूसरे देश में उसकी घोर प्रतिक्रिया होती है। इस प्रकार प्रेस ने युद्ध की भूमिका तैयार करने में महत्वपूर्ण भाग लिया। साथ ही उस समय का साहित्य भी इसके लिए उत्तरदायी है। इग्लैण्ड में, दी इगलिशमेन होम (The English man’s home) नामक पुस्तक प्रकाशित हुई और गर्म केक के समान इग्लैण्ड में बिक गई। इस पुस्तक में लेखक यह दर्शाता है कि एक बार जर्मनी ने इग्लैण्ड पर आक्रमण किया और जर्मन सेना का कुछ भाग, इग्लैण्ड की भूमि पर उतर आया। किन्तु इग्लैण्ड के मित्र ने इग्लैण्ड का साथ दिया और जर्मन की नौ सेना को इग्लैण्ड से खदेड़ दिया अंग्रेज लोगों के मस्तिषक पर इस पुस्तक ने यह प्रभाव जमायाकि जर्मनी इग्लैण्ड का शत्रु है और इग्लैण्ड को अपनी जल सेना की बढोतरी करनी चाहिए और इस प्रकार लेखक ने अपने देश को जर्मनी के विरूद्ध युद्ध करने के लिए प्रेरित किया। एक अंग्रेज पत्रिका में एक निबंध छपा कि हमें जर्मनी को नष्ट कर देना चाहिए। एडिनबर्ग रिव्यू Edinburge Review जोकि एक मासिक पत्रिका थी, उसमें एक आर्टिकल छपा जिसमें यह बताया कि एक जर्मन की मृत्यु इग्लैण्ड में एक अंग्रेज की सुख समृद्धि का प्रतीक है, इससे यह स्पष्ट होता है कि इंग्लैण्ड की खुशहाली व विकास, जर्मनी के विनाश पर निर्भर करता है। फ्रांस में भी जहां पर युद्ध निवृत्तिवाद अधिक था कभी-2 प्रतिशोध की भावना में राष्ट्रीय युद्ध करने का शोर सुनायी देता था, जर्मनी में प्रेस, इग्लैण्ड के प्रति बहुत ही शत्रुता बरतता था इसी तरह फ़्रांस के समाचार-पत्र जर्मनी के विरूद्ध लिखा करते थे।

इंग्लैण्ड के समाचार पत्रों में केसर विलियम की कटू आलोचना की जाती थी। 1914 में रूस में मोटी-2 सुर्खियों मे यह लेख छपा "रूस तैयार है, फ्रास को भी तैयार रहना चाहिए।" इसको पढकर केसर विलियम बहुत क्रोधित हुआ अब तक यह बताया गया कि समाचार पत्र दो देशों में मतभेद का कोई प्रश्न चुन लेते थे तथा उस पर तब तक उसके उत्तर प्रतिउत्तर में लगे रहते थे जब तक कि नियमित ''समाचार पत्र युद्ध नहीं शुरू हो जाता था, परन्तु ऐसे तर्क देना "समाचार पत्रों" की भूमिका की आवश्यकता से अधिक महत्व देना होगा। उस समय की सरकारें अक्सर समाचार पत्रों की अवहेलना कर सकती थी। वह समाचार पत्रों पर दबाव डाल कर विशेष प्रकार के लेख छापने को भी कह सकती थी वास्तव में उस समय देखने को आया समाचार पत्रों के विचारक भी प्रभाव डालते थे जब विदेश मंत्रालय तथा मंत्रीमण्डल के विचार भी समाचार पत्रों के विचारों के अनुरूप हो। जहां तक जुलाई 1914 के संकट का प्रश्न है यह देखा गया है कि किसी देश में समाचार पत्रों ने सरकारों को युद्ध के लिए नहीं उकसाया।

20.26 जातिवाद :

19वीं शताब्दी के अन्त तक दो जातिएं आन्दोलन बाल्क्न क्षेत्र में चल रहे थें, एक था, अखिल स्लावबाद (Pan SLAVISM) दूसरा था अखिल जर्मनवाद (Pan Germanism)

20.26.1 अखिल स्लाववाद:

यह आन्दोलन कैट कौफ (Kat Koff) ने रूस में प्रारम्भ किया था, उसका उद्देश्य था कि समस्त दक्षिण पूर्वी युरोप पर रूस का नियंत्रण होना चाहिए। बालकन प्रान्त में रहने वाले अधिकांश लोग स्लाव जाति के थे, किन्तु अभी वे एकता के सूत्र में बधें नहीं थे, हजारों स्लाव, आस्ट्रिया के नागरिक थे रूस का सम्राट जाति से स्लाव था। इस तरह बाल्कन व रूस में रहने वाले लोगों में जातिय आधार में सद्भावना थी। रूस का सम्राट इस अखिल स्लाववाद का नेता था। उसने इस आन्दोलन को प्रोत्साहित किया क्योंकि वह बाल्कन प्राप्त में रूसी हितों को सुरक्षित करना चाहता था। अखिल स्लाववादियों ने कई सम्मेलन आयोजित किए थे। इस तरह के सम्मेलन की अध्यक्षता जार ने की थी और उसने सम्मेलन में भाग लेने वाले सदस्यों को अपना भाई सम्बोधित किया था। इस जातिय आन्दोलन के पीछे राजनैतिक उद्देश्य भी थे।

20.26.2 अखिल जर्मनवाद:

ट्रीश्चय Treitche और निश्चय (Nietzsehe) दो जर्मन राजनैतिक विचारक थे और उन्होने अखिल जर्मनवाद को प्रारम्भ किया। 1894 में इसकी स्थापना की गई थी, जिसमें समस्त जर्मन की एकता को जोर दिया गया था, और कहा गया था कि पितृ राज्यों के हितों को आगे बढाया जाय। इस आन्दोलन के कुछ सदस्य खुलेआम जर्मनी के आस पास की सीमावर्ती क्षेत्रों पर अधिकार करने की बात करते थे। इस वर्ग ने आक्रमणात्मक सम्राज्यवाद को हवा दी और सारे वातावरण में भय उत्पन्न कर दिया। जिसके कारण युद्ध हुआ।

इस आन्दोलन के कुछ समर्थकों का यह कहना था कि जर्मन सभ्यता सर्वश्रेष्ठ है और-जर्मन, ईश्वर की चुनी हुई संतान हैं। इस लिए उनका जन्म संसार में हुकूमत करने के लिए हुआ। यह आन्दोलन इस प्रकार से विश्व राजनैतिक पर आधारित था। निकटपूर्व (Near East) में इस दोनों वादों अखिल स्लाववाद व अखिल जर्मन वाद का टकराव हुआ। जर्मनी, बाल्कान प्रायद्वीप, में अपना नियंत्रण स्थापित नहीं कर सकता था, जब तक रूस उसमें रूचि रखता था। दोनों आन्दोलन दक्षिण पूर्वी यूरोप में बढने की चेष्टा कर रहे थें। एक वाद (Ism) उत्तर से पूर्व की और विस्तार चाहता था तो दूसरा वाद पश्चिम से पूर्व की ओर और विस्तार चाहता था और इन दोनों आन्दोलनों को कहीं न कहीं मिलना था। और जहां कहीं भी यह मिलेंगे वहां युद्ध अवश्य होना था। जब तक यह मिले नहीं युद्ध नहीं हुआ। बालकन प्रायद्वीप इन दोनों के बीच विवाद का कारण था और अन्त में युद्ध हुआ क्योंकि एक तरफ रूस के हित और दूसरी तरफ आस्ट्रिया व जर्मनी के हित टकराए। ऐसी परिस्थिति में युद्ध को टाला नहीं जा सकता था।

20.27 नैतिक उद्देश्य जोकि राजनीति से जुडे हुए थे:

जब कोई राष्ट्र दुनिया के अन्य देशों को सभ्य बनाने का लक्ष्य निर्धारित करते तो नैतिक उद्देश्य राजनैतिक उद्देश्यों के बहुत निकट आ जाते हैं। फ़्रांस एक ऐसा राष्ट्र था, उसका एक कुटनीतिज्ञ जुलियस फेरी इन्हीं उद्देश्य की पुर्ति हेतु फ्रांसीसी साम्राज्य का विस्तार चाहता था। उस समय के प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखकों ने उसके इस विचार का समर्थन किया।

इसी प्रकार प्रो0 सिली की लिखी हुई पुस्तक The Expansion of England 1883 में प्रकाशित हुई जिसमें लेखक ने यह बताया कि अविकसित जातियों को सभ्य बनाने के महान अवसर इग्लैण्ड को उपलब्ध है अगर उसकी इन अवसरों का उपयोग करना चाहिए। इसके पश्चात् जर्मन प्रो0 (Treitche) ट्रिश्चय ने भी सम्राज्य वाद का पक्ष लिया। क्योंकि साम्राज्यवाद के माध्यम से जर्मन संस्कृति का विस्तार चाहता था। कैसर विलियम ने यह घोषणा भी की थी कि ईश्वर ने हमें संसार को सभ्य बनाने को कहा है और हम मानवीय विकास के पुजारी है। यहां तक रूस भी एशिया को सभ्य बनाने में अपना कर्त्तव्य समझने लगा। इस तरह के विचारों में विश्वयुद्ध के बीच मौजूद थे।

20.28 साम्राज्यवाद और जनमत:

जनमत की मूर्खता का सबसे बड़ा उदाहरण यह था कि वह साम्राज्यवाद का समर्थन करता था। यह सत्य है कि फ़्रांस, इग्लैण्ड और इटली में प्रतिक्रिया का युग आया किन्तु इन देशों के कुटनीतिज्ञ भी साम्राज्यवाद का समर्थन करने लग गये थे। साम्राज्यवाद एक सुन्दर खेल था जिसमें खिलाड़ियों के लिए बडी बडी बाजी लगी हुई थी और ना खत्म होने वाला उत्साह, खिलाडी थे, उस समय इस प्रकार का खेल, खेलने के अयोग्य थे। इस प्रकार के साम्राज्यवाद ने युद्ध के बीज बोए।

20.29 इररिडेन्टिस्म (IRREDENTISM)

यह एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ है वेक्षेत्र जिनको वापस नही लिया जा सका। जो राजनैतिक, भौगोलिक और नैतिक आधार पर एक राष्ट्र और एक देश से जुडे हुए किन्तु दूसरे देश ने उन पर कब्जा कर रखा है। यूरोप में इस प्रकार के कई क्षेत्र थे और जिन देशों ने अपने-2 क्षेत्र खो दिए थे वे उन्हें पुन: प्राप्त करना चाहते थे। इस तरह इस विचारधारा ने बहुत से राष्ट्रो को युद्ध के लिए अग्रसर किया महत्वपूर्ण ऐसे क्षेत्र थे, एल्साम और लोरेन, ट्रिस्ट (Trieste) और टाइरॉल। फ्रान्स एल्मार, लोरेन वापस लेना चाहता था जो जर्मनी के पास थे। इटली, ट्रिस्ट व टाइराल (Tyrole) लेना चाहता था कि किन्तु यह क्षेत्र आस्ट्रिया के क्षेत्र में थे।

दूसरे महत्वपूर्ण ऐसे क्षेत्र थे बोसनिया (BOSNIA) हरजेगोविना (HERZE-GOVINA) सन्जाक ऑफ नावी बाजार (Sanjak of Novi Bazar) यह तीनों क्षेत्र सरबिया के उत्तर में थे, जातीय आधार पर सरबीया इन तीनों क्षेत्रों पर नियंत्रण रखना चाहता था किन्तु यह आस्ट्रिया के पास थे। बल्गेरिया, महान बल्गेरिया का सपना देख रहा था। बड़े दुर्भाग्य की बात यह थी कि रूस, कुस्तनतुनिया को ऐसा ही क्षेत्र समझता था, और यह उसकी मान्यता थी कि उसकी कुस्तुनतुनिया पर अधिकार करने का हक है। इसलिए फ़्रांस, सरबिया और रूस युद्ध के

इच्छुक थे, जिससे वह इन क्षेत्रों पर अधिकार कर ले और जब युद्ध शुरू हुआ तो एक रूसी दूत ने कहा कि यह एक छोटा सा युद्ध है और रूस से इसको थोडा सा ही लाभ होगा। और वह कुस्तुनतुनिया पर कब्जा कर लेगा । इस प्रकार IRREDENTISM भी युद्ध का कारण बना।

20.3 अन्तराष्ट्रीय अव्यवस्था और अराजकता :

यूरोप के देशों में अन्तराष्ट्रीय संबंधों और शान्ति और राष्ट्रीय सुरक्षा की जमानत के लिए कोई प्रभावशाली पद्धति विकसित नहीं हुई थी। सारे देश युद्ध को राष्ट्रीय नीति का एक साधन समझते थें। वियेना, पैरिस और बर्लिन और फिर बाद में यूरोप की संयुक्त व्यवस्था, यह सब विशेष उद्देश्यों से बुलाए गये थे इसलिए यह स्थाई तौर से निरन्तर कार्य नहीं करते थें। हर एक राष्ट्र यह समझता था कि वह एक जंगल के संसार में रहता है कभी उस पर हमला किया जा सकता है। इसलिए उसे हमेशा चौकन्ना रहना चाहिए ज्यादा अच्छा तो यही है कि अपने पड़ोसी पर आक्रमण करने की शाक्ति उसमें होनी चाहिए। दूसरे पर आक्रमण करके उस पर अधिकार करना राष्ट्रीय सफलता की सबसे बड़ी परीक्षा थी। दूसरे के क्षेत्र को जीत कर विलय करना सम्मान और प्रशंसा का पात्र बना देता था। लेकिन कोई भी देश अपने आपको अकेला चाहे रक्षात्मक हो अथवा आक्रमणात्मक हो शक्तिशाली नहीं समझता था इसलिए उसे हमेशा मित्रों की आवश्यकता रहती थी अनिवार्य रूप से कूटनीतिक समझौते गुप्त होते थे वरन् सारी योजनाएं विफल हो सकती थीं। 1870 के पश्चात् सैनिक संधियों की शुरूआत बिस्मार्क ने की थी। जिसके परिणाम स्वरूप यूरोप दो भागों में विभाजित हो गया। एक त्रिराष्ट्र सौहार्द और एक त्रिराष्ट्र मैत्री जब एक बार संकट उत्पन्न हुआ तो फिर अन्तरराष्ट्रीय अराजकता इस संकट को टाल नहीं सकती थी।

20.31 हैग (HAGUE) सम्मेलन की असफलता :

सभी यूरोपीयन शक्तियों के लिए सहज शांति एक बहुत बडा बोझ था। उदाहरण के लिए सैनिक खर्चा 1872 से 1912 के बीच विभिन्न देशों का इस प्रकार बढ़ गया था जर्मनी 335% रूस 214%, इटली 185%, इग्लैण्ड 180%, अस्ट्रिया हंगरी, 155% और फ्रांस 133%।

इसको बनाए रखने के लिए ज्यादा से ज्यादा कर लगाए जाने लगे जिससे समाज के सभी वर्गों में बेचैनी बढी। एक व्यापक शांति आंदोलन ने जन्म लिया जिसका उद्देश्य यह था कि राष्ट्रों के बीच सभी विवादों का समाधान युद्ध के स्थान पर पंच पद्धित से किया जाए। अलफ्रेड 'नोबेल ने अपनी पूँजी के एक भाग को उस राष्ट्र को वार्षिक देने के लिए कहा जो। शान्ति के क्षेत्र में, विज्ञान के क्षेत्र में तथा साहित्य के क्षेत्र में महान सेवा करे ।एंड्री व कारनेगी ने शान्ति के प्रचार के लिए काफी पैसा खर्चा किया।

1898 में The Future of war नामक पुस्तक की रचना Ivan Block ने की जिसमें लेखक ने यह बताया कि आधुनिक परिस्थितियों में युद्ध असंभव है। इससे विश्वव्यापी आर्थिक हानि और भुखमरी फैली। The great Ilusion नामक पुस्तक अंग्रेज नोरमन नामक लेखक ने प्रकाशित की जिसमें यह बताया गया कि आधुनिक और आर्थिक स्थिति सैनिक सफलताओं को व्यर्थ बना देती है। चाहे युद्ध जीत लिया जाए किन्तु आर्थिक जीवन की

कठिनाईयों को जीता नहीं जा सकता। 1898 में निकोलस द्वितीय ने एक अन्तरराष्ट्रीय गोष्ठी बुलाने का सुझाव दिया जिससे कि वर्तमान के शस्त्रों की बढ़ोतरी को रोका जा सके क्योंकि इस प्रकार के शस्त्रों की बढ़ोतरी सभी देशों के लिए हानिकारक है। परिणामस्वरूप हैग में पहला शान्ति सम्मेलन प्रारम्भ हुआ जिसमें 26 देश शामिल हुए किन्तु राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा के कारण हैग सम्मेलन को विशेष सफलता नहीं मिली दूसरा सम्मेलन 1907 में हुआ जिसमें 44 देशों ने भाग लिया किन्तु शस्त्रों को सीमित करने में इसको भी कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली लेकिन हेग में एक न्यायालय अवश्य स्थापित कर दिया जो राष्ट्रों के बीच स्थाई पंच न्यायालय के रूप में कार्य करे अगर कोई देश अपने विवाद उसे सौंपना चाहे तो।

हेग सम्मेलन अपने मुख्य उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल रहा क्योंकि इसके बाद कई छोटे-2 युद्ध हुए। इससे यह स्पष्ट होता है कि युद्ध को समाप्त करने के लिए संसार के देश गंभीर इरादे नहीं रखते थे अगर हेग सम्मेलन अपने उद्देश्य में सफल हो जाता तो संभव है प्रथम विश्व युद्ध को टाला सकता था।

20.32 एक युद्ध दूसरे युद्ध को जन्म देता है यह बात कई बार प्रमाणित हो चुकी है। प्रथम विश्वयुद्ध 1870-71 में लड़े गये फ्रेंन्कों प्रशियन युद्ध का ही परिणम हैं। इस युद्ध के बाद फ्रांस और जर्मनी में 1871 से 1914 तक शत्रुता बनी रही जर्मनी की ओर से बिस्मार्क का मुख्य उद्देश्य 1871 की व्यवस्था को बनाए रखना था। और जर्मनी के लिए कम से कम एक पीढी की शांति की जमानत चाहता था जिससे की वह अपनी नयी प्राप्त की हुई राष्ट्रीय एकता को संगठित कर सके। उसने यह घोषणा भी की थी कि जर्मनी एक संतुष्ट राज्य हैं। जहां तक फ़्रांस का प्रश्न है एक बार जब प्रतिशोध की भावना से उत्तेजना और निवारक युद्ध के भय की संभावना खत्म हो गई तो उसका मुख्य उद्देश्य मित्र ढूंढना था। जिसके कि वह अपने आपको मित्रहीनता से बचा सके। जो 1871 में उसकी हार का कारण बना इस दृष्टि से दोनों शत्रुओं का मुख्य लक्ष्य रक्षात्मक उपाय था ना कि आक्राणात्मक। यहां तक कि ऐल्सास और लारेन को पुन: प्राप्त करने की इच्छा से ज्यादा फ़्रांस को चिन्ता युरोप में जर्मनी की नयी प्रभुसता को चुनौती देने का उपाय तलाश करने की थी। जर्मनी ने पश्चिमी और केन्द्रीय युरोप में अपने आपको सुपरपावर बना लिया था अब तक यह भूमिका फ़्रांस की थी, तथा शक्ति संतुलन को बिगाड़ दिया था। कई शताब्दियों में पहली बार शक्ति संतुलन में फ़्रांस अबखतरनाक नहीं रहा था बल्कि इंग्लैण्ड की भांति उसकी नीति का मुख्य लक्ष्य यूरोप में पुन: शक्ति संतुलन बनाना था।

इंग्लैण्ड इस कार्य में फ्रांस की कोई सहायता करने में इच्छुक नहीं था। क्योंकि इंग्लैण्ड ने यूरोप की पांच बडी शक्तियों में स्वाभाविक ही शक्ति संतुलन देखा जबकि इससे पहले यूरोप में चार ही शक्तियां थी। और वह आस्ट्रिया-हंगरी और प्रशा की बजाए फ़्रांस अथवा रूस को युरोप की शाक्ति संतुलन के लिए खतरा समझता था। इसलिए उसने जर्मनी की बढ़ती हुई सत्ता की गुत्थियों को नही समझा। यहां तक कि 1904 में भी फ़्रांस को ही अपना मुख्य शत्रु समझता था उसके शाक्ति संतुलन की विचारधारा भी फ़्रांस और इटली से भिन्न थी। दुकानदारों का एक राष्ट्र होने के नाते जोकि विश्व के बैंकर के रूप में विकसित हुआ, इंग्लैण्ड हमेशा बैंक

में अपनी बचत रखना पसंद करता था जिसकी जमानत पर वह अपनी आवश्यकताओं के लिए धन प्राप्त कर सके और जब यह बचत कम होने लगी तो अपने प्रयासों से फिर बढ़ा दे। युरोप के प्रति उसका यही दृष्टिकोण था और संविधान की भातिं जिसमें और बैलेंस की व्यवस्था है वह सभी देशों की स्वतंत्रता को सुरक्षित भी करना चाहता था। फिर भी वह अपनी ओर से किसी युरोपियन समस्या में उलझना भी नहीं चाहता था जब तक उसको यह विश्वास ना हो जाए कि कोई एक सत्ता' इतनी शक्तिशाली हो गई है कि वह यूरोप की स्थिरता को चुनौती दे, तभी वह अपने आपको उसके विरूद्ध शक्ति संतुलन बनाए रखने के लिए धकेलता था। उसकी परम्पराएं, उसके हित, यूरोप के प्रति उसका कर्तव्य इन सबको वह अपनी शानदार पृथ्थ्यकरण की नीति में समाये रखता था।

20.33 बिस्मार्क की कूटनीति :

जब बिस्मार्क ने इंग्लैण्ड की पृथ्थ्यकरण की नीति को देखा तो उसने अस्ट्रिया-हंगरी को अपना बड़ा साथी बनाया। इससे पहले तीन सम्राटों का संध 1873 में समाप्त हो चुका था। दो जर्मन शक्तियों का द्वि गुट 1879 में बना परन्तु कुछ वर्षो तक गुप्तरहा और इसी ने 1882 ने त्रिगुट की नींव डाली। 1878 के बर्लिन सम्मेलन ने आस्ट्रिया को बिस्मार्क का बड़ा साथी प्रमाणित किया और रूस को फ्रांस का संभावित मित्र बनने के लिए छोड़ दिया। 1879 की द्विगुट संधि ने अस्ट्रिया-हंगरी को जर्मन सहायता का विश्वास दिलाया, अगर उस पर रूस की और से ओर से आक्रमण होता है तो जर्मनी उसका साथ देगा ! इस प्रकार यह एक रक्षात्मक संधि थी। बिस्मार्क ने रूस को फ्रांस से साथ मिलने से रोकने के लिए 1881 में ड्राईकेसरवंध में शामिल कर लिया। जो व्यवस्था 1887 तक रही और 1887 में उसने रूस के साथ रिइन्श्योरेंस की संधि की 1883 में रोमानिया भी त्रिराष्ट्र मैत्री ट्रिपल एलाइन्स में शामिल हो गया।

फ़्रांस की कूटनीति :

त्रिराष्ट्र सोहार्द की नींव 1893 के फ्रांस रूसी मैत्री से बनी जब 1890 में बिस्मार्क जर्मन चांसलर नहीं रहा तो 1887 की रिइन्श्योरेस संधि की पुनरावर्ती नहीं हुई। इसलिए जब फ़्रांस ने अपने अकेलेपन को मिटाने के लिए रूस से सम्पर्क किया तो रूस ने उसका अच्छा उत्तर दिया। इसके अतिरिक्त रूस को फ्रांसीसी मित्रता की भी काफी जरूरत थी। इस तरह 1893 के अंत में रूस और फ़्रांस के बीच एक सैनिक समझौता हो गया। परन्तु इसकी शर्तो के बारे में जानकारी 1918 तक नहीं मिली। और इस प्रकार 1893 में फ्रांस ने बिस्मार्क की कूटनीति को विफल कर दिया।

1902 में इग्लैण्ड ने जापान के साथ संधी कर ली यह संधी रूस के विरूद्ध थी लेकिन जर्मन की नौसेना की बढ़ती हुई शक्ति के कारण और जर्मनी की कूटनीतिक भूलों के कारण इग्लैण्ड, फ़्रांस की ओर झुकता हुआ दिखाई दिया। कैसर ने बोवर नेता कूगर को तार भेजा तो इससे इग्लैण्ड को बहुत ही लज्जा आई। किंगएडवर्ग सप्तम ने पेरिस की यात्रा की वहां उसका भव्य स्वागत किया गया। फ़्रांस के राष्ट्रपति ने लन्दन की यात्रा की और इस प्रकार अप्रेल 1904 में इग्लैण्ड फ़्रांस के बीच एक मैत्री संधी हुई जो पचास साल से भी ज्यादा जीवित रही ये

समझौता मूलतय: औपनिवेशिक समझौता था। तीन वर्षों के बाद ये समझौता त्रिराष्ट्र सौहार्द में बदल गया। जब इग्लैण्ड और रूस के बीच 1907 में एक सैनिक समझौता हुआ तो यूरोप दो शिवरों में बंट गया

जब से युद्ध का आरम्भ हुआ तब से यूरोप के इस विभाजन को युद्ध का महत्वपूर्ण कारण माना गया है परन्तु ये कहां तक प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने के कारण बने ये तो इस पर निर्भर था कि विभिन्न देश इन संधियों तथा समझौता से किस सीमा तक बाध्य थे। यद्यपि त्रिराष्टीय सौहार्द 1914 तक निरन्तर नवीनीकरण होता रहा तब भी ईटली ने समय समय पर फ्रांस, रूस तथा ब्रिटेन में इन देशों के साथ मिलकर युद्ध लड़ा जर्मनी तथा आस्ट्रिया के साथ मिलकर नहीं यद्यपि 1882 से त्रिराष्ट्र मैत्री का सदस्य रहा था। इसी प्रकार मोरक्को संकट के समय रूस ने फ्रांस का साथ नहीं दिया। 1912-13 के दौरान दोनों शिविरों के प्रमुख सदस्यों ब्रिटेन तथा जर्मनी ने युरोप में शान्ति बनाये रखने के लिए मिलकर प्रयत्न किये। महायुद्ध के आरम्भ होने से कुछ ही साप्ताह पूर्व जर्मनी तथा ब्रिटेन ने बगदाद रेल मार्ग से संबंधित एक समझौता हुआ था इसका अर्थ यह है कि युरोप का दो शिविरों में विभाजित होना निरर्थक था। सभी देशों के सैनाध्यक्षों ने जो युद्ध योजनाएं तैयार की हुई थी वे इन्हीं संधियों और समझौता के अनुरूप थी। जुलाई 1914 की संकटपूर्ण स्थिति मे भी विभिन्नदेशो में विभिन्न फैसले किये गये तथा कदम उठाये गये वे भी उनके मध्य समझौतो के अनुरूप ही दें। इसलिए कहा जा सकता है कि दो शिविरों में इस विभाजन ने युद्ध को अवश्यमभावी नहीं बनाया।

20.35 जर्मनी की महत्वाकांक्षा :

1871 में जब जर्मनी का एकीकरण हुआ तो उसके चांसलर ने 1870 से 1890 तक रक्षात्मक नीति का अनुसरण किया। उसने अपना यह उद्देश्य युद्ध के द्वारा नही बल्कि अपनी कूटनीतिकता से पूरा करना चाहा। इसके लिए उसने त्रिराष्ट्र मैत्री की जिसका प्रतिरोध उसके पतन के बाद त्रिराष्ट्र सौहार्द में प्रकट हुआ। यूरोप इस प्रकार से दो प्रतिद्वन्द्वी गुटों में विभाजित हो गया ऊपरी रूप से शक्ति संतुलन पुन: स्थापित हो गया। किन्तु वास्तविकता यह है कि त्रिराष्ट्र मैत्री ज्यादा शक्तिशाली थी। जर्मनी यूरोप की सैनिक दृष्टिकोण से महान शक्ति बन गया था और अब वह विश्व मे, अपनी धाक जमाना चाहता था। 1900 तक महान शक्तियों ने संसार को आपस में बांट लिया था किन्तु जर्मनी का हिस्सा उसके शक्ति के अनुपात में नही था और उसने इसका प्राप्त करना चाहा। जर्मनी की क्या महत्वाकांक्षा थी ? यह मालुम करना है। जर्मनी अपनी बढ़ती हुई जनसत्ता के लिए एक स्थान चाहता था 1871-1880 तक छ: लाख से ज्यादा जर्मन अपनी पैतृक भूमि को छोड़कर अन्य देशों के नागरिक बन गये थे।

इस प्रतिद्वन्द्विता के कारण उनके राजनैतिक संबंध कभी नहीं टूटे जैसाकि बताया गया हे। 1912 से 1914 के मध्य ब्रिटेन और जर्मनी ने कई क्षेत्रों में एक दूसरे को सहयोग दिया। इसके अतिरिक्त दोनों द्वारा काफी मात्रा में वस्तुओं का आयात निर्यात किया जाता था। ब्रिटेन व जर्मनी कई स्थानों पर प्रतिस्पर्धी थे। किन्तु फिर भी ब्रिटेन उक्त व्यापार की नीति

बनाए रखने में सफल रहा। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि व्यापारिक प्रतिस्पर्धा युद्ध के लिए अनुकूल परिस्थितियां स्थापित करने में सफल हुई। जहां तक औपनिवेशिक प्रतिद्वन्द्वता का सवाल है ये ठीक है कि इन प्रश्नों को लेकर यूरोप में न केवल तनाव बढ़ा बल्कि संकटपूर्ण स्थिति भी प्रकट हुई। परन्तु फिर भी ये मानना पड़ेगा कि अफ्रीका के बंटवारे या अन्य भाग में दबाव के कारण युरोपीय देशों में युद्ध नहीं हुआ। वैसे भी ब्रिटेन तथा फ्रांस और ब्रिटेन तथा रूस कई दशकों से संसार के विभिन्न भागों में एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। तब भी उन्होने न केवल औपनिवेशिक झगड़े सुलझाए बल्कि समझौतों की शर्तो के अलावा भी एक दूसरे को सहयोग दिया। इससे ऐसा नहीं लगता कि इस कारण महायुद्ध हो सकता था।

जर्मन लोगों को जर्मन रखा जा सकता था इस प्रकार जर्मन अपनी प्रतिष्ठता और अपनी महत्वकांक्षा के कारण यूरोप के अन्य देशों से पीछे नहीं रहना चाहता था। इस दौड़ में उसके प्रतिद्वन्द्वी थे इंगलैंड, फ्रांस और रूस। उन्होनें पहले से ही एशिया और अफ्रीका के धनाढ़य क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया था और अब जर्मनी के लिए कुछ बचा नहीं था। इस तरह 1900 से लेकर 1901 तक जर्मनी की संतुष्ट न होने वाली साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा प्रथम विश्वयुद्ध का मूल कारण बनती हुई दिखाई दी।

20.36 जर्मन की नौसेना और इंग्लैण्ड के साथ उसकी प्रतिद्वन्द्विता:

जर्मनी इस बात को समझता था कि एक विश्व शक्ति बनने के लिए जल सैना का होना बहुत आवश्यक है इसके लिए उसने तेजी से अपनी जल सेना का निमार्ण करना प्रारम्भ किया। इंग्लैण्ड को ज्यादा चिन्ता होने लगी। और इंग्लैण्ड यह समझने लगा कि वह संसार की सबसे बडी नौसैनिक शक्ति नहीं रह सकता इस खतरे को दूर करने के लिए इंग्लैण्ड ने फ्रांस तथा रूस के साथ त्रिराष्ट्र सौहार्द की जर्मनी ने इस रक्षात्मक संधि को इंग्लैण्ड की एक ऐसी नीति समझा जिससे की वह जर्मनी को घेरना चाहता है। इससे इंग्लैण्ड और जर्मनी के संबंध खराब हुए। इस तरह सबसे बडी स्थल शक्ति और सबसे बडी जल शक्ति के बीच द्वन्द्व शुरू हुआ यह प्रथम विश्व युद्ध का कारण बना।

20.37 जर्मनी की निकटपूर्व की नीति :

जब जर्मनी की हर क्षेत्र के विस्तारवादी नीति पर रोक लगा दी गई तो उसने अपनी महत्वाकांक्षाओं को सन्तुष्ट करने के तुर्की में रूचि लेना शुरू किया। और आस्ट्रिया की बाल्कन नीति का समर्थन किया और जब आस्ट्रो-सर्बियन प्रतिद्वन्द्विता में बाल्कन प्रांत में कई संकट उत्पन्न किये तो आस्ट्रिया ने जर्मनी को (Shining Armor) शानदार कवच में पाया। जर्मनी ने यह सोचा कि आस्ट्रिया के बाल्कन प्रति में विस्तार से जर्मनी का प्रभाव भी बाल्कन प्रान्त में बढ़ जाएगा। और उसकी बर्लिन-बगदाद रेल लाइन योजना को बल मिलेगा। इस रेलवे लाइन की योजना से इंग्लैण्ड को भय हो गया। यूरोप के अन्य राष्ट्रों ने इसका विरोध किया क्योंकि इससे जर्मनी का साम्राज्य पूर्व में बढ़ सकता था। इससे यूरोप में युद्ध की आग सुलगने लगी।

यूरोप 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब दो गुटों में विभाजित हो गया जिसमें एक का नेतृत्व जर्मनी कर रहा था और दूसरे का इंग्लैण्ड। इन दोनों दलों ने एक-एक बार कूटनीतिक स्तर पर अपनी पराजय की कड़वाहट चख ली थी। मोरक्को संकट के समय जर्मनी को अपनी

हार स्वीकार करनी पड़ी थी और 1908 में इंग्लैण्ड के गुट को उस समय हार स्वीकार करनी पडी जब अस्ट्रिया ने 1878 के बर्लिन सम्मेलन के निर्णय के विरुद्ध बोस्निया और हर्जी गोविना को अपने राज्य में विलीन कर लिया इसलिए अब यह अनुमान लगाया जा रहा था कि विश्व में अगर कोई संकट उत्पन्न होता हे तो यह गुट अपनी हार स्वीकार नहीं करेंगे। बाद में जब बोस्निया का संकट आया तो दोनों ही दल अपनी-2 बात पर डटे रहे। इस कारण प्रथम विश्व युद्ध का होना अवश्यंभावी हो गया।

उपरोक्त कारणों से अन्तराष्ट्रीय तनावपूर्ण स्थिति तो अवश्य उत्पन्न हुई परन्तु इस स्थिति को देखकर ये नहीं कहा जा सकता कि युद्ध होना अवश्यंभावी हो गया वास्तव में राष्ट्रीय हितों की रक्षा करना आर्थिक, सैनिक स्थिति को मजबूत करना, औपनिवेश स्थापित करना आदि सभी बातें राष्ट्रीय की भावना के आय तथा मजबूत होने की तथा अन्तराष्ट्रीय संबंधों की देन है और इनके कारण जो तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई थी वह प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने से एक दशक पूर्व के समय में भी देखी जा सकती है प्रश्न ये उठता है कि 25 जून आस्ट्रिया हंगरी के युवराज की हत्या होने से जो परिस्थितियां उत्पन्न हुई उनमें क्या ऐसी विशेषताऐं थी जिनके कारण महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। ये केवल तात्कालिन कारण न होकर एक ऐसी घटना थी जिसके चारों और विभिन्न देशों वे हितों में टकराव पैदा हुआ जिसमें ऐसा लगा कि फैसला युद्ध से ही किया जा सकता है। यदि सर्बिया पर दबाव डालकर शांति बनाए रखने का प्रयत्न किया जाता तो रूस की मानहानि होती और यदि आस्ट्रिया पर दबाव डालकर समझौता किया जाता तो आस्ट्रिया के अस्तित्व के लिए खतरा बढ जाता।

20.4 तात्कालिक कारण साराजीवो का हत्याकाण्ड :

1914 में प्रिन्सिंप जो सरबिया का नागरिक था, उसने आस्ट्रिया के राजकुमार फर्डिनेंड Ferdinand की हत्या कर दी। हत्या का स्थान बोसनिया की राजधानी साराजीवो था। आस्ट्रिया ने 1908 में सरबिया को अपने राज्य में विलय कर लिया था। यह हत्या निश्चित रूप से युद्ध का तात्कालिक कारण बनी। अब प्रश्न यह उठता है कि यह राजनैतिक हत्या क्यों की गई। 20वीं सदी के प्रारंम्भ से ही आस्ट्रिया व सरबिया में प्रतिद्वन्द्विता थी। सरबिया, यूरोप का विस्फोटक केन्द्र था इसका कारण यह था कि सरबिया चारों ओर से भूमि से घिरा हुआ था उसके पास कोई बन्दरगाह नहीं था। सरबिया की राष्ट्रीय महत्वकांक्षा थी कि अपने उत्पादन के लिए सस्ता कच्चा माल के प्राप्ति हेतु उसको कोई जलमार्ग चाहिए। आस्ट्रिया इसका विरोध करता था। आस्ट्रिया के विरोध का क्या कारण था जिसको सुअर राजनीति Swain Politik कहते है। यह नीति कया थी? सरबिया सुअर का मांस निर्यात करता था, किन्तु इसके पास कोई जलमार्ग नहीं था, इसलिए वह विदेशों को मांस कैसे निर्यात करता? इंग्लैण्ड को इस मांस की बहुत जरूरत रहती थी। वह को अच्छा माल चुकाने को तैयार था किन्तु, इंग्लैण्ड को मास निर्यात कर दे तो अस्ट्रिया को मांस सस्ता नहीं मिल सकता था क्योंकि सरबिया के पास कोई जलमार्ग नहीं था इसलिए आस्ट्रिया स्वंय के द्वारा निर्धारित की गई मूल्य पर खरीदना चाहता था। इस तरह के विवाद को इतिहास में सुअर राजनीति के नाम से जाना जाता था आस्ट्रिया ने सरबिया के विकास के मार्ग बंद कर दिये थे। सरबीया के लोग बहुत परेशान थे। सरबिया के

कृषकों को विश्वास था कि आस्ट्रिया हंगरी उनकी सुख समृद्धि के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिए वह आस्ट्रिया-हंगरी के शासक से बहुत घृणा करते थे।

इस विवाद में एक राजनैतिक तत्व भी था, अधिकांश सरबिया के निवासी जाति से स्लाव थे। सर्बिया का हित ये मांग करता था कि सर्बिया एक शक्तिशाली स्लाव राज्य बने इसके लिए उसे बाल्कन प्रायद्वीप के कुछ स्लाव क्षेत्रों पर अधिकार कर लेना चाहिए। आस्ट्रिया इसका विरोध करता था, आस्ट्रियन साम्राज्य के बहुत से लोग भी स्लाव जाति के थे। अगर सर्बिया को एक शक्तिशाली राज्य बनने दिया तब आस्ट्रियन सम्राज्य में रहने वाले स्लाव इस नव स्थापित स्लाव राज्य से मिलने के लिए उतारू होगें। इससे आस्ट्रिया का राज्य छिन्न भिन्न हो जाएगा।

1866 की लड़ाई में मध्य यूरोप से आस्ट्रिया को अलग कर दिया गया था इसकी क्षतिपूर्ति वह किसी और सत्र में करना चाहता था इसके लिए उन्होंने बाल्कन प्रायद्वीप को चुना था इसलिए आस्ट्रिया ने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए जो नीति बनाई उसको पूर्व की ओर बढ़ो (Drive towards the East) कहते हैं। इस नीति का परिणाम यह निकला कि 19 वीं शताब्दी के अन्त तक बाल्कन प्रायद्वीप के निम्नलिखित क्षेत्रों पर आस्ट्रिया और सर्बिया दोनों अपनी नजरें रखते थे बोस्निया और हर्जिगोविना दूसरा सनजॉक ऑफ नौवी बाजार तीसरा मोंटीनीग्रो जातीय आधार पर यह तीनों क्षेत्र सर्बिया के नियंत्रण में होने चाहिए अगर सर्बिया इन क्षेत्रो को प्राप्त करने में सफल हो जाता तो सर्बिया एक शक्तिशाली राज्य ही नहीं होता बल्कि उसको कुछ अच्छे बंदरगाह भी मिल जाते, जिससे कि उसकी सुअर राजनीति की समस्या का समाधान हो जाता इसके विपरीत आस्ट्रिया के हित ये माँग करते थे कि सर्बिया को शक्तिशाली राज्य नहीं बनने दिया जाए। यही प्रथम विश्वयुद्ध का मूल कारण था।

सर्बिया कया करे ? 1908 तक सर्बिया को यह आशा थी कि वह बोस्नियां और हर्जेगोविना पर अधिकार कर लेगा। किन्तु 1908 में आस्ट्रियन साम्राज्य ने बोस्निया और हजैगोविना को अपने राज्य में विलय कर लिया। सर्बिया के लिए यह विलय जोरदार झटका थी क्योंकि अब तक सर्बिया यह आशा लगाये हुए था कि शीघ्र या देर से बोस्निया पर अधिकार करके एड्रियाटिक तक पहुंच जाएगा। उसका यह दावा राष्ट्रीयता पर आधारित था किन्तु जब 1908 में आस्ट्रिया ने बर्लिन सम्मलेन 1878 का उल्लंघन करके इसको अपने राज्य में मिला लिया तो सर्बिया की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। इसलिए सर्बिया का शासन युद्ध चाहता था। इसलिए वह इसके लिए तैयारियाँ करने लगा। गुप्त सर्बियन संघों की स्थापना की गई, जो आस्ट्रिया के अधिकारियों की हत्या करके बोस्निया और हर्जेगोविना में आंतक उत्पन्न करके आस्ट्रिया को वहां से खदेड़ना चाहता था। इस प्रकार की संस्था, को "काला हाथ" कहते थे। किन्तु प्रिन्सेप इस संस्था का सदस्य नहीं था वह एक गुप्त समिति "युवाबोस्निया" का सदस्य था। काला हाथ समिति को सरकार ने कभी मान्यता नहीं दी थी परन्तु सर्बिया के बड़े-2 पदाधिकारी व्यक्तिगत रूप से इसके सदस्य थे। इस समिति ने युवराज की हत्या की योजना बनाई थी। सर्बिया की सरकार को जब इस योजना के बारे में पता लगा तब उन्होंने इसे आग देने की सलाह दी। परन्तु प्रिन्तेप और उसके साथियों ने ऐसा करने को मना कर दिया था, इस पर सर्बिया कि सरकार ने इस योजना का समर्थन नहीं किया तथा आस्ट्रिया को इस बात को

संकेत दिया कि शायद युवराज की हत्या का प्रयत्न किया जाए। इसलिए आस्ट्रिया के शासन ने इस धृणित हत्या के लिए सर्बिया के शासन को ही उत्तरदायी ठहराया और उसने इसका पूरा ना होने देने के लिए कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठाये। युगोस्लाव इतिहासकार वलाटीमीर ने प्रिंसेप।

हत्यारों का, उनके समय की राजनीतिक व सामाजिक स्थिति का, उनके राजनैतिक तथा व्यक्तिगत उद्देश्यों का विस्तार से अध्ययन किया। इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि युवराज की हत्या बोस्निया तथा सर्बिया की क्रांतिकारी समितियों के संयुक्त प्रयत्नों का परिणाम थी। इसलिए इस घटना से सर्बिया को आस्ट्रियन लोगों ने हत्यारों का राष्ट्र कहा इस धटना के बाद आस्ट्रिया ने सर्बिया को एक अन्तिम चुनौती दी जिसकी शर्ते बहुत ही आपत्तिजनक थी और यह कहा कि 48 घण्टे में इसको पूर्णतय स्वीकार कर लिया जाए। ये शर्ते स्पष्टतया यह सोच कर तैयार की गई थी कि सर्बिया इन्हें कभी नहीं मानेगा। जर्मनी तथा इटली में इन शर्तो के विषय में विचार विमर्श नहीं किया गया। इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा रूस ने आस्ट्रिया को समझाया कि वह समय सीमा में वृद्धि करे किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। इस अन्तिम चुनौती की एक शर्त यह थी कि सर्बिया की पुलिस पर आस्ट्रिया का नियंत्रण होगा जिसका अर्थ यह था कि आस्ट्रिया को सर्बिया की गहनीति में स्वतंत्रता मिल जाए सर्बिया ने आस्ट्रिया की सभी शर्ते मान ली सिवाय इस शर्ते के कि अगर सर्बिया आस्ट्रिया की इस शर्ते को स्वीकार करता है तो आस्ट्रिया की सार्वभौम सत्ता का उल्लंधन होता है। दुनिया के अन्य देश इन बातों को निकट से देखते रहे। सर्बिया का शासन इसकी क्षतिपूर्ति करना चाहता था एवं लिखित क्षमापत्र भी देना चाहता था। किन्तु आस्ट्रिया इसके लिए तैयार नहीं हुआ। सर्बिया इस पूरे विवाद को हेग न्यायालय में भी सुपुर्द करना चाहता था अथवा इसको बडी शाक्ति के सम्मेलन में प्रस्तुत करने का इच्छुक था किन्तु आस्ट्रिया ने सारे सुझाव अस्वीकार कर दिये। इस तरह प्रथम विश्वयुद्ध का होना अनिवार्य हो गया। 25 जुलाई को 48 घण्टे की अवधि समाप्त होने से पहले ही आस्ट्रिया के अल्टीमेटम का उत्तर भेज दिया गया। किन्तु सर्बिया के उत्तर को असंतोषजनक मान कर अस्वीकार किया गया और सर्बिया के साथ राजनीतिक संबंध तोड़ लिये गये। 25 जुलाई से ही रूस ने अपनी सेना को सर्तक कर दिया। जब आस्ट्रिया द्वारा सर्बिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा करने रूस पहुँची तो रूस का विदेश मंत्री साजानोव उससे बहुत चिन्तित हुये उसने 21 जुलाई को जार से पूछ कर आंशिक सैन्य सज्जा की आज्ञा जारी कर दी। अत: 29 जुलाई को जब यह सूचना मिली कि आस्ट्रिया ने बेलग्रेड पर बमबारी की है तो रूस ने 30 जुलाई को पूर्ण सैन्य सज्जा की आज्ञा देने की तैयारी की। रूस की सेना कि इस छावनी से निकलने लामबंदी के कारण जर्मनी का युद्ध में प्रवेश करना आवश्यक हो गया।

जर्मनी द्वारा रुस को अल्टीमेटम देना :

31 जुलाई को रूस को 12 घण्टे की अन्तिम चेतावनी दी जिसमें उससे जर्मनी व आस्ट्रिया के विरूद्ध समस्त सैनिक तैयारियां समाप्त करने को कहा गया। रूस ने उसका कोई उत्तर नहीं दिया इसलिये 1 अगस्त को जर्मनी ने युद्ध की घोषणा की।

रूस के विरूद्ध युद्ध की घोषणा करने से पहले ही जर्मनी ने फ्रांस की सरकार से पूछा था कि रूस व जर्मनी के बीच युद्ध होने से उसकी क्या नीति रहेगी। इसके उत्तर में फ्रांस के

मंत्री ने कहा कि हमें अपने हितों के अनुसार निर्णय करना पड़ेगा। किन्तु उसी के बाद फ़्रांस ने अपनी सेनाओं को कूच करने कि आज्ञा दे दी 3 अगस्त को जर्मनी ने फ़्रांस के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी उसी दिन इटली ने युद्ध में तटस्थ रहने की घोषणा की।

ब्रिटेन का युद्ध में प्रवेश :

इंग्लैण्ड का विदेशमंत्री एडवर्ड ग्रे अन्त तक युद्ध को रोकने का प्रयत्न करता रहा किन्तु उसे निराश होना पड़ा युद्ध की घोषणा करने के लिये पार्लियामेंट थी स्वीकृति लेना भी आवश्यक था। फ़्रांस ने इंग्लैण्ड की सहायता प्राप्त करने का आश्वासन दिया और 31 जुलाई को फ़्रांस ने राष्ट्रपति ने अपना एक विशेष दूत सम्राट जार्ज पंचम के पास भेजा किन्तु विदेश मंत्री उस समय तक कोई निश्चित आश्वासन देने की स्थिति में न था।

31 जुलाई को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ने फ़्रांस व जर्मनी की सरकार के पास एक पत्र भेजा। जिसमें दोनों राज्यों से पूछा गया कि क्या वह बेल्जियम की तटस्थता को बनाये रखने का वचन देने को तैयार है। फ़्रांस ने तुरंत ही आश्वासन दे दिया। किन्तु जर्मनी इस प्रकार का आश्वासन देने को तैयार नहीं था वह इसके बदले में ब्रिटेन की तटस्थता का आश्वासन चाहता था जो इंग्लैण्ड का विदेश मंत्री देने को तैयार नहीं था। इसी बीच फ़्रांस व जर्मनी के बीच युद्ध होना निश्चित हो चुका था। इसलिये दो अगस्त को विदेश मंत्रीमण्डल ने उत्तरी सागर में जर्मनी की सेना के आक्रमण के विरूद्ध फ़्रांस की नौसेना की सहायता करने का आश्वासन दिया। इधर जर्मनी ने बेल्जियम को अल्टीमेटम दिया कि वह जर्मन सेना को फ़्रांस के विरूद्ध आक्रमण करने को मार्ग दे। बेल्जियम ने इस अल्टीमेटम को अस्वीकार किया। साथ ही ब्रिटेन से अपनी राज्य की तटस्थता का आश्वासन मांगा। 4 अगस्त को यह सूचना मिली कि जर्मन सेनाओं ने बेल्जियम की सीमा में प्रवेश ले लिया है। इस पर जर्मनी से कहा गया कि वह अपनी सेना वापस बुलाने किन्तु जर्मनी से कोई उत्तर ने मिलने पर ब्रिटेन ने जर्मनी के विरूद्ध युद्ध की घोषणा की1 इस प्रकार 4 अगस्त 1914 को युरोप की सभी बड़ी शक्तियों का युद्ध प्रारम्भ हो गया। 29 अक्तूबर को तुर्की ने बिना युद्ध की घोषणा किये रूस के काले सागर पर बमबारी की। 3 नवम्बर को रूस ने तुर्की के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और उसके दो दिन बाद ब्रिटेन व फ़्रांस ने भी वैसा ही किया।

इटली का मित्र राज्यों की ओर से युद्ध में प्रवेश :

3 अगस्त 1914 को इटली ने इस आधार पर कि उसके मित्रों ने स्वंय ही युद्ध आरम्भ किया है कि तटस्थ रहने की घोषणा की। आस्ट्रिया व जर्मनी को पहले ही इटली को सहायता मिलने की आशा नहीं थी। अत: उनको उनसे कोई निराशा नहीं हुई। 26 अप्रेल 1915 को इटली ब्रिटेन फ़्रांस व रूस के बीच एक गुप्त समझौता हु आ जिसके अनुसार इटली ने मित्र राज्यों की ओर से युद्ध में शामिल होने का वचन दिया और 23 मई 1915 को इटली ने आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा की।

संयुक्त राज्य अमेरिका का मित्र राज्यों की ओर से प्रवेश :

4 अगस्त 1914 को अमेरिका राष्ट्रपति विल्सन ने तटस्थता की घोषणा की किन्तु अमेरिका के नागरिकों की सहानुभूति मित्र राज्यों की ओर थी। मार्च 1917 में जर्मनी ने

अमेरिका के पाँच व्यापारी जहाजों को डुबा दिया इस पर राष्ट्रपति विल्सन ने 6 अप्रेल 1917 को जर्मनी के विरूद्ध युद्ध की घोषणा की। इस प्रकार संसार में अनेक देश इस युद्ध में शमिल हो गये। इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया।

प्रश्न यह उठता है कि जुलाई 1914 की स्थिति में क्या ऐसी विशेषताएं थी जिनके कारण युद्ध हुआ। एक बात तो यह स्पष्ट है कि लामबंदी का आदेश युद्ध की अर्द्ध घोषणा के बराबर होता है। अगर सर्बिया, रूस ओर जर्मनी जल्दबाजी में लामबंदी का आदेश न देते तो उम्मीद की जा सकती कि युद्ध टाला जा सकता। दूसरी बात यह कि क्या इससे पहले शाही परिवार के सदस्यों की हत्याएं नही की गई थी 1898 में आस्ट्रिया की महारानी, 1900 में इटली के सम्राट, 1908 में पुर्तगाल के राजा की हत्याऐं की गई। फिर जुलाई 1914 में ही युद्ध क्यों हुआ। जैसा पहले बताया जा चुका है कि त्रिराष्ट्रीय मैत्री या त्रिराष्ट्रीय सौहार्द में एक-एक बार राजनैतिक अपमान का बोझ उठा लिया था परन्तु अब इन दोनों दलों में से कोई इस नये संकट पर अपमान झेलने को तैयार नहीं थी। सभी देश अपनी महत्ता को बनाए रखना चाहते थे। जब उन्हें दो विकल्पों, अपनी प्रतिष्ठा खोकर शान्ति बनाए रखने तथा अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखने में से एक को चुनना पड़ा। तब उन्होंने दूसरा मार्ग अपना लिया।

इस युद्ध का सभी यूरोपीयन देशों में बहुत उत्साह से स्वागत किया गया परन्तु जो युद्ध लड़ा गया वह उस युद्ध से कहीं लम्बा तथा भयानक सिद्ध हुआ जिसका यूरोप के सभी देशों ने बड़े उत्साह से स्वागत किया था।

20.5 बोध-प्रश्न

प्रश्न 1: 1914 के महायुद्ध से पूर्व यूरोपियन महान शक्तियों के राजनैतिक सम्बंधों का वर्णन कीजिए?

प्रश्न 2: 1914 से 1918 के प्रथम महायुद्ध के कारणों का उल्लेख कीजिए इस युद्ध के लिये जर्मनी कहां तक उत्तरदायी था?

प्रश्न 3: प्रथम महायुद्ध उन दो यूरोपिय गुटों की शक्ति का प्रर्दशन मात्र था जो अपनी शक्ति परीक्षण के लिये बैचेन थे। इस कथन के सत्य पर प्रकाश डालिये?

प्रश्न 4: क्या प्रथम विश्व युद्ध अवश्यम्भावी था, विवेचना कीजिए?

20.6 सन्दर्भ ग्रंथ

1- David Thomson : Europe since Napolean.

2- Fay : Origins of the World War.

3- Ketelbey : History of Modern Times.

4- Schapiro : Modern and Contemporary European History.

इकाई-21

रूस की क्रांति की बौद्धिक नींव (1815-1916)

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 वाह्य प्रभाव
21.3 बाल्शविक यूटोपिया
21.4 ऐतिहासिक रूप रेखा
21.5 1848 एवं रूस
21.6 रूसी नारोदनिक
21.7 बुद्धिवाद की उत्पत्ति तथा स्वरूप
21.8 बुद्धिजीवी-संविदा तथा सिद्धान्त
21.9 बोध प्रश्न
21.10 संदर्भ ग्रंथ

21.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य आपको रूस की क्रांति में बुद्धिजीवियों तथा बुद्धिवाद की भूमिका से अवगत कराना है। इस संदर्भ में बौद्धिक आन्दोलन की ऐतिहासिक रूपरेखा, पृष्ठभूमि, स्रोत, व बुद्धिजीवियों के उदय तथा विभिन्न प्रबुद्ध रूसी व्यक्तियों तथा आन्दोलनों की विस्तृत विवेचना के साथ साथ इस इकाई के अध्ययन से आपको निम्नलिखित पहलुओं की संक्षिप्त जानकारी प्राप्त होगी।

रूस की क्रांति में चिन्तकों तथा बुद्धिजीवियों की भूमिका का महत्व बौद्धिक आन्दोलन पर बाह्य प्रभाव

बाल्शविक युटोपिया

बुद्धिवाद की ऐतिहासिक रूप रेखा तथा स्रोत

वर्ष 1848 एवं रूस

रूसी नारोदनिक

बुद्धिवाद तथा बुद्धिजीवियों की उत्पत्ति, संविदा तथा सिद्धान्त

21.1 प्रस्तावना

उद्भावनाएं आन्दोलनों को जन्म देती हैं। रूसी बुद्धिजीवी नि: संदेह एक “तत्व” एक शक्ति थे जिन में संसकथ्त सम्बद्धता धार्मिक उत्साह के समान उत्तेजित तथा परिपूर्ण थी। यही लग्न तथा शुधार की भावना विज्ञान तथा तर्क संगीत में विश्वास और विचारों के अन्तराल में विचरण बुद्धिजीवियों के वह प्रभावोत्पादक अस्त्र शस्त्र थे जिनके द्वारा उन्होंने रूस को अन्धकारमय वातावरण से जूझने की शक्ति दी। लेनिन ने जो इस क्रांति का देवता था स्वंय यह विचार व्यक्त किया है कि

"समाजवाद की उत्पत्ति सघन वर्ग के शिक्षित प्रतिनिधियों के दार्शनिक ऐतिहासिक तथा आर्थिक सिद्धान्तों व परिकल्पनाओं द्वारा ही हुई। अतएवं समाजवाद के तत्वज्ञान की मशाल श्रमजीवीयों के हाथ में नहीं बल्कि बूर्जर्वा बुद्धि-जीवियों के हाथ मे है। समकालीन समाजवाद का जन्म इसी वर्ग के विभिन्न लोगों के मस्तिष्क में हुआ था"। यह भी याद रखना पड़ेगा कि किसी समाज ने अपने साहित्कारों से इतना कुछ नहीं मांगा, जितना रूस ने और कहीं भी समाजवादी बुद्धिजीवियों के हाथों में राजनैतिक गतिविधियां इस प्रकार नहीं सिमटी जैसे 1917 के रूस में। इन सोशलिस्ट बुद्धिजीवियों ने जो " रेजर्व एवं शैडो गवर्नमेंट बनाई उसके एक्जेक्यूटिव के 42 सदस्यों में केवल 7 श्रमजीवी थे। ऐसे पत्रकार सखानोव, स्तेक्लोव के अतिरिक्त कमिटी में दूमा डिप्टी (च्रवेज, स्कबेलव, तेसेरे तेल्ली) थे और बुद्धिजीवियों की इस प्रधानता से पेट्रोगाद सोवियत 1905 की सोवियत से भिन्न थी। सामन्तवादी रूस में सामाजिक तथा नैतिक मसले राजनैतिक मसलों से अधिक थे। यह रूस की ऐतिहासिक स्थिति थी कि उसने दोनों ओर आगे तथा पीछे देखा। यही एक क्रांति थी जो पूर्वायोजित तथा सुविचारित थी। मार्क्सवाद को रूसी आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अनुरूप ढालने का ही नाम लेनिनवाद है। अपने 15 जुलाई 1847 के खुले पत्र में बेलिन्स्की ने गोगोल को जो लिखा वह उस समय का वातावरण दर्शाता है।

तुम नहीं समझते पर मैं रूसी पब्लिक कों पूर्ण रूप से जानता हूँ। इसका चरित्र रूसी समाज ने ढाला हैं जिस समाज की कैद में आज भी ऐसी क्रांतिकारी शक्तियाँ निकलने को बैचेन तड़प रही हैं और कुचली जा रही हैं। यह केवल साहित्य में ही, पूर्ण सेन्सर के बावजूद बिलक उठती है, आगे बढ़ती है। इसी कारणवश हमारे साहित्यकार अपनी सीमित योग्यता तथा सार्मथ्य के बावजूद आदर तथा सम्मान का पात्र है, उसे विश्वव्यापक ख्याति तथा सत्कार मिलता है। लोक जन रूसी साहित्यकारों में ही अपना अकेला आगामी लीडर क्रांतिकारी, उद्धारक तथा मुक्तिदाता देखते व पाते है, जो उन्हें कटटरपन, अन्धकारमय निरंकुशता तथा राष्ट्र की द:खद समकालीन जीवन प्रवाह से छुट्टी दे सकता है। इस बात का समर्थन हर्जेन ने पेरिस में एनेनकॉव के सामने किया तथा यही प्रसिद्ध पत्र रूसी क्रांतिकारियों के लिए बाइबिल के समान महत्वपूर्ण हो गया।

21.2 बाह्य प्रभाव

कुछ अग्रेंज तथा अमरीकी इतिहासकारों ने रूसी बुद्धिजीवीयों का तिरस्कार इस तथ्य पर किया कि उन्होंने अपनी धारणायें पाश्चात्य विचारों से लेकर बिना सही ढंग से समझे हुए गृहण करने की चेष्टा की परन्तु यह विवादास्पद है। यह तो सत्य है कि क्रांतिकारी विचारों में नानाप्रकार के रंग तथा विभिन्न देशों के बुद्धिजीवियों के विचारों का समन्वय मिलता है। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से रूसी साहित्य तथा विचारों पर जर्मन रोमान्टीसिज़्म का प्रभाव लगभग सभी इतिहासकारों ने बताया था। नवीनतम शोध के पश्चात इस कथन की सत्यता से पूर्ण सहमति असम्भव लगती है। कारण यह कि यदि हम पुष्किन को पहले का भी मान लें तो भी लरमानतोव, गोगल, नेकरासव इत्यादि समकालीन पर भी प्रभाव इतना गहरा नहीं मिलता। फिर भी यह तो मानना पड़ेगा कि जर्मन तात्विक अवयवों (मेटाफिजिक्स) ने रूस में दायें-बायें दोनो

बाजुओं के तथा धार्मिक राजनैतिक राष्ट्रीयता के पुजारियों के विचारों को बहुत प्रभावित किया। यहाँ दर्शनाशास्त्र की पाठशालाओं विशेषतय: हीगेल तथा शेलिंग के सिद्धान्तों ने बहुत असर छोड़ा। यधपि शेलिंग के शोध-प्रबन्धों तथा पुस्तकों को समझना अत्यन्त दुर्लभ था परन्तु उसनीने तथा उसके समान, अन्य चिन्तकों ने ही मानवीय विचारों को 18 वीं शताब्दी के यन्त्रवादी वैचारिक रूप को सौन्दर्यवादी तथा जैविक धारणाओं की ओर मोड़ा। 1840 के "चालीसा' ' लोग (बकूनीन हर्जेन, ओगारेव, तुर्गेनिव, बेलिंस्की इत्यादि) सभी को हम "रोमान्टिक्स" की आखरी पीढी के मेम्बर कह सकते है। राजनैतिक रूप से उनका पोषण पाश्चात्य उदारवादिता में हुआ तथा दार्शनिक रूप से जर्मन आर्दशवादियों विशेषतय: फिशते, शलिंग तथा हीगेल ने पाश्चात्य स्वतंत्रता समानता तथा भाईचारे का स्वरूप दिखाकर जार के क्रूर, पिछडे रूढिवादी रूस को बदला।

21.3 बाल्शविक यूरोपिया

ऐसे समय में राजनैतिक गतिविधियाँ क्षणयंत्र समझी जाए तथा सुधार के लिए आन्दोलन भयभीत कर दे कोई समाजवाद फ्ले फूले तो शुरू में वर्जित होने से काल्पनिक ही रहेगा। वैसे भी यही कहा जाता है कि चाहे कोई क्रांति हो या धार्मिक, राजनैतिक अथवा सामाजिक आन्दोलन हो उसका वास्तविक रूप किसी स्वप्न किसी कल्पना के दिव्यदर्शन से ही उभरता है। इसी प्रकार 19 वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध, विशेषतय: 1830 के (यूटोपिया) का स्वर्णयुग पश्चात स्वप्नदर्शी आदर्शवाद शुरू हुआ था। इसके 2 मुख्य स्रोतों का प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। एक रूसी, जैकोबिन्ज, ओवेन, फोरियर इत्यदि का रंग जिन्होंने इसको नैतिक तथा सदाचार की रोशनी में देखा अच्छाई की जीत तथा मानव के स्वभाव का पुर्ननिर्माण तथा विवेक का पुर्नजागरण होता है। दूसरा स्रोत तुरगोत, कोनडोरसेट सेन्ट साइमन की विचारधारा पर आधारित था। यह वह थे जिन्होंने यूटोपिया को आर्थिक तक तकनीकी रूप से आका तथा वैज्ञानिक विस्तार तथा पैदावार से जांचा। मार्क्स ने इन दोनों को जोड़कर ही सभ्यता की उन्नति का प्रारम्भ माना। मार्क्स के भीतर एक पैगम्बरी नीतिज्ञ, एक बहुत प्रौढ़ वैज्ञानिक निहित था। मार्क्स ने यूटोपिया वाले समाजवाद तथा कम्यूनिज्म पर जो कुछ कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टों में लिखा है और जिसका प्रतिबिम्ब उसने प्रोग्रामों में भी झलकता है। अर्थात् "गांव तथा नगर के फर्क को मिटाना प्राइवेट इन्डस्ट्रीज, मजदूरी प्रथा को मिटाना इत्यादि वह यह साबित करता है कि मार्क्स ने यूरोपियन समाजवाद के केवल एक ही पहलू को बुरा कहा है और यह था यूटोपिया का इतिहास से रिक्त स्वरूप। 1848 की क्रांति की असफलता से जो मोहनिवारण हुआ उस से चहुं ओर यूटोपिया के विपरीत वातावरण छाने लगा। अब क्रियात्मक तथा व्यावहरिक राजनीति का युग आंरभ हो चुका था।

मार्क्स ने तो नहीं परन्तु एग्निल्ज़ ने यूटोपियन तत्वों को अपने उदगम सिद्धान्तों में जीवित रखा यूटोपिया तथा विज्ञान का मिश्रण हमें मार्क्सवाद में ही नहीं बल्कि उदारवाद में भी मिलता है। रूसी अराजकतावादी तथा पापुलिस्ट (नारोदनिक) यूटोपियन विचारों में गले तक डूबे थे। यही वह वातावरण थाजब मार्क्स ने रूसी क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को प्रभावित किया तथा इसी वातावरण में लेनिन भी पला बढ़ा। लेनिन को क्रान्ति में विजय तथा तत्पश्चात सफलताओं के

कारण एक सख्त राजनीतिज्ञ तथा निष्ठुर व्यवस्थापक के रूप में पेश किया गया है परन्तु उस ने भी व्र्यानिशेव्सकी के उपन्यास के नाम पर अपने एक निबन्ध "What is to be done" (क्या करना चाहिये या क्या करना है) में यूटोपिया तथा स्वपनो के महत्व पर प्रकाश डाला है कि यही स्वप्न मानवजाति के लिए प्रबल प्रेरणा तथा उर्जस्विता तथा अनुलंब बनते हैं जो हानिकारक नहीं शक्तिप्रद है। इसी प्रकार के 2 स्वप्न उसकी क्रान्ति के संदर्भ में भी मिलते हैं।

21.4 ऐतिहासिक रूप रेखा

18 वीं शताब्दी के अन्त से 19 वीं शताब्दी के प्रांरभ तक रूस निरंकुश शासन की क्रूरता की मरूभूमि में कहीं कहीं उदारवाद की छाया भी देखता आया था। दमनकारी नीतियों के बीच पीटर महान (1682-1725) के सुधारों की बयार चली। तत्पश्चात रूस की प्रबुद्ध निरंकुशवादी शासिका कैथंराइन महान (1762- 1796) का युग आया।

समस्त रूसी इतिहासकार इस तथ्य पर सहमत है कि शिक्षित वर्ग तथा पिछड़े वर्ग "काले लोगों" के मध्य की खाई बढ़ाने में पीटर महान ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पीटरमहान ने पश्चात्य शिक्षा की महिमा समझते हुए कुछ युवकों को पढने के लिए वाह्य देशों को भेजा जिससे पाश्चात्य सभ्यता के कुछ नमूने तैयार हो गये यह रूसी-यूरोपी गुट तंत्र का प्रारंभ था। यह गुट अपनी मध्यकालीन मूल्यों से तथा जनसाधारण से स्वयं को उच्च समझने के कारण अपने में एक अनोखी श्रेणी बन गया तथा उसका परिणाम रूस में श्रेण्यवाद का अग्रदूत समझा गया। कैथराइन महान अपनी उदारवादी नीतियों सहित (जिसकी प्रशंसा वाल्तेयर तथा ब्रिम ने की है) उभरी थी परन्तु फ्रान्सीसी क्रान्ति तथा रूस के बार-बार आन्दोलनों से भयभीत हो गई। बुद्धिजीवी अब रूस की परिस्थितियों का अन्य पाश्चात्य देशों की दशा से मुकाबला करने लगे थे। कैथराइन को विवश होकर पुरानी दमनात्मक नीति फिर से अपनानी पड़ी जो एलेकजेन्डर प्रथम के दौर में पुराने सामन्तवादी वातावरण में ढल गया। क्रूर तथा शोषित वर्ग के मध्य स्थित था फ्रांसीसी भाषीय सम्यवर्ग जो यूरोपी तथा रूसी जीवन स्तरों से अनभिज्ञ न था जो जानता था न्याय अन्याय सभ्यता, असभ्यता का अन्तर और यह भी कि इस अन्तर को कैसे दूर किया जाए।

1830 से 1848 के मध्य रूस युवापीढ़ी के आदर्शवादी या किसी भी मानव के लिये अपने देश की स्थिति निराशाजनक लग सकती थी रूस का समाज इस समय अपनी तमामबुराईयों के साथ (जिसमें कृषिदासों की निर्धनता तथा अबोधपन, याजक वर्ग की अनभिज्ञता तथा मिथ्याचार, शासन प्रबन्धी क्रूरता, निरंकुशता, अक्षमता भ्रष्टाचार, व्यापारी वर्ग को अमानुषिक निर्दयता, तुच्छता, तथा खुशामदखोरापन सम्मिलित थे) पानी पर बुलबुले के समान हो गया था।

1830 में मास्को विश्वविद्यालय में एक नवयुवक निकोलस स्टानकेविच ने युवकों को अपने छोटे से जीवन में (1813-1840) बहुत प्रेरित किया। तुर्गेनिव ने उसी के चरित्र को पकोरसकी के नाम से "रूदिन" नाविल में ढाला है। स्टानकेविच ने जर्मन रोमान्टिक साहित्य बहुत पढ़ा था तथा उसने एक नवीन आस्था दर्शन शुरू किया जिसने रूढ़िवादी चर्च को पीछे डाल दिया। स्टानकेविच का विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य यदि स्वयं का सुधार कर ले तो फिर

सामाजिक सुधार की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह हीगेल का अनुयायी था अपने दूसरे युवक साथी निकोलाई का ग्रोनोव्सकी के समान। ग्रानोव्सकी रोमन चर्च व कानून के सभ्यतादायी रूख को दोहराता और रूस के कल्चर की जड़ें बाइजेन्टाइन सभ्यता में देखता। 1830 में सेना से मुक्त होकर मीखाइल बकानिन भी मास्कों आया। उसमें दूसरों के विचारों को लेकर उस पर अपना ठप्पा लगा कर नया रूप देने की क्षमता बहुत थी। उसने सेन्ट साइमन होलबाक, हीगेल, प्राउंघन, फयरबक वेटलिंग सभी के सिद्धान्तों को अपने में समोया। इस समय सेन्सर तो था पर इस सरकारी शत्रु संघ ने टीचरों, प्रोफेसरों, साहित्यकारों, भाषण देने वालों के उग्रवादी विचारों, उदारवादी धारणाओं को फैलाने के विरूद्ध कोई आला नहीं निकाला है।

जार निकोलस प्रथम दिसम्बरियों से परेशान था तथा स्वयं का अनास्तिकता उदारतावाद तथा क्रान्ति का दमन करने के लिए भेजा गया देवी दूत समझे बैठा था तथा प्रत्येक राजनैतिक विरोध का भारी दमन करने के लिए तत्पर रहता था। इस कारण रूस में 20 वर्ष तक तूफान से पूर्व वाली स्तब्धता छाई रही और इन्हीं वर्षों में क्रान्तिकारी विचारों को फलने फूलने का अच्छा अवसर मिला। प्रतिबन्धों में इस समय कोई बड़ा आन्दोलन हो नहीं सकता था कुछ छुट पुट घटनायें हुई। जैसे पौलेन्ड का विद्रोह, कृषकों का उपद्रव तथा छात्रों की अशान्ति) इससे सरकार इस ओर से कुछ संतुष्ट कुछ उदासीन रही और 1845 से उदारवादी विचारों की फैलाने वाली पत्रिकाओं को फलने फूलने का मौका मिल गया। इसमें मुख्यत: दो पत्रिकायें अतशेस्तविनी जापीस्की (पितृभूमि के स्वर) एवं साव्रयोमेनिक (समकालीन) नानाप्रकार के सरकार विरोधी लेख छापते रहे। यद्यापि बुलगारिन तथा ग्रेक ने इसकी बुराई की पर उस समय के शिक्षा मंत्री काउन्ट उवारोव (जो "कटटरपन, निरंकुशवाद एवं जनसाधारण" नामक पुस्तक लिख कर स्वंय को उदारवादी बुद्धिजीवी बना बैठा था इस समय ऐसे लेखों पर अंकुश लगाकर स्वयं को प्रतिकियावादी नहीं कहलवाना चाहता था तथा उसने इस ओर ध्यान ही न देना उचित समझा। इस प्रकार बेलिन्स्की जैसे प्रसिद्ध क्रान्तिकारी साहित्यकारों के लेखों को इस समय भले ही काट छांट झेलनी पड़ी हो बकिया उदारवादी प्रेस सेन्ठ पटिर्जवर्ग में निस्सन्देह फल फूल रहा था 1845 में गोगल को बेलिन्स्की के पत्र "मित्रों से पत्र व्यवहार के कुछ चुने पन्ने" (जिस में सरकारी तथा समाजी ढांचे पर आक्रमण था) चोरी छिपे तमाम बांटे गये मास्को पर्टिजवर्ग में भी ओर इसी कारण दस्तायवस्की को दंड भी भोगना पड़ा। 1848 को क्रान्ति ने यह सभी क्रान्तिकारी गतिविधियाँ कुछ समय के लिए स्थगित कर दी।

21.5 1848 एवं रूस:

यद्‌यापि यह वर्ष क्रान्ति के परिणामों की दृष्टि से महत्वपूर्ण न हो पर हरजेन के अनुसार यह गर्म तपते दिन के पश्चात की फुहार के समान यूरोपियन समाजवाद अवश्य था। एक साहित्यक तूफान जो 1836 में Chaadaev affair के साथ आया था। 1830 में पेरिस से निर्यात किए यूटोपियन समाजवाद ने रूसी अतवादियों को प्रभावित किया। पोलेन्ड का विद्रोह तथा एक शताब्दी पश्चात स्पेन का गृह युद्ध, इटली फ़्रांस प्रशा तथा आस्ट्रिया की क्रान्ति सभी में राजनैतिक पार्टियों का वर्तमान संयोजन तथा तत्पश्चात विद्रोह कुछ इन्हीं अतिवादी समाजवादी बुद्धिजीवियों के सहयोग से किया। परन्तु इस समय 1830-40 का रूसी बुद्धिजीवी

हर्जेन एवं ओगाखे के समान भले ही दार्शनिक, सौन्दर्यपरक राजनैतिक तथा सामाजिक प्रश्नों के प्रति जागरूक हो वह उतने लोकप्रिय नहीं थे न ही उनके पास कोई ऐसा मध्यम वर्ग ही था न ही कृषक वर्ग। बेलिन्सकी न इसी लिए 1846 में लिखा था कि "लोगों की आलुओं की आवश्यकता का तो अनुभव होता था पर संविधान के अभाव का आभास न था। अपने अधिकारों के प्रति चेतना का अभाव तथा 1848 के पश्चात के 7 काले वर्ष कई रूसी चिन्तकों को ले आए। इन में पत्रकार पॉलीवॉय इतिहास का रसिया तथा चाय का विक्रेता बोतकिन, बेलिन्सकी, तुरगनिव सम्मिलित थे। विद्रोही रूसी बुद्धिजीवी वर्ग ने 30 वर्ष पश्चात पश्चिमी विचारों का निर्यात कर उन्हें अपने देश के साचें में ढालने की चेष्टा की। इस प्रकार हीगेल, मिल, स्पेन्सर तथा कोम्ट के विचारों को रूसी आवश्यकताओं के अनुसार ढाला गया।

1830 से फ्रांस की गतिविधियों तथा फ्रांसीसी यूटोपियन सोशलिज्म ने रूसी समाजवादी विचारों को वशीभूत किया पौलेण्ड की क्रान्ति डेमाकेथ्स को, तथा एक शताब्दी पश्चात समाजवाद ने स्पेन को उसकी गृह युद्ध के बाद, परन्तु पाश्चात्य आस्था यही बनने लगी कि रूस से निरंकुशता हटना असम्भव थी। 1848 का महत्व एक मोड़ जैसा है न केवल क्रान्तिकारी समाजवाद का नेतृत्व करने वाले मार्क्स तथा एगेल्ज के नीति घोषणा पत्र के कारण बल्कि यूरूपी क्रान्ति की असफलता के कारण भी। 1848 के पाश्चात के 7 वर्ष में रूसी चिन्तकों ने रूस में मानवीय अधिकारों तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता के पूर्ण अभाव को तथा यूरोपी उदारतावाद को समझ लिया। इसी जागरूकता से आशा की किरणें फूटी। सरकार की क्रान्ति की महामारी के प्रकोप से बचाव के लिए लगाई गई नीतिसंगत संगरोधन ने पाश्चात्य उदारवाद को समाप्त कर आन्तरिक तथा राजनैतिक वातावरण में ठहराओ लाकर रूसी प्रगतिवादी आन्दोलन को नया मोड़ दिया जो क्रान्तिकारी तथा सुधारवाद से ऊपर उठकर राष्ट्रवादी था। परन्तु इससे रूसी बुद्धिजीवियों के मध्य एक गहरी खाई सी हो गई जिसमें नारोदनिक एक ओर तथा च्यरोनी रोव्सकी दूसरी ओर था। यह विच्छेद 1848-56 तक बहुत बढ़ गया। स्तैवोफिल तथा पाश्चात्य विचारों के बीच तनाव सा गया। पहले बेलिन्सकी तथा हर्जनवाद विवाद करके भी पारस्परिक द्वनदता से दूर थे पर 1859 में हर्जेन की चिचरन से भेंट लंदन में दो शत्रुओं की भेंट बन गई।

1860 से नर्मदलीय गुट "बेल" (कलाकोल, घण्टी) तथा सेन्टपीर्टजवर्ग के झगड़े बढ गए। 1890 में भी पाश्चात्य कट्टरपंथी, रूसी सोशल डेमोकेटस, क्रान्तिकारी बुद्धिवादियों की आशायें जीवित थी। रूसी बाये बाजू वाले क्रान्तिकारियों ने विशेष रूप से विश्व की क्रान्ति में भी अपनी साहसी क्षमता बनाए रखी। यह बड़ी दिलचस्प बात थी कि सरकार की कड़ी पाबन्दी के बावजूद भी कुछ ऐसे कारण थे कि क्रान्तिकारी गतिविधियां फिर भी चलती रहीं।

21.6 रूसी नारोदनिक (पापुलिस्ट)

पापुलिज्म किसी राजनैतिक पार्टी अथवा सिद्धान्त का नहीं बल्कि एक उग्रवादी आन्दोलन का नाम है जो रूस में 19 वी शताब्दी के मध्य में जार निकोलस प्रथम की मृत्यु तथा कीमिया युद्ध के मानभांग के पश्चात प्रारंभ हुआ तथा 1860-1870 में जोर पकड गया तथा जार एलेकजेन्डर द्वितीय की मृत्यु के साथ समाप्त होने लगा। यह नारोदिनिक गुट वैसे

तो विभिन्न तत्वों का मिश्रण थे और उपाय, साधन व लक्ष्य के प्रति उनकी धारणाओं में मतभेद था परन्तु उनमें कुछ ऐसे मौलिक उभयनिष्ठ विश्वास भी थे जो उन्हें एक गुट बनाते थे। 1820 के दिसम्बर षडयन्त्रकारियों तथा 1830-40 के हर्जेन बेलिन्सकी के अनुयायियों के समान वह भी इस राजनैतिक, सामाजिक ढांचे तथा तुच्छ जीवन नैतिक मूल्यों के विरूद्ध थे। यद्यापि उनमें कुछ भी नवीन न था। वे यूरोपी अतिवादियों के लोकतन्त्रात्मक आदर्शो को लेकर चले थे उनका विचार था कि सामाजिक तथा आर्थिक वर्गो के मध्य चलने वाला युद्ध ही राजनीति की रूप रेखा निर्धारित करता है। उन्होंने उसे मार्क्सी रूप (जो रूस में पूर्णतय: 1870 तक नहीं पहुंचा था) नहीं बल्कि एक दूसरी आकृति दी जो हर्जेन प्राउधन तथा उनके पूर्व सेन्ट साइमन, फोरियर व अन्य समाजवादी तथा अतिवादियों की कृतियों में निहित था। यह कृतियां रूस में कानूनी तथा गैर कानूनी रूपसे बराबर, धीरे- धीरे कभी कम कम पहुंच अवश्य रही थीं।

नारोदनिकों के उद्ददेश्य थे समाजी न्याय तथा सामाजिक समानता इनमें से अधिकतर हर्जेन के नेतृत्व में सन्तुष्ट थे जिसने 1850 में यह कहा था कि "न्यायपूर्ण समानतावादी मूल्यों पर आधारित समाज तो पहले से ही रूस के कृषक वर्ग के समुदायों में था। अधिकतर रूसियों को खाने कपड़े की आवश्यकता थी। पापुलिस्ट रूसी स्लांवोंफिल (जिनसे उनके विचार नहीं मिलते थे) के समान वर्गों की श्रेणियों की श्रंखला से भयभीत थे। इस समय विशेष की मानसिक दशा तथा मनोवैज्ञानिक स्थिति का अनुमान व्यंगकार साल्तीकोव की जर्मन तथा रूसी लड़के के संवाद तथा स्थिति से लगाया जा सकता है। जार के अंधकारमय युग के प्रकोप से यह रूसी लड़का फटे कपडों में, भूखा दलदल में लडखडा रहा था क्योंकि उसने अच्छे साफ सुथरे जर्मन लड़के के समान अपनी स्वतंत्रता कुछ पेंन्स के लिए प्रशा के हाथ बेच दी थी। रूसी लड़के का कथन अब अमर हो गया था "कि रूसी इस योग्य था कि यदि उसे मौका दिया जाए तो वह अपने मानवीय अधिकारों को प्राप्त कर ले। रूस अंधकार की जन्जीरों में जकड़ा अवश्य था पर उसकी आत्मा कैदी न थी। रूस का अतीत काला हो सकता है पर उसका भविष्य उज्जवल जहां मध्यमवर्ग की मृत्यु ही उस का अन्त न थी जैसा कि जर्मनी फ्रांस तथा इंग्लैण्ड में हो रहा था।"

स्लेवोफिल के विपरीत, रूसी नारोदनिक अपनी आशाओं को केवल रूसियों के अदभुत चरित्र तथा भाग्य पर नहीं केन्द्रित किये थे। उनका मत था कि विज्ञान तथा पाश्चात्य सभ्यता की उत्तमता को भारी कीमत चुकाए बिना भी तो प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को महत्व दिया परंन्तु यह प्रश्न अवश्य उनके सामने था कि क्यों अनपढ़ खेतिहर जनता को बिना अर्थ समझाए ही पुराने ढांचे को उखाडने विद्रोह करने को उकसाया जाए जब कि वे इसके महत्व से अनिभिज्ञ हैं। सभी इसी प्रकार से सोच रहे थे सब का एक उद्देश्य था। बकूनिन तथा स्पेश्नव, ने 1840 में, च्योनीशव्सकी ने 1850 में, जायचनेव्स्की, युवा रूस के जैको बेन नेचाएव, तेकाचव तथा लेनिन व ट्राटसकी सभी ने अपने ढंग से इसे समझा दर्शाया 1860 के आंतकवादियों इशतीन तथा कराको सब ने प्रश्न उठाया कि इसकी क्या गांरटी कि नए शासक कम क्रूर होंगे। 1870 के युवा जो एक "पश्चातापी अनुतप्त भद्र पुरूष" थे ये सामाजिक खराबियों के लिए उदारवादी शिक्षा को दोषी ठहराते थे। कुछ (जैसे बकूनिन) ने नारोदिनिक न

होकर भी बुद्धिवादियों, बुद्धिजीवियों तथा प्रवीण पुरूषों पर भरोसा न करने की राय दी। क्योंकि यह वर्ग भी उन्हें क्रूरता का शिकार बनाएगा। 8 च्योर्नशव्सकी तथा क्रापोत्कीन ने इस प्रश्न की बोझलता को पूर्ण रूपस से अनुभव किया। क्या किया जाए यदि कृषक वर्ग क्रान्तिकारियो के स्वप्नों का विनाश कर दें। क्या उन्हें धोखे में रखे? 1874 में अतिवादि नारोदनिकों को लोगों को उदासीनता घृणा, आक्रोश तथा संदेह का पात्र बनना पड़ा जिन्होंने उन्हें पुलिस में दे दिया। नारोदनिकों को तब अपनी स्थिति तथा अभिवृत्ति का ब्यौरा देना पड़ा। तिकाचव नेचायव एवं पिसाखे के अनुयायी निहिलिस्ट (शुन्यवादी तथा नाशवादी) कहलाए।

21.7 बुद्धिवाद तथा बुद्धिजीवियों की उत्पत्ति तथा स्वरूप

क्रान्ति के लगभग एक शताब्दी पूर्व 1816 में प्रथम गुप्तांग राजनैतिक संघ बनी जिसने 1825 में दिसम्बर षडयन्त्र द्वारा सुधार के लिए विद्रोह किया। सच तो यह है कि कुछ बुद्धिजीवियों ने अनजाने में ही ऐसा वातावरण बनाने में सहायता की जो लोगों के हृदय में क्रान्तिकारी विचारों के लावे को पकाती है। उदाहरणतय: 1790 में रादीचेव की प्रसिद्ध पुस्तक भेन्ट पीर्टजबग से मास्को तक की यात्रा में पहली बार कृषिदासता तथा निरकुंशता व तानाशाही ही खुल्लम खुन्ना आलोचना की गई। यद्यपि रादीचेव का उद्देश्य दूर दूर भी शायद कोई राजनैतिक मुहिम चलाना न रहा होगा पर यह उस युग की घुटी हुई आवाज थी जो समाज के दर्पण साहित्य में दृष्टिगोचर हुई। दिसम्बरी षडयन्त्रकारियों के समूह का उद्देश्य इस समय केवल तानाशाही तथा संवैधानिक परिसीमा को दूर करना तथा कृषकों की दशा में सुधार तथा देश में समाजवाद की रीति का बीजारोपण था। इसमें सबसे अधिक गर्मदल के क्रान्तिकारी जैसे पेस्टल भी जनशक्ति पर भरोसा नहीं रखता था कि वह स्वतंत्रता ला सकेंगे। दिसम्बरी समूह में क्रान्ति प्रथा का अभाव भी था वे असफल रहे। निकोलस प्रथम के युग में उनके विरोधी ग्रुप जो स्वयं को सोशलिस्ट कहता था बढ़ा और उसने स्वयं को पश्चिमी ग्रुप के संहित क्रान्तिकारी समाजवाद का नारा उठाया सैद्धान्तिक रूप से तो 1825 के 30 वर्ष पश्चात अर्थात 1855 में निकोलस की मृत्यु के बाद (या फिर कुछ कहते है उससे पहले 1849 तक) रूसी समाजवाद पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। इस संदर्भ में प्रत्येक दृष्टिकोण से 1838 से 1848 एक महत्वपूर्ण दशक है। तुग्रेनिव, टाल्स्टाय, गोनचाख, दस्तायव्सको बलिन्स्की, बकानिन, हर्जेन इत्यादि के उभरने के साथ ही यह बुद्धिजीवी वर्ग रूस तथा तत्पश्चात विश्व में एक नवीन लौकिक तथा धर्मनिरपेक्ष सम्प्रदाय के समान उभरा जो एक दूसरे से केवल विचारों की समानता से ही नहीं बंधा था बल्कि एक सामाजिक दायित्व विशेष मूल्यों को समर्पित होने वाली भावनाओं से जुड़ा था।

नेपोलियन के ऊपर विजय तथा पैरिस की ओर उग्रसर होना ऐसी घटनाएं थी जिन्होंने रूस को अपार साहस तथा आत्म विश्वास दे दिया। साथ ही इस मुकाबले में एक जुट होने से एक नई एकता, राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की भावना जागृत हुई जिसने उन्हें एक बन्धन में बांध दिया-सभी वर्ग, श्रेणी तथा धर्म के विचारों से ऊपर। इस सामूहिक जागरूकता तथा देशभक्ति ने आन्तरिक कठिनाईयों के प्रति रूसियों की उनके दायित्व का एहसास दिलाया। लगभग इसी समय स्वच्छन्दतावादी (रोमेन्ट्रीसिज़्म) तरंगे फूटीजिस के अंतर्गत इस प्रकार के विचार प्रचलित होने लगे कि राष्ट्र एक समुचित, सुसंगठित अवयव संस्थान है जिसका प्रत्येक

जीवन, गुट संस्था सभी, में एक "अन्तरात्मा है" एक उद्देश्य है, इसी उद्देश्य की पूर्ति की लालसा से ओत-प्रोत हो गयी रूसी सरकार। अपनी इस तरूण पोद को नई युवा नस्ल को फ्रांसीसी क्रान्तिकारी वातावरण में भेज कर प्रादुषित नहीं करना चाहती थी। जर्मनी में वातावरण कुछ उचित लगा तथा सरकार ने अपने युवा वर्ग के लिए जर्मनी को बेहतर करार दिया। यह दूसरी बात है कि जर्मनी भेजने से भी परिणाम वहीं-तथा आशाओं के बिल्कुल विपरीत निकला। जर्मनी में इस समय फैली यह धारणा कि पाश्चात्य देशों का पतन संशयवाद, तर्कणवाद भौतिकवाद तथा अपनी प्राचीन परम्पराओं को तजने के कारण हुआ। अतएवं जर्मनी जिससे अपनी शक्ति इस व्यर्थ निरर्थक अनुधावन में नहीं गवाई थी अब दोड़ में आगे सहजता से जा सकता था क्योंकि साहसी तथा तरूणा राष्ट्र था। इस मापदण्ड से रूसियों को अपनी दशा जर्मनी से अधिक उन्नति के योग्य उन्नति के योग्य लगी क्योंकि उनके पास इस "अपरिश्रान्त शक्ति" का अभाव न था। जैसा पहले बताया गया है रूस में इस समय एक निरंकुश कूर सरकार, शोषित जनता तथा इन दोनों के मध्य में कुंठित (पर पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित) शिक्षित वर्ग था । यह विचार कि प्रत्येक जीव एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए आया है रूस में फैला। साथ ही साथ शिक्षा तथा ज्ञान के प्रति एक लालसा, रूसियों में उभरी उदार रूसी को जर्मनी शिक्षित थे वे एक ओर तो चर्च दूसरी ओर बुद्धिवाद दोनों से दूर थे। इस प्रकार रूसी साहित्य में दो नए रंग उभरे, एक रूसी दूसरा फ्रांसीसी। हीगेल तथा हीगेलवाद का प्रभाव रूसी विचारधारा पर प्रारम्भ में छा गया- उसके बाद डारविन स्पेन्सर तथा मार्क्स छाए। 1840 में मास्कोविश्वविद्यालय में ग्रानेव्स्की के लेक्चरों को पाश्चात्य उदार बुद्धिवाद का राजनैतिक दिखावा बताया गया। क्योंकि अभी तक उदारतावाद को रूस में मुखौटे की आवश्यकता थी। जार केसेन्सर ने साहित्य में राजनीति घोल दी थी पर उसके भय ने खुलकर रोने के बजाय सिसकियों पर विवश कर दिया था।

कुछ इतिहासकारों का कथन है कि रूसी क्रान्ति पूर्णतय: उस दर्रे पर नहीं गई जिसके लिए शायद इन चिन्तकों ने स्वप्न देखा था पर इन बुद्धिजीवियों तथा दार्शनिकों (उदाहरणतया: टालस्टाय अथवा कार्लमार्क्स) का प्रभाव न हुआ हो या उन्होंने क्रान्ति को एक नया मोड़ न दिया हो ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता। विचारों का प्रभाव क्या होता है यह नाजियों भली भांति जर्मनी में समझा था तभी तो विजयों के पश्चात फौरन ही वह बुद्धिवादी नेताओं को मार डालते थे क्योंकि उन्हें वे अपने मार्ग को सब से बड़ा रोडा समझते थे। अतएवं जो कुछ हुआ वह शायद इन विचारों के प्रभाव के बिना कुछ दूसरा रूप धारण कर लेता तथा इन विचारधाराओं का प्रभाव रूस ही में नहीं, उसकी सीमाओं के बाहर तक पहुंचा, समाज सुधार के लिए कला० तथा जीवन के बीच की खाई को मिटाकर समाज की बुराईयों को दूर करने की बात साहित्य में उतरने लगी। कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि रूस बौद्धिक तत्वों की दृष्टि से जर्मनी का पराधीन हो गया। शीघ्र ही ऐसा लगने लगा कि इस समय रूस अद्भुत रूप से एक अतिसंवेदनशील, आशु प्रभावित समाज का देश बन गया। अब चाहे यह इस कारण हो कि चोरी छिपे खुलकर, अथवा लेक्चरों द्वारा नया नया क्रान्तिकारी मटीरियल नई विचार धारा के लिए मिल गया था न केवल पैरिस से बल्कि बर्लिन से। हीगेल मसीहा लगने लगे। प्राउधन कैबेट, फूरियर, स्ट्रास, लुदविग, फ़्योरबक, लामेंनेस सभी के विचारों ने जैसे रूसी समाज को अपने

चकव्यूह में घेर लिया। यह कथन कि रूसी लोग इस समय विषुष्ण, उदास, जख्मी सूफी के समान थे पाश्चात्य अतिश्योक्ति है। रूसी इस समय अत्यधिक चिन्तनशील, बुद्धिसम्पन्न तथा युक्तियुक्त थे। साहसी भी। आंतकवादी कावीशिन्सकी ने, रूसियों के लिए कहा कि वे जोशीले थे पर उद्देश्य के लिए लड़ने पर तैयार तथा सदैव ही विवेकी व तर्कसंगत। हजेन ने एक बार इसी लिए कहा था" हम उसूली लोग है सच्चे तत्थ अच्छे-जर्मन सामर्थ्य में यदि हम अपनी राष्ट्रीय योग्यता मिला दे- हम नीरस सर कटाने को बेचैन साहस पूर्वक सीमाओं को पार करने का हौसला रखने वाले। पर साथ ही सच के साथ तर्कविधा के साथ ऐसी भावनाओं से जकड़े कुछ ही गिने चुने लोग थे। फिर भी उन्होंने मुक्ति रूस को दिलाई एक ओर रूढ़िवादी चर्च के दबाव से दूसरी ओर 18 वी शताब्दी की नीरस बुद्धिवादी विवेकशीलता से। अब फीशते हीगेल शेलिंग बड़े। इस प्रकार रूस का 19 वीं शताब्दी का साहित्य यद्यपि जार, पश्चिमी, बुरज्वा लोकतंत्र तथा साम्राज्यवाद के विरोध से परिपूर्ण तथा उसी पर आधारित है परन्तु इसमें फ्रांसीसी क्रान्ति की उपलब्धियां, पाश्चात्य उन्नति व औद्योगिक क्रान्ति तथा उसकी भौतिक प्रगति की चेतना व रसास्वादन मिलता है इसी लिए यह कहा गया है कि 1917 की क्रान्ति रूस की बुरज्वा क्रान्ति का समापन तथा समाजवादी क्रान्ति का आरम्भ था।

21.8 बुद्धिजीवी-संविदा तथा सिद्धान्त

बेलिन्सकी का नाम रूस के अंधेरे में एक दीप जल में तुबी के समान था। वह अपनी मृत्यु के 8 वर्ष पश्चात भी उतना ही जीवित था और उसके वजूद तथा विचारों को रूसी" बुद्धिवादियों का अंतःकरण" बताया गया है। "यदि आपको ईमानदार लोगों की खोज है जो निर्धनों तथा दलितों के मसीहा हो, योग्य डाक्टर हो, लड़ने से न डरने वाले वकील हो, तो उन्हें आप वेलिन्सकी के अनुयाइयों में ढूढें। इन पर स्लावोफिल का प्रभाव न होने के समान है तथा बेलिन्स्की का अत्याधिक हैं। पश्चिमी देशों में बेलिन्स्की को कम ही लोग जानते हैं फिनलेंड के स्वेवर्ग नामक स्थान पर एक निर्धन घर में 1810, 11 में जन्म लेने वाले, साहित्य का रसिया जिसके एक साधारण से कृषि दासता पर लिखे गए नाटकपर मास्को विश्वविद्यालय से उसे निकाला भी गया था। जिसने कहा था "रूसी साहित्य मेरा जीवन मेरा खून है" उसने तथा पुष्किन ने लरमान्तव, गोगल तुर्गनिव, दस्तायेव्स्की तथा उनसे कम पैमाने वाले गोनचाख, ग्रिगोरोविच कल सब इत्यादि की महत्ता को आका। यह अनोखी बात है कि साहित्य इस प्रकार समस्त जीवन तथा एक व्यक्ति सारे राष्ट्र के विचारों पर छा जाए। ऐसे समय में जब रूसी राष्ट्रीय स्कूल आगे नहीं बढ़े तथा पाश्चात्य चिन्तक हर्जेन तथा नर्मदलीय कावेलिन तथा ग्रोनोव्स्की पीछे रहे बेलिन्सकी अटल रहा। बकूनिन ने जर्मन न जानने वाले बेलिन्स्की को हीगेल के प्रचार से नया रंग दे दिया। साहित्यिक पुर्नजागरण के युग में बहु त से सितारे चमके जैसे कारामजीन, जूकोव्स्की, पुष्किन ग्रिवायदव, बराटिन्स्की, वेनोवितिनव, व्याजेम्स्को शाखोव्स्की, रीलीव तथा अदायव्स्की इत्यादि साहित्यक गोष्ठी "अर्जामाज" अपने तमाम अतिवादी विचारों की विजय के साथ रूढिवादी ही रही। बेलिन्सकी वैसे तो अपने बौद्धिक स्तर पर पश्चिमी भले ही रहा हो पर अपनी भावनाओं में पूर्ण रूप से, रूसी था। न वह कोई अन्य विदेशी जबान जानता था न ही विदेशी वातावरण में रह सकता था। जैसे जैसे समाजवादी तत्व बढे बेलिन्स्की

का तनाव बढा। वह स्वार्थवादी नहीं था। उसने स्लेवोफिलो को बताया कि अन्तिरिक तथा आध्यात्कि प्रगति भूखे पेट संभव नही न ही ऐसा समाज जिसमें सामाजिक न्याय तथा मानवीय अधिकारों का अभाव हो प्रगतिशील हो सकता है। कुछ प्रकृतवाद के विरोधियों ने बेलिन्स्की पर कुछ एतराज किये हैं, परन्तु भय तो बलिन्स्की नही जानता था क्योंकि वह मजबूत तथा सदभावी व निष्कपट था उस का अन्तःकरण साफ था।

19वी शताब्दी का दूसरा महत्वपूर्ण रूसी राजनैतिक चिन्तक तथा लेखक ऐलेक्जेंडर हर्जेन दो। यधपि उसकबारे में बहुत कुछ नहीं लिखा गया पर उसके प्रति सारी तफ्सीलात हमें यूरोप फ़्रांस, स्वीटजरलैंड, इटली, पैरिस रोम इत्यादि के स्त्रोतों में बिखरी मिल जाती है। एलेक्जेन्डर इवानोविच हर्जेन का जन्म 1812 में मास्को में हुआ। उसका पिता इवानयकोवलव रूस का एक अमीर आदमी था पर बहुत कठिन तनावपूर्ण आदतों का जिससे उसके बेटे को अच्छी खासी दुखदायी स्थिति का सामना रहता। उसकी माता लीजा हैग जर्मन थी परन्तु यकोवलव ने उसे पली का दर्जा कभी नहीं दिया तथा अपने बेटे को अपना नाम न दिया वैसे सभी आराम थे। हर्जेन ने अपनी आत्मकथा में अपने घर तथा समाज की घुटन का उल्लेख किया है। 19वी शताब्दी के समृद्ध घरानों के बच्चे नई पुरानी परम्पराओं के मध्य की लाइन पर रह कर नवीन, प्रगतिशील विचारों के साथ बढते थे। परन्तु उनमें अधिकतर मायूस होकर सुधार को असम्भव समझ बैठ रहते थे तथा अपनी जमीनदारी में मस्त हो जाते। हर्जेन इनसे अलग कुछ कर गुजरना चाहता था कि वह तथा उसका खानदान अमर हो जाए। अपनी मशहूर पत्रिका "घन्टी" (कालाकोल) में उसने न केवल समाज के नासूरों से नकाब उठाया, उसकी बुराइयों की निन्दा की, प्रवचन दिये बल्कि वह रूस का 19वी शताब्दी का वालेयर बन गया। यधपि उसकी कृतिया निषिद्ध थीं पर न केवल पूरे रूस में अतिवादियों तथा रूढिवादियों के मध्य चाव से पढी जाती बल्कि स्वयं जार भी उनसे आनन्द लेता 1850-60 के रूस में उदारवादी भावनाओं को छूने का कार्य केवल हर्जेन की लेखनी ने किया। उसके मित्र एनेकोव ने अपने निबन्ध " एकु विशिष्ट दशक" हर्जेन की मृत्यु के 20 वर्ष पश्चात उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा था कि वह अपनी तथा आने वाली पीढियों के लिए अपार शक्ति का मावन था।

हर्जेन पर भी हीगेल का प्रभाव था पर इसको उसने अपने व्यक्तिगत रूप में ढाल लिया था। 1840 के प्रारम्भ में हर्जेन का "अविश्वास" जिसे उसने "डाइलेटटनटिज़्म" तथा "बुद्धिज़्म" कहा है सामने आता है। इसे उसने दो भागों में विभाजित किया है एक वह जो केवल सतह पर गुब्बारे के समान उड़ता है और अपने व्यक्तित्व को उस भरे जंगल में खो देने के डर से पेड़ों को भी नहीं देखता। ऐसे व्यक्ति को सही बोध सही ज्ञान नही प्राप्त हो पाता। दूसरा व्यक्ति जो बुद्धिस्त (बोद्ध) है पेड़ों में ही स्वयं को खोता है या उन्हीं पर वह दूरबीनी निरीक्षण द्वारा ज्ञान प्राप्ति करता है। वह आंख बन्द कर विषयासक्त हो जाता है तथा एक विकषंक एवं सख्त मानव बन जाता है। हर्जेन समझौता, नर्मी तथा सुनहरे "मज्झिम परिपदा" का प्रचार करता था पर स्वंय उससे दूर था। हर्जेन ने व्यक्ति तथा वर्गो के मध्य चलती लड़ाई को समझा व अपनी आत्मकथा में लिखा है। हर्जेन ने "दूसरे साहिल से" नामक पुस्तक (जो उसने 1848,49) की क्रान्ति से मोह निवारण के पश्चात लिखी थी में यह इशारा दिया था कि "कोई निश्चित समय

सारणी कोई अन्तिरिक्षी प्रतिमान नहीं होता- यहां इस संसार में केवल जीवन प्रवाह की उत्तेजना, इच्छा है। कभी कभी पथ बने रहते है- कभी कभी नहीं - जहां कोई पथ नही रहता वहां प्रतिभाशाली लोग विस्फोट द्वारा मार्ग बना लेते है "हर्जेन व्यक्तिगत स्वाधीनता का रसिया था। उस का ही कहना था कि" स्वाधीनता महत्वपूर्ण है क्योंकि यह स्वयं अपने में एक लक्ष्य है। उसे कुरबान करना मानव की कुरबानी के समान है। बकानिन तो लक्ष्य के लिए एक महान विद्रोह तथा मृत्यु का समर्थक था, परन्तु हर्जेन का विचार था कि मसलों के समाधान की चेष्टा तो करनी चाहिए पर कोई गारण्टी नहीं कि वह सुलझ ही जाए। हर्जेन की यह मनोवृत्ति यह विचार उसके उपन्यास "किसे इल्जाम दें"? के अन्त से भी टपकता है चेखोव का कथन कि "सहित्य समाज का दर्पण तो है पर साहित्यकार मसलों के समाधान करने वाला प्रबन्धक नहीं बन सकता (उसे इस इल्जाम से मुक्ति देता है पर बुगोनिव जीवन की ट्रैजिडी तथा उच्च नीच को दूर से डंडे, निर्लिप्त, तथा कभी कभी उपहासजनक ढंग से देखता था। धर्म तुर्ग्रेनिव के लिए जीवन का एक अंश एक मसाला था। उसके खमोश शान्तिपूर्ण ढंग ने जहां बहुत सी साहित्यक कृतियां दी वहां क्रियाशील दस्तायव्सकी तथा टाल्स्टाय को अप्रसन्न कर दिया।

टालस्टाय के प्रति 1870 में मीखाईलोव्सकी ने लिखा था कि वह योग्य कहानीकार पर अयोग्य चिन्तक था। परन्तु टाल्स्टाय के सकारात्मक विचारों को 18वी शताब्दी के फ़्रांस के प्रबुद्ध युग की प्रतिध्वनि कहा जा सकता है। वह न तो अतिवादी यूरोप पर मिटा बुद्धिजीवी था न ही स्लावोफिल-एक इकाई तथा राष्ट्रीय अधिपति पर विश्वास रखने वाला। वह सदैव ही पाश्चात्य तथा अन्य विचारों को काटते हुए तथा अपनाते हुए चलता था। अतिवादियों के समान वह राजनैतिक दमनकारी नीतियों असमानता तथा शोषण के विरूद्ध था परन्तु उसका विश्वास सामाजिक, राजनैतिक सुधारों डेमाक्रेसी, भौतिक उन्नति में अटूट था। वह न केवल जार को बल्कि "प्रोग्रेसिस्ट" के जुए को भी जनसाधारण के कन्धे से उतारना चाहता था। कोबेट, कार्लायल, प्राउधन तथा लारेन्स के समान ही वह भी पोलियामेंटरी डेमाक्रेसी, औरतों के अधिकार तथा वोटिंग के प्रति जागरूक था। स्लावोफिल के समान वह वैज्ञानिक तथा थ्योरेटिकल सामान्योकरण के विरूद्ध था। प्रबुद्ध लोगों के समान वह व्यक्तिगत सुधार के चर्च तथा राष्ट्र के सुधार का द्वार समझता था। उस की अनेकों पुस्तकों के अलावा 1861-62 में उसने "यासनाया पोल्या" नाम की एक पत्रिका भी निकाली थी। उसने इंग्लैड, फ़्रांस, स्वटिजरलेंड, बेल्जियम, जर्मनी की यात्रा से बहुत नये विचार बनाए। रूसो तथा कैन्ट के समान वह मानव की भौतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं को समझता था। यदि यह जरूरतें पूरी हो जाती है तो वह सन्तुष्टि तथा उससे उत्पन्न लक्ष्यों की पूर्ति कर पाता है।

इवान तुर्गेनिव की मृत्यु (1 अक्तूबर 1883) से पहले तथा बाद उसपर बाये दायें दोनों ओर से हमले रहे। उसकी "फादर्ज एण्ड चिल्डरेन" 1862 में "नये मानव" का दर्शन होता है। उसके विचार से मष्यकालीन मनुष्यों में संतोष था शक्ति नही थी। आज के मानव के मानव के पास शक्ति है संतोष नहीं" तुर्गनिव अपने मित्रों फलोबर्ट। तथा रेनिन से अधिक सचेत, उत्तेजना पूर्ण तथा विषयासक्त था।

यूरोप की 1848-49 की क्रांति रूस की दो पीढियों के बीच का अंतराल तथा विभाजित करने वाली एक लाइन के समान था। बेलिन्सकी के अतिरिक्त (जो 1847 में रूस में मर गया) यह पूरा "चालीसा" पश्चिमी यूरोप चला गया (चाहे कुछ दिन को या सदा के लिए) । बाकुनिन सैक्सोनी में पकडा गया तथा दस वर्षो तक 3 अन्य देशों तथा साइबीरिया में भटकने के पश्चात यूरोप आया तो केवल उस समय जब नई रेखाओं ने दो सीमाएं खींच दी थी। केवल हर्जेन, तुर्गनिव रह गए जिन्होनें अपने अपने ढंग से नई पीढ़ी के सम्मुख पुरानी परम्पराओं की प्रतिरक्षा की।

च्योनेशेव्सकी 19वी शताब्दी के इस चालीस को साठे में ले गया। वह हर्जेन का शिष्य था परन्तु उनकी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्वता 1850 से प्रांरभ हुई तथा दो पीढ़ियों को अलग कर गई। कारण यह था कि हर्जेन ने 1859 में लन्दन की एक पत्रिका "बेल" में, अंग्रेजी में एक निबन्ध "अत्यधिक खतरनाक" लिखा जिसमें उसने च्योरनेशव्सकी तथा उसके मित्रों की उनके अनन्य अतिवाद के लिये आलोचना की। "साठवी" के लोगों ने फख से रोमान्टीजिस्म" के त्रिस्कार का दावा किया तथा सख्त वास्तविकता के लिए दार्शनिक आदर्शवाद को भौतिकवाद में तथा मेटार्फिजिक्स को साईन्स में बदला। यद्यपि कैथराइन के युग में पाश्चात्य यूटोपिया तथा प्रबुद्धता रूसी दरवाजे तक पहुंच चुकी थे, पर रूस की राजनीति तथा जीवन पर इसका प्रभाव नहीं हुआ था। अतएवं च्योरशैव्सकी के विचारों में तर्कण पद्धति को जो स्थान मिला वह केवल फ़्रांस तथा पश्चिमी यूरोप में उभरे 18 वी शताब्दी के विचक्षणता का प्रतिबिम्ब मात्र था। इस वैज्ञानिक युग में च्योरनशव्सकी फीवरबक का भक्त हुआ। उसने कामटे की पृष्ठीय पृष्ठ तथा डारविन की थ्योरी योग्यता की उत्तरजीविता" के स्थान पर अंग्रेजों का लाभार्थी थीं (यूटी लिटेरियन) दर्शन विशेषतय: जान स्टुअर्ट मिल को) सभी समस्याओं का समाधान समझा। केवल व्यक्तिगत बुद्धिवादी तथा प्रबुद्धतावादी स्वार्थ को खोज तथा अनुसरण साहित्य द्वारा सामाजिक मूल्यों का विस्तार होता गया। 19 वीं शताब्दी की रूसी परम्पराओं पर आधारित हर्जेन की "किसको इल्जाम दिया जाए" 1862 में तुर्गेनिव के "पितागण तथा पुत्रगण एवं च्योंनशेव्सकी की "क्या किया जाए" इसी श्रृंखला की कड़ी थी। रूसी क्रान्तिकारी अबोधी थे और सभी एक समाजी ढांचा चाहते थे। यद्यपि च्योनशेव्स्की को नादोदनिक कहा गया पर उसकी क्रतियों में में उसी कृषकों की उस कम्पून की झलकी नहीं मिलती जो रूसी नारोदनिकों का प्रमाणक था। वह गांव से अधिक नगरों की ओर आकर्षित था। वह नारोदनिकों के समान रूस का बूरज्वा तथा पतनोन्मुख पश्चिम के सम्मुख बिना कारण रूस को महान कहना चाहता था।

बाल्वी पश्चिमी था पर उसका अटूटविश्वास समाजवाद, प्रगतिवाद तथा तर्कविर्तक में था। समाजवाद सभी लोगों के भविष्य के समाज का स्वप्न था। इस प्रकार प्रारंभिक रूसी समाजवाद का पोषण फ्रान्सीसी यूरोपिया तथा फ्रारियर के मनौवैज्ञानिक विचारों पर आधारित थी। "क्या किया जाए" में दर्जन के सहकारिता द्वारा यहीं दर्शाया गया कि समाजवाद की स्थिति में आर्थिक शोषण, प्रतिस्पर्धा जो पूंजीवाद का एक अटूट अंग है गायब हो सकते हैं तथा एक नवयुग का निर्माण कार्यकर्ताओं के पारस्परिक सहयोग तथा सहायता से किया जा सकता है तथा द्वन्दता दूर कर के एक की उन्नति दूसरे की उन्नति भी समझनी चाहिए। इसमें

च्योर्नशेव्स्की ने एक नागरिक का कर्तव्य भी दिखाया जो लोगों के पास जाकर गांव में कार्य करता है यह नारोदनिक आन्दोलन की मुख्य विशेषता थी। इस मानवीय निस्स्वार्थ चेष्टा के लिए अगली दो नस्ले (च्योरनशेव्स्की के पाठकों की) बड़ी प्रभावित थी।

च्योर्नशेव्स्की प्रबुद्ध युग को महत्व देता था यथा तथा डारविन से नहीं बल्कि कानडोरसेट से प्रभावित था। उसके लिए उन्नति अधिक महत्व रखती थी। अपने एक पत्र में जो उसने अपनी धर्मपत्नी को साइबीरिया के जेल से 9 वर्षीय सजा के दौरान लिखा था च्योरनशेव्स्की ने अपना विश्वास अपने उद्देश्य मिशन तथा भविष्य में दर्शाया है। मार्क्स की तुलना में च्योर्नशेव्स्की का विश्वास तथा आशावाद सादा, सीधा तथा सहज है। तुर्ग्रेनिव भी जो च्योर्नशेव्स्की को कविता समझने के अयोग्य बताता है यह कहने पर विवश है कि "वह (च्र्योंनशेव्स्की) समकालीन, वास्तवकि जीवन की आवश्यकताओं को समझता है।" यह च्योरनशेव्स्की ही था जिसने रूसी क्रान्तिकारियो की 2 पीढ़ियों के नैतिक व्यवहार को प्रभावित किया तथा गढ़ा। लेनिन ने एसे एक महान रूसी समाजवाद का प्रतीक यूटोपिया का रसिया तथा बाल्शविज़्म का अग्रदूत बताया है। लेनिन के आदर्शवादी, क्रान्तिकारी च्योर्नशेव्स्की के नायक नाइकाओं के समान ही संलग्न थे। च्योरनशेव्स्की का एक उपन्यास जो जेल में उसके दृढ़ धारणाओं के लिए आत्मबलिदान के प्रथम वर्ष में लिखा गया था आज भी प्रसिद्ध है।

इन बुद्धिजीवियों ने अपनी क्रान्तिकारी लेखनी से क्रान्ति के लिए जमीन तैयार कर दी थी। परीक्षण प्रणाली का दौर फिर भी समाप्त नहीं हु आ था बीजरोपण कुछ अन्य बुद्धजीवियों द्वारा हु आ प्लेखानव तथा उसके साथियों ने 1883 में जेनेवा में प्रथम मार्कसिस्ट पार्टी बनाई जिसने राजनैतिक स्वतंत्रता को रूसी समाजवाद की सर्व प्रथम तथा आवश्यक मांग बताई। रूस में अराजकता की परम्परायें ऐसी मजबूत थी कि वह राजनैतिक स्वतंत्रता तथा प्रतिनिधि संस्थाओं को शोषण का जरिया समझते थे। फेडोसीव तथा उसके जैसे दूसरे "मार्क्सवादी" क्रान्तिकारी भी इस पर इसी लिए उत्तेजित थे। 1892-1895 के मध्य तक लेनिन भी परगमन तथा संक्रात्मक स्थिति में रहा। लेनिन नें भी फेडोसीव के समान सोशल डेमाक्रेट बनने की चेष्टा का जिक्र किया है। फिर भी उसने अपने जेकोबिन तरीके भी कुछ रखे। सितम्बर 1894 में रूस में एक मार्क्सवादी विशलेषण पर आधारित पुस्तक "रूस की आर्थिक उन्नति के प्रश्न पर आलोचनात्मक टिप्पणी" स्ट्रव ने लिखी जिसने अभी तक के दृष्टिकोण से हट कर पूंजीवाद के प्रगतिशील तत्वों को सोशलिस्ट दृष्टिकोण से दर्शाया। लेनिन ने इसकी बडी ही कड़ी आलोचनात्मक अपनी कृति "रूसी बूर्ज्वा साहित्य में मार्क्सवाद का प्रतिबिम्ब व चिन्तन" में लिखी परन्तु दोनों ही रूसी नारोदनिकों के विरूद्ध रहे तथा एक समझौता सा लक्ष्य की पूर्ति के लिए उभरा। 1895 से लेनिन की विदेशीयात्रा शरू हु ई तथा उन्हें "आन्दोलन" ही उसका मार्ग नजर आया।

1895-97 तक के लेनिन के विचार पाश्चात्य सोशल डेमाक्रेसी वाले ही थे पर अब उसे 1900 से एक नई चिन्तन का द्वार मिला। 1900-1902 में लेनिन द्वारा बाल्शविक थ्यौरी का जन्म तत्पश्चात उभरी कम्युनिस्ट सरकारों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। 20 वी शताब्दी के एक पार्टी वाले इस सिस्टम ने समाजवाद को लोकतन्त्र से पदक कर निरंकुश विशिष्ट वर्ग के

बीच की दरार को निकाल फैंका। लेनिन की थ्यौरी के तत्वों की नीव को मनोवैज्ञानिक तथा विचारात्मक धुधलकों में ढूंढना चाहिए। लेनिन का सम्बन्ध 1879 में शुरू होने वाली आंतकवादी संस्था" नारोदनाया वोल्या" (लोकतंत्र का संकल्प तथा अभिप्राय से था) जिसने जार के शासन की निन्दा तथा जार एलेक्जेन्डर द्वितीय की हत्या की थी)। 1880-90 के बीच मत में मार्क्सवाद से बार तात्पर्य है मार्क्स की "कैपिटल" में दी गई आर्थिक परिभाषा तथा विशलेषण (ख) सामाजिक सम्बन्ध राजनैतिक संस्थाओं, विचर तथा सभ्यता की अधिरचना उसके आर्थिक आधार से इस दृष्टिकोण से मार्क्सवाद में शाही का प्रश्न ही नही हो सकता था

(ग) सोशल डेमोक्रेसी जिस में श्रमजीवियों को सम्पूर्ण राजनैतिक स्वाधीनता के लिए लड़ना था तथा (घ) मार्क्स तथा ऐग्निल्ज द्वारा रचित धारणाओं के अनुसार क्रान्तिकारी गतिविधियां।

1890 में रोजा लक्सेमवर्ग पोलेण्ड की समाजवादी क्रान्ति से जुडी तथा 1919 के मध्य तक उस का एक महत्वपूर्ण अंग रही थी। द्वितीय इन्टरनेशनल के समय उसकी लेनिन से भी बातचीत हुई। उसने मार्क्सी सिद्धान्तों के बहुत से आलोचनात्मक निबन्ध लिखे। वह क्रान्ति को आवश्यक मानती थी पर उसमें मानवजाति के लिए अनुकम्पा थी उसने निर्दयता (चाहे वह समाजवाद में क्यों न हो को बुरा कहा है लेनिन ने अपनी पुस्तक "इम्पीरियलिज्म दा हायस्टस्टेज आफ कैपिटलिज़्म में जिस थ्योरी को बढ़ाया वह रोजा की थ्योरी से मिलती-जुलती है। लेनिन ने जो थ्योरी हिलफरडिंग तथा हाबसन से ली थी वह यह थी कि जो कुछ पूंजीवाद कालोनीज तथा अर्धकालोनी में खोजता था वह मोर्केट् नहीं बल्कि लाभप्रद पूंजी लगाने के साधन स्थल थे। लेनिन तथा बुखारिन ने रोजा की आर्थिक थ्योरी व पुस्तक "दा अक्यूमलेशन आफ केपिटल" की आलोचना की है। रोजा ने भी बाल्शविज्म की निन्दा से अपने मनिशाविक सिद्धान्तों से करीबी प्रत्यक्ष कर दी थी। 1903 में जब रूसी सोशल डेमाक्रेटिक पार्टी का विभाजन 2 गुटों बालशविक तथा मीनशविक में हुआ तो रोजा ने लेनिन की अति केन्द्रीता (अल्ट्रा सेन्ट्रलिज़्म) को उसके लिए जिम्मेदार ठहराया। रोजा के विचार में लेनिन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रमजीवियों तथा जर्मनक्रांतियो के हितों को रूसी सरकार की भैंट चढ़ाने पर तत्पर था। रोजा को बालशविज्म तथा जर्मन साम्राज्यवाद की अपवित्र सन्धि दिखाई दे रही थी। मार्क्स तथा एगिल्ज ने फ्रान्स की क्रान्ति की धरोहर को उस के भय के साथ गृहण किया था पर रोजा सोचती थी कि समाजवादी क्रान्ति केवल तभी लाई जा सकती है जब उसको अधिकतर वर्कर लाने के इच्छुक हो।

1899 से लेनिन को अपनी बहन द्वारा भेजा गया ''क्रेडो" मिला जिसके रचयिता ने सुझाव दिया था कि सोशलिस्ट राजनैतिक लड़ाई को बुरज्वाजी के लिए छोड़ दें तथा स्वयं श्रमजीवियों की भलाई के लिए कार्यान्वित हो। लेनिन को रिवीजनिस्ट्म से भी उलझन थी। क्रप्सकाया (लेनिन की पत्नी) कहती हैं कि 1899 से ही लेनिन चिन्तन में पहले से अधिक डूब गया। उसका वजन घटने लगा तथा नींद कोसों दूर हो गई। अब उसने सोशलिस्ट पार्टी की मजबूती के विषय में सोचा। सोजियाल्दमोके रात के समान एक पत्रिका निकाली जिसे बाद में इस्करा का नाम दिया गया परन्तु, स्टूवे तथा लेनिन ने मतभेदों, पैसे के अभाव तथा सोशलिस्ट

क्रान्तिकारियों द्वारा एक नई पार्टी का आयोजन तथा 1900 में इस्करा बन्द करने जैसी दिक्कतों का सामना किया। लेनिन ने नवम्बर दिसम्बर 1900 में एक निबन्ध "हमारे आन्दोलन में मुख्य मुद्दे" में लिखा कि "किसी एक वर्ग ने इतिहास में कभी प्रभुता प्राप्त नहीं की जबतक कि उसने राजनैतिक नेता, प्रतिनिधि नहीं पैदा किए जो आन्दोलन बढ़ा सके। ऐसे क्रान्तिकारियों की आवश्यकता है जो न केवल अपनी खाली शामें बल्कि समस्त जीवन को क्रान्ति के कार्यों को सौंप सकें।

लेनिन के बुद्धिवादी जीवन में यह एक कठिन समय था अब उसने पहले कृषक वर्ग तत्पश्चात श्रमजीवियों को क्रान्ति के लिये सही सम्पूर्ण शक्ति न समझकर नया बाल्शविक प्लान शुरू किया तथा "श्रमजीवियों की निरंकुश शासन" की बात कर ने लगा। उसने दिसम्बर 1900- 1901 में उदारवादियों से अपना दामन छुड़ाया। इस समय स्ट्रव ने "आटोकैसी तथा जेम्स्तवा (जो सिरगी विटल ने लिखी) छापी तथा उसमें जार से अपील थी कि "जेमस्तवा" की सुरक्षा करें कि उसे क्रान्तिकारी ताश का इक्का न बना सकें। लेनिन को यह क्रान्तिकारियों के हितों के विरूद्ध लगा।

सोशलिस्ट डेमाक्रेसी के प्रतिनिधि तेसेरेतेली, मेरतव, च्योर्नव तथा अवकसेन्टी एवं ऊंचे विचारों के इमानदार अवश्य हों पर वे शक्ति प्रियत तथा उसके अंधा-धुन्ध प्रयोग के लिए भी बैचेन थे। इसीलिए वे अक्टूबर क्रान्ति के 2 सितारों ट्राव्स्की तथा लेनिन जिन्होंने क्रान्ति की सामाजिक शक्तियों को राजनैतिक लक्ष्यों तथा उद्देश्यों से निम्न रखा समझे गये हैं।

चाहे कितनी भी संदिग्धता मार्क्स तथा एंगिल्ज़ की राजनैतिक तथा समाज शास्त्रीय स्तर पर उनके विचारों में हो उन्होंने जो कुछ भी बुद्धिवादी रिक्थ" रूसी शिष्यों के लिए छोड़ी वह महत्वपूर्ण थी। यद्यपि यह पारस्परिक विरोधी विचार लगता है कि मार्क्स एंगिल्ज़ ने रूसी शिष्यों को मार्क्सवाद से पृथक होकर जार क्रूरता के विरूद्ध जूझने को कहा था। परन्तु 40 वर्ष पश्चात् इसी मार्क्सवाद पर लेनिन का समाजवाद फैला। सामन्तवादी रूस में सामाजिक तथा नैतिक मसले राजनैतिक मसलों से अधिक थे। यह रूस की ऐतिहासिक स्थिति थी कि उसने दोनों ओर आगे तथा पीछे देखा। यही एक क्रान्ति थी जो पूर्वायोजित तथा सुविचारित थी। मार्क्सवाद को रूसी आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अनुरूप ढालने का ही नाम लेनिनवाद है।

21.9 बोध प्रश्न:-

1. रूस की क्रान्ति में बुद्धिजीवियों की भूमिका की विवेचना कीजिए।
2. बुद्धिवाद की ऐतिहासिक रूपरेखा तथा स्त्रोत बताइए।
3. रूसी नारोदनिक से आप क्या जानते हैं?
4. रूस के बुद्धिजीवियों पर एक लेख लिखिए।

21.10 संदर्भ ग्रंथ

1. दि बोलशेविक रिवोल्यूशन (3 वोल्यूम) पैंग्युन बुक्स
2. लेनिन, वी. आई. एम्पीरियलिज़्म दी हाईऐस्ट स्टेज आफ केपिटेलिज़्म (मास्को 1916)

3. डेविड थोम्पसन, यूरोप सिस नेपोलियन
4. केटलबी, हिस्ट्री आफ मोडर्न यूरोप
5. जे. डब्ल्यू स्वैन, बिगनिंग आफ दि टवन्टीयथ सेंचुरी
6. दि मेकिंग आफ मोडर्न एशिया लिनोल कोचन
7. देवेन्द्र सिंह चौहान, यूरोप का इतिहास (1815-1919)
8. शर्मा, मथुरा लाल, यूरोप का इतिहास (1815-1945)
9. वर्मा, दीनानाथ, आधुनिक विश्व का इतिहास (1871-1948)

इकाई-22

रूस की क्रान्ति एवं इसका प्रभाव

इकाई संरचना

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 क्रान्ति के लिए उत्तरदायी परिस्थितियां

22.2.1 निरंकुश शासक वर्ग

22.2.2 कृषक वर्ग का असन्तोष

22.2.3 औद्योगिकरण एवं श्रमिक असन्तोष

22.2.4 गैर-रूसी जातियों द्वारा विरोध

22.2.5 समाजवादी विचारधारा एवं बोल्शेविक दल

22.2.6 प्रथम विश्व-युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियां

22.3 अनुभागीय सारांश एवं बोध-प्रश्न

22.4 क्रान्ति का सूत्रपात

22.5 ब्रेस्ट लिटोवस्क की संधि एवं रूस का युद्ध से अलग होना।

22.6 बोल्शेविक शासन के विरोधी

22.7 नवीन सरकार का स्वरूप

22.8 अनुभागीय सारांश एवं बोध-प्रश्न

22.9 क्रान्ति का महत्व

22.9.1 रूस में क्रान्ति का प्रभाव

22.9.2 ब्राहय जगत पर क्रान्ति का प्रभाव

22.10 इकाई सारांश

22.11 संदर्भ अध्ययन सामग्री

22.12 अभ्यास कार्य

22.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे कि-

(1) 1917 की क्रान्ति के लिये उत्तरदायी परिस्थितियां क्या थी?

(2) प्रथम महा-युद्ध ने किस तरह क्रान्ति का वातावरण बनाया?

(3) क्रान्ति की घटनाओं से आप जानकारी प्राप्त करेंगे?

(4) इस क्रान्ति का रूसी इतिहास पर पड़ने वाले प्रभावों की जानकारी देना भी हमारा उद्देश्य है एवं

(5) विश्व इतिहास को इस क्रान्ति ने किस तरह प्रभावित किया एवं उसके क्या परिणाम हुए इस बात की जानकारी देना भी हमारा उद्देश्य है।

22.1 प्रस्तावना:

बीसवीं सदी के विश्व इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक रूस की राज्य क्रान्ति है। इस सदी के पहले दशक में (1905 ई.) की हुई क्रान्ति के बाद वहां प्रजातांत्रिक व्यवस्था से सम्बन्धित प्रयोग शुरू हुये जबकि दूसरे दशक में (1917 ई) हुई क्रान्ति से वहां साम्यवादी शासन व्यवस्था का जन्म हुआ। साम्यवाद एक नई सभ्यता, नवीन संस्कृति एवं नवीन समाज का पक्षपाती है।

शताब्दियों से रूसी इतिहास भ्रष्ट, अत्याचारी, निरंकुश, जारशाही के उत्पीडन और शोषण का इतिहास रहा है। 1789 ई. की फ्रांसिसी क्रान्ति ने राजमुकुट को उतार फैंका था और वहां समानता स्वतंत्रता की आवाज बुलन्द की जा रही थी। यूरोप के ऐसे वातावरण में रूसियों ने जारशाही के आतंक एवं अत्याचार पूर्ण शासन के विरूद्ध आवाज उठाई। 1905 ई. में रूस में प्रथम राज्यक्रान्ति हुई। जार के अत्याचार पूर्णशासन, उनके देवी अधिकार, निरंकुश शासन, जारीना का प्रभाव, भ्रष्ट नौकरशाही, किसानों की दयनीय स्थिति एवं बुद्धिजीवी वर्ग में चेतना, क्रान्तिकारी संस्थायें अराजकतावादी विचारधारा इत्यादि इस क्रान्ति के प्रमुख कारण थे।

1904 ई. में जापान का रूस पर आक्रमण होना और रूसी फौजों की हार, जनता द्वारा शासक वर्ग का विरोध, जन असंतोष एवं मजदूर वर्ग की दयनीय स्थिति ने क्रान्ति को आवश्यक बना दिया। किसानों एवं मजदूरों के साथ ही छात्रों का आन्दोलन भी जोर पकड़ता जा रहा था। देश को क्रान्ति की ज्वाला में गिरने से बचाने के लिए स्वायत्त संस्थाओं के उदारवादी नेताओं ने शासन के समक्ष मांगें रखी जिनको जार ने न मानकर कुछ प्रशासकीय सुधारों का आश्वासन दिया। ऐसे समय पर ही हड़ताली मजदूरों ने अपनी मांगो के समर्थन में जार को एक ज्ञापन देना चाहा लेकिन जार ने इन निहत्थे एवं अनुशासन बद्ध लोगों पर गोलियों की बोछार करवा दी जो "खूनी रविवार" के नाम से जाना जाता है। यहीं से क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। मजदूरों के साथ कृषकों, रेलवे कर्मचारियों ने भी विद्रोह कर दिया। जनता के आक्रोश की बाढ़ को जार सह नहीं सका। मजबूर होकर उसने जनता को मूल अधिकार एवं स्वतंत्रता देने का निर्णय लिया एवं विस्तृत मताधिकार के आधार पर निर्वाचित एवं विधायी शक्ति प्राप्त ड्यूमा स्थापित करने का वचन दिया। जो कि इस क्रान्ति का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम था। इसके अलावा कृषि के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुऐ डयूमा ने शिक्षा के प्रसार की दिशा में उल्लेखनीय कदम उठाये। लेकिन यह विदित होना चाहिये कि 1905 की क्रान्ति से जनता की पूर्ण स्वतंत्रता की इच्छा पूरी न हो सकी। लेकिन सुधारों का युग शुरू हो गया था। जनता ने अपने अधिकारों हेतु सतत प्रयत्न किये और यहां यह कहना अतिश्योक्ति पूर्ण न होगा कि इस क्रान्ति ने 1917 की साम्यवादी क्रान्ति का मार्ग-प्रशस्त किया और उसकी सफलता में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया।

1917 ई. में रूस में दो क्रान्तियां हुई- पहली मार्च में दूसरी नवम्बर में। लिप्सन का कहना है कि क्रान्ति तो एक ही थी किन्तु इसके दो अध्याय थे। 1 मार्च, 1917 ई. की क्रान्ति ने जारों की निरंकुशता का अन्त कर दिया। नवम्बर की बोलशेविक क्रान्ति का दूसरा अध्याय थी जिसके फलस्वरूप मजदूर जनतंत्र का उदय हुआ। 1905 में रूस में डयूमा (संसद) अवश्य

बन गई थी लेकिन सम्राट एवं उसके सलाहकार जन इच्छा की अवहेलना करते थे जार के अन्त: पुर पर रासपुटिन नामक एक साधु का अत्यन्त प्रभाव था। सम्राट भी उसके हाथ कठपुतली मात्र था। 20 वीं सदी में अठारह करोड़ जनसंख्या के विशाल देश में ऐसा शासन एक लज्जा की बात थी।

यह कहना असंभव है कि यदि प्रथम विश्व-युद्ध न होता तो पता नहीं कितने समय और जारशाही का शासन रूप में चलता रहता। 1905 के बाद निरन्तर इसकी गिरती हुई सैनिक शक्ति ने इस के जीवन में कटौती कर दी थी। औधोगिक, कृषि एवं आर्थिक दृष्टि से रूस के लिए विश्व-युद्ध में अधिक समय तक लड़ना असंभव था। ऐसी विकट परिस्थितियों में ही रूस में क्रान्ति हो गई जहां पर बोल्शेविको ने जर्मनी के साथ संधि करके अपने को युद्ध से अलग कर लिया।

प्रथम विश्व-युद्ध के (1914-1918) के बीच में ही रूस में क्रान्ति की शुरूआत हो गई। हांलाकि इस युद्ध में रूस की बिगड़ती हुई सैनिक स्थिति के कारण ही यह क्रान्ति जल्दी हुई। लेकिन युद्ध ने उस स्थिति को अधिक तेजी के साथ उभार दिया। इससे पहले भी सैनिक हार के परिणामस्वरूप जार को क्रिमिया युद्ध एवं रूसी जापान युद्ध में हारने के बाद जोरदार आन्तरिक विरोध का सामना करना पड़ा था और विरोधियों को संतुष्ट करने के लिए सुधारों का कार्यकम भी तैयार करना पड़ा। 1905 ई. से ही इस महान क्रान्ति के लक्ष्य स्पष्ट हो चुके थे लेकिन जार ने उसके बाद भी अपने निरंकुश शासन के अन्तर्गत पनपते हुए भ्रष्टाचार एवं विघटनकारी प्रवृत्तियों को रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया।

22.2 क्रान्ति के लिए उत्तरदायी परिस्थितियां:

हम यहां उन परिस्थितियों का उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक समझते हैं जिन्होंने रूसी राज्य क्रांति के लिए मैदान तैयार किया था।

22.2.1 निरंकुश शासक वर्ग-

जार शासक स्वेच्छाचारी शासन एवं दैवी अधिकार के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे और उसी आधार पर शासन चलाना चाहते थे। इस निरंकुश, कठोर एवं दमनकारी शासन में जन सहयोग एवं उनकी भावनाओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। हालांकि 1905 की क्रान्ति के फलस्वरूप जार ने सुधारवादियों को सन्तुष्ट करने के लिये ड्यूमा का निर्वाचन कराने की घोषणा की थी, लेकिन जार ने उसे प्रतिनिधित्व संस्था के वास्तविक अधिकारों से वंचित रख स्टोलीपिन की सहायता से पुन: प्रतिकियावादी शासन स्थापित कर दिया।

जार के पास अभी भी असीम अधिकार थे। ड्यूमा के अधिवेशन बुलाने स्थगित करने या भंग करने के अधिकार इसी में निहित थे। मंत्रीगण उसी के प्रति उत्तरदायी थे। ऊपरी सदन नामक संस्था का भी ड्यूमा पर नियंत्रण था। जिसके अधिकार ड्यूमा के ही समान थे। रोमानोव वंश के शासकों ने वहां के नागरिकों की हमेशा भाषण, लेखन, एव सभा सगंठित करने के अधिकारों से वंचित रखा था। इसके अलावा समाचार-पत्रों, शिक्षण संस्थाओं पर कड़े प्रतिबन्ध लगे हुए थे। जनहितों की सर्वथा उपेक्षा करने वाले शासन में अयोग्य एवं भ्रष्ट नौकरशाही का

बोलबाला था। ऐसी दमनकारी एवं शोषक व्यवस्था के कारण जार का निरंकुश शासन असहनीय हो गया। उधर जनता के प्रबुद्ध नेता सुधारों की मांग करने लगे जहां की जनता भी स्वंय अपने राजनीतिक अधिकारों से परिचित हो गयी थी। इसलिए वे अब चाहते थे कि रूस में जारशाही का अन्त हो और जनतंत्रीय शासन प्रणाली की स्थापना हो।

22.2.2 कृषक वर्ग का असंतोष:

18 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी जिसके फलस्वरूप वहां पर कृषि उत्पादन के अतिरिक्त नये. प्रकार के वृहत उधोगों में काम करने एवं यातायात के नवीन साधनों का प्रयोग शुरू हो गया था। लेकिन 1880 ई. तक रूस एक कृषि प्रधान देश होने के बावजूद भी इस क्षेत्र में पिछड़ा ही रहा। कृषकों की अवस्था अत्यन्त दयनीय थी जिसके कारण कृषि गंभीर संकटों में फंसी रहती थी। 1861 ई. में कृषि दासो की मुक्ति की व्यवस्था की गई थी, जिसके अनशेषो को गावों से मिटाया नहीं जा सका। जमीदारों को दिये जाने वाले करों के कारण कृषकों की गरीबी की रेखा निम्नतर स्तर को पार कर गई थी। इस स्थिति से किसानों में शासकों के प्रति असंतोष एवं विरोध बढ़ता गया, उन्होंने करों में कमी एवं विशेष अधिकारों की समाप्ति की मांग की। मांगों की अवहेलना होने पर वे अधिक उग्र हो गये। उनके असन्तोष का लाभ उठाकर क्रान्तिकारी समाजवादी दल ने उन्हें शासन एवं जमीदारों के विरूद्ध भड़काया।

स्वोलिपिन ने कृषि क्षेत्र में सुधारों की योजना बनाई जिसके कारण किसानों को गांव छोड़ने एवं जमीन पर निजी स्वामित्व के अधिकार प्राप्त हो गये। इन कानूनों से कृषकों को कुछ लाभ तो मिला लेकिन भूमिहीन कृषिकों की समस्या का समाधान नहीं हो सका। और किसानों की दयनीय स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हु आ। इन सुधारों का एक लाभ यह हु आ कि गावों में वर्ग विभाजन की प्रक्रिया तेज हो गई। कुल को एवं गरीब कृषकों के बीच खाई चौडी होने के साथ-साथ किसानों में क्रान्तिकारी भावना का विकास होने लगा। युद्ध के धातक प्रभावों के कारण किसानों एवं जमीदारों में संघर्ष उग्र रूप धारण करने लगा। युद्धकालीन परिस्थितियों में किसानों का क्रान्तिकारी संघर्ष व्यापक हो गया और वे युद्ध की समाप्ति, जारशाही के अन्त के साथ-साथ भूमि के राष्ट्रीय एवं जागीरों को खत्म करने की मांग करने लगे।

22.2.3 औधोगिकरण एवं श्रमिक असन्तोष:

जार अलेक्लेण्डर (1) के शासनकाल में रूस में तीव्र गति से औधोगिक विकास हु आ। विभिन्न उधोगों में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होने लगी। औद्योगिक विकास ने आर्थिक सम्पन्नता के स्थान पर आर्थिक असन्तोष को बढावा दिया। भारी उधोगों की संख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ उनकी उत्पादन क्षमता कम होने लगी। कृषि की दयनीय एवं अलाभकारी हालत से हजारों लोग मजदूरी की तलाश में शहरों की ओर पलायन करने लगे जिसके कारण उधोगों में कार्यरत श्रमिकों की संख्या तीव्र गति से बढती रही। ऐसे हालात मे उद्योगपतियों ने श्रमिको का शोषण करना शुरू किया, उन्हें कम से कम वेतन पर अधिक से अधिक काम करने पर विवश किया। उनके रहने की बस्तियां गंदी एवं तंग कोठरियों के समान

थी। पारिश्रमिक इतना कम था कि उन्हें जीवन-यापन करना मुश्किल हो जाता था। इसके अलावा वास्तविक मजदूरी में भी ह्रास होता जा रहा था। बडे-बडे कारखानों के समान बहुतायात एवं सेन्ट पीटर्सबर्ग, मास्को, बाकू और डोनेन्ट में मजदूरों के सकेन्द्रण ने उन्हें संगठित होने के अवसर दिया। शासन की नीति उधोगपतियों के पक्ष एवं मजदूरों के विपक्ष में होने के कारण शासन द्वारा पारित कुछ श्रमिक कानून भी इनकी स्थिति में विशेष अन्तर नही ला सके। मजदूरों के असन्तोष का लाभ उठाकर क्रांतिकारी समाजवादी दल ने उन्हें समाजवादी सिद्धान्तों से अवगत कराकर पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ भड़काया। श्रमिकों ने अपने अधिकारों हेतु संघर्ष करने का बीडा उठाया। उनके सकेन्द्रण ने उनमें संगठन की शक्ति का विकास करने एवं उपने राजनीतिक प्रभाव को बढाने का अवसर मिला जिसके कारण की क्रांति में सर्वहारा वर्ग की प्रधानता रही। मजदूरों की शक्ति का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि उन्होने 1905 में ही "श्रमिकों" की सोवियत" नाम से अपनी पृथक सरकार बना ली। मजदूरों के स्वास्थ्य एवं आकस्मिक दुर्घटना बीमा योजना भी उनके असन्तोष को कम नहीं कर सकी। समाजवादी दलों के प्रभाव से श्रमिक आन्दोलन का स्वरूप अब मूलत: राजनीतिक हो गया था वे चाहते थे कि जारशाही की निरंकुशता एवं पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाये एवं उसके स्थान पर सर्वहारा वर्ग का शासन लागू किया जाये।

22.2.4 गैर-रूसी जातियों द्वारा विरोध -

जारशाही शासक किसी प्रान्त या सूबे में षडयंत्रकारी ताकतों से बडी निर्दयता का सलूक करती थी। 1863 ई० में पौलेण्ड के विद्रोह का निर्ममता से दमन करने से वहां की जनता आतंकित हो गई थी जिसके फलस्वरूप वहां समाजवादी विचारधारा एवं राष्ट्रीयता की भावना का विकास होने लगा। पोल लोगों के अलावा शासन में यहुदियों एवं अभिनियमों का कठोरता से दमन करने के कारण उनमें गहरा असन्तोष व्याप्त हो गया। इसी तरह से 19 वी सदी के अन्त में मध्य एशिया में खिरगीज व उजबेग जातियों ने जारों की निरकुंशता के खिलाफ विद्रोह का बिगुल बजा दिया जार्जिया, पोलेण्ड एवं बाल्टिक प्रान्तों में 1905 ई० में बडे पैमाने पर विद्रोह हुये। जारशाही शासन ने विशेष रूप से अन्तिम दो जारों ने गैर-रूसी जातियों के प्रति जो अमानुषिक अत्याचार किये। और उनकी धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाई उसके नतीजे में उन लोगों का विद्रोही बनना एवं जारशाही को जड़ से उखाड फैकने की इच्छा रखना अस्वाभाविक नही था।

22.2.5 समाजवादी विचारधारा एवं बोल्शेविक दल -

जिस प्रकार फ्रांस में राज्य क्रांति का वातावरण तैयार करने एवं जनता में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता पैदा करने का श्रेय मुख्य रूप से वहां के बुद्धिजीवी वर्ग को जाता है ठीक उसी तरह से रूसी जनता भी कुछ मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के प्रयत्नों से ही अपने अधिकार के प्रति चेतन शील हुई। इस वर्ग के लोगों ने सर्वहारा एवं किसान वर्ग की दयनीय अवस्था से प्रभावित होकर 1860 ई० के बाद समाजवादी विचारधारा का प्रचार एक आन्दोलन के रूप में शुरू किया। उन्होंने समाजवाद के आधार पर ही इन दो वर्गो की हालत सुधारने की

दिशा में प्रयत्न किये। हजैन व चर्नीशेवेर की इस आंदोलन के प्रणेता थे। इस आन्दोलन के समर्थको को "पोपुलिस्ट" कहा जाता था। वे इस बात के पक्षपाती थे कि कृषकों को भू-स्वामी मान लिया जाये एवं ग्राम सभाओं के माध्यम से भूमि वितरण हो। कुछ "पोपुलिस्ट" लोगों ने आतंकवादी उपायों से अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करने की कोशिश की और इसी कार्यक्रम ने निहित उन्होंने जार अलेक्जेण्डर 11 की हत्या कर दी। कुछ समय बाद समाजवादी दल- क्रांतिकारी समाजवादी एवं सोशलडेमोक्रेटिक दल दो भागो में विभाजित हो गया। बुद्धिजीवी क्रांतिकारी समाजवादी दल को नेतृत्व प्रदान कर रहे थे। यह दल आंतकवाद में भी विश्वास रखता था। इस दल का मुख्य ध्येय किसानों द्वारा क्रांति लाना था जबकि सोशल डेमोक्रेटिक दल सर्वहारा वर्ग को क्रांति की मुख्य चालन शक्ति मानता था। यह दल जारशाही एवं पूंजीवादी व्यवस्था को नष्ट कर बुर्जआ जनतंत्र की स्थापना करना चाहता था। उसके बाद सर्वहारा का प्रधान्य चाहता था। यह दल भी 1903 मेन्शेविक एवं बोल्शेविक नामक दो भागों में विभाजित हो गया। ये शेविक दल मजदूरों के साथ साथ अन्य वर्गो के सहयोग से जनतंत्र की स्थापना करना चाहता था बोल्शेविक दल लेनिन के नेतृत्व में केन्द्रीय संगठन एवं कठोर अनुशासन द्वारा सर्वहारा वर्ग के अशिनायक-तंत्र का पक्षपाती थी जारशाही ने समाजवादी विचारो को रोकने का भरसक प्रयत्न किया तथापि औद्योगिक विकास एवं त्रुटिपुर्ण भू-व्यवस्था से उत्पन्न मजदूरों एवं कृषकों के असन्तोष ने समाजवादी विचारधारा का खूब प्रसार किया।

22.2.6 प्रथम महायुद्ध से उत्पन्न परिस्थितियां :

1914 में प्रथम महायुद्ध छिडा जिनमें रूस ने बोल्शेविको की सहमति के बिना ही प्रवेश कर लिया। सरकार की इस कार्यवाही से जनता बिल्कुल खिलाफ थी। क्योंकि रूसी जारशाही का पतन चाहते थे एवं रूस इस युद्ध के लिए पूर्णत: तैयार भी नहीं था। जैसाकि हम देखते हैं कि 1904-5 के जापान आक्रमण में रूसी की भयंकर पराजय एवं हानि हुई थी। 10 वर्षो बाद ही देश का युद्ध में झोंक देना हानिकारक था। युद्ध से राज्य की आर्थिक अवस्था बिगडती गई कृषकों को सेना में भर्ती करने के कारण कृषि उत्पादन में बहुत कमी आई। ऐसे माहौल में मजदूरों एवं कृषकों का असन्तोष बढ़ना स्वाभाविक था युद्ध क्षेत्र से भेजे गये निराश एवं कुछ सैनिको ने क्रांतिकारी भावना बढ़ाने में उनको सम्पूर्ण सहयोग दिया।

युद्ध के प्रारंम्भ में ऐसी परिस्थितियां पैदा हो गई थी कि क्रांति का होना स्वाभाविक था लेकिन इस को रोका जा सकता था। यदि शासन संचालन किसी योग्य व्यक्ति के हाथ में होता। लेकिन जार निकोल्स II अयोग्य एवं अदूरदर्शी था। ड्यूमा का अन्त करके एवं प्रतिक्रियावादी नीति के समर्थक लोगों को प्रधानमंत्री एवं गृहमंत्री बनाया जिन्होनें अपनी सम्पूर्ण शक्ति उदारवादियों एवं क्रांति के समर्थको के दमन में लगा दी। इतना ही नही 1916 तक जार एवं जरीना पर रासपुटिन का प्रभाव इतना अधिक था कि वह अप्रत्यक्ष रूप से शासन संचालन करता था। जिसके कारण जनता में असंतोष एवं शासन में अराजकता उत्पन्न होने लगी। उसकी हत्या (18 दिस. 1916) के बाद भी जार ने अपनी नीति में कोई परिवर्तन नही किया। एक तरफ तो रूसी फौजो की अपमान जनक हार से जनता क्षुब्द्ध थी तो दूसरी तरफ उपभोग की वस्तुओं में कमी से भुखमरी की स्थिति उत्पन्न हो गई जिसके लिए सरकार को उत्तरदायी ठहराया। सैनिक

भी लगातार पराज्यों की तरफ अग्रसर थे। उनमें असंतोष व्याप्त था, जिसने क्रांति के दिनों में सरकार के आदेशों की स्पष्ट अवहेलना करते हुए क्रांतिकारियो का साथ दिया।

22.3 अनुभागीय सांराश एवं बोध प्रश्न -

विश्व इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओं में रूसी राज्य क्रांति एक महत्वपुर्ण स्थान रखती है। 19 वी सदी में यूरोपीय देशों में प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था की स्थापना होने पर वहां स्वतंत्रता समानता की आवाज बुलन्द की जा रही थी जबकि रूस में भ्रष्ट, अत्याचारी निरंकुश, जारशाही के उत्पीडन एवं शोषण का वातावरण बना हुआ था। 1905 में रूसियों ने अपनी इस अवस्था से मुक्ति के लिए फदम उठाया था, जिसके कारण कुछ समय के लिए आंतक एवं निरंकुश शासन के स्थान पर सुधारवादी एवं जनतांत्रिक व्यव्स्था लागू की गई थी, लेकिन अल्प समय के बाद ही वहां फिर प्रतिक्रियावादी शासन लागू हो गया एवं जन अधिकारों कों समाप्त करके ड्यूमा जैसी विधायी संस्था को भी भंग कर दिया। लेकिन रूसी लोग अपनी वर्तमान अवस्था से छुटकारा पाने एवं अधिकार प्राप्ति हेतु 1905 के बाद भी प्रयत्न करते रहे इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप वे 1917 में इस पुरातन व्यवस्थाओं को जन्म दिया। 1917 की क्रांति के पीछे शासक वर्ग का निरंकुश एवं आतंक पूर्णशासन, जनइच्छाओं की अवहेलना, कृषकों का भूमिहीन होना, कृषि की अवनत अवस्था दोषपूर्ण कृषि सुधार योजनाएं, औद्योगिकरण का विकास, एवं उसके फलस्वरूप श्रमिकों की दयनीयस्थिति, असंतोष, अलाभकारी, श्रमिक कानून, गैर रूसी जातियों द्वारा जारशाही की आतंकपूर्ण नीति का विरोध, उनमें समाजवादी व राष्ट्रीयता की भावना का विकास, उनमे निहीत विद्रोहात्मक प्रवृत्तियां एवं विशेष रूप से समाजवादी विचारधारा का विकास व बोल्शेविक दल के प्रयास इत्यादि महत्वपूर्णतथ्य थे, जिन्होनें इस परिवर्तन को अवश्यम्भावी बना दिया। लेकिन 1914 में प्रथम विश्व युद्ध का होना एवं उसमें रूसी फौजों की हार ने इस क्रांति का समय से पहले ही विस्फोट कर दिया। जिसके फलस्वरूप पुरातन व्यवस्था के अवशेषों पर नवीन शासन व्यवस्था एवं ढाँचा तैयार हुआ।

22.4 क्रांति का सूत्रपात :-

सम्राज्यवादी युद्ध के विरूद्ध शांति का सार्वजनिक आंदोलन, जमींदारों के प्रभुत्व के विरूद्ध शोषण से युक्त होने एवं जमीनों के लिए किसानों का आंदोलन, गैर रूसी जातियों को स्वतंत्रता और राष्ट्रीय उत्पादन का आन्दोलन एवं समाज की मुख्य पथ प्रदर्शक शक्ति सर्वहारा वर्ग का समाजवाद के लिए आन्दोलन इत्यादि धराओं में देश प्रवाहित होकर द्रुतगाति से क्रांतिकारी आन्दोलन की और अग्रसर हो रहा था। इन परिस्थितियों में अप्रत्याशित रूप से क्रांति हो गई जिसकी किसी ने भी कल्पना नहीं की थी जिसका तात्कालिक कारण पेट्रोग्राड में 8 मार्च, 1917 में हुई मजदूरो की हड़ताल थी, अत्याचारी शासन का नाश हो, के नारे बुलन्द कर रहे थे। इन उपद्रवकारियों का दमन करने हेतु जार ने सेना भेजी जिसने ऐसा करने से मना कर दिया। मजदूरों एवं विद्रोही सैनिकों ने मिलकर "सैनिकों एवं मजदूरों के प्रतिनिनिधियो की क्रांतिकारी सोवियत" बनाई जिसने शासन के वास्तविक अधिकार हस्तगत कर लिये। 14 मार्च को सोवियत व ड्युमा के सदस्यों ने मिलकर एक "अस्थाई सरकार" प्रिन्स ल्वाव के नेत्रत्व में गठित की।

जिसमें जार को सिंहासन छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया। इस तरह से एक ही झटके में रोमानोववंश धराशाही हो गया। "अस्थाई सरकार" को सर्वसाधारण वर्ग का समर्थन नहीं था। इसलिए उसने स्थिति सुदृढ करने के लिए जनता को धर्म, भाषा, प्रेस एवं सभा की स्वतंत्रता देने के साथ-साथ राजनीतिक बन्दियों को भी मुक्त कर दिया। यहूदियों के विरूद्ध लगाये गये कानून एवं चर्च के विशेषाधिकार समाप्त कर दिये, पौलेण्ड को स्वायत्त शासन का आश्वासन एवं फिनलैण्ड के वैध अधिकारों को मान्यता दे दी गई। इन कार्यो के बावजूद भी अस्थाई सरकार एवं मजदूरी एवं सैनिको की सोवियत के बीच मतभेद हो गया। अस्थाई सरकार युद्ध के संचालन का भार उठाना एवं मित्र राष्ट्रो को दिये गये वचनों को पुरा करना चाहती थी जिसका सोवियत ने विरोध किया। अस्थाई सरकार जनता की तीन मांगों शांती, जमीन, और रोटी-को पूर्ण करने में पूर्णात: असमर्थ थी। जिसके कारण लोगों में असंतोष बढ़ता गया।

जून, 1916 में अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस का अधिवेशन प्रेट्रोग्राइड सोवियत ने किया। जिसने 300 सदस्यों की "अखिल रूसी सोवियत कायकारिणी समिति" गठित की। जिसमें मेन्शेविक एवं बोल्शेविक दोनो ही दलों के प्रतिनिधि थे। जुलाई में पेट्रोग्राड के मजदूरों ने अपने प्रदर्शन में सरकार विरोधी एवं सोवियत समर्थन में प्रदर्शन किया। इसी माह में एक बडा विद्रोह सरकार के विरूद्ध हुआ। जिसे सेना की मदद से दबा दिया गया। सरकार ने इस आंदोलन के पीछे बोल्शेविकों का हाथ मान कर उनके नेताओं को कैद करने लगी जिसके कारण लेनिन व अन्य लोगों को रूस छोडकर भागना पड़ा। ऐसी हालत में सरकार का पुर्नगठन किया गया एवं ल्वाव के स्थान पर केरेन्सकी प्रधानमंत्री बना जिसने राष्ट्र की स्थिति पर विचार हेतु एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया जिसमें समाजवादियों के आपसी मतभेदों के कारण कोई निर्णय नही हो सका। इसी समय सेनापति कार्नालाव ने सेना का प्रधान्य स्थापित करने हेतु विद्रोह कर दिया जिसको केरेन्सकी ने बोल्शेविको की सहायता से दबा दिया। इसलिए उसने बोल्शेविक पार्टी से प्रतिबन्ध हटाकर उसके नेताओं को कैद से मुक्त कर दिया एवं लेनिन फिर सक्रिय हो गया।

लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक दल की कार्यकारिणी ने सशस्त्र क्रांति द्वारा सत्ता हस्तगत करने की योजना को क्रियान्वित करने हेतु "पोलिवब्यूरो" को नियुक्त किया गया। बोल्शेविक नेता क्रांति की योजना को 25 अक्तूबर को होने वाले "अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन" से पहले कार्यान्वित करना चाहते थे। 5 नवम्बर को केरेन्सकी ने बोल्शेविक नेताओं को बन्दी बनाने के आदेश जारी किये। 6-7 नवम्बर की रात्रि को "लाल रक्षकों" एवं नियमित सैनिक टुकड़ियों ने पेट्रोग्राड के रेलवे स्टेशन, पुलिस, स्टेशन सरकारी बैंक, पोस्टऑफिस, बिजली घर आदि प्रमुख स्थानों पर कब्जा कर लिया। केरेन्सकी राजघानी छोडकर भाग गया एवं उसके मंत्री मण्डल के सदस्य बन्दी बना लिये गये। पेट्रोग्राड पर इस तरह से बिना रक्त बहाये बोल्शेविकों ने अपना अधिपत्य स्थापित कर लिया। उसी दिन अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन के अघिवेशन में लेनिन ने दो महत्वपूर्ण प्रस्ताव पेश किये। प्रथम प्रस्ताव में युद्धरत रूस और उसकी सरकार को सम्मेलनों एवं क्षतिपूर्तियों के बिना एक न्याय पूर्ण और लोकतंत्रीय शान्ति के लिए वार्ता प्रारंम्भ करने को कहा गया। दूसरे प्रस्ताव के अनुसार जमीदारों की जमीनें बिना मुआवजे के हड़प लेने का निर्णय किया गया। इस तरीके से बोल्शेविको ने एक ही रात में न

केवल एक शासन का गठन करने में सफलता पाई बल्कि महत्वपूर्ण समस्याओं पर क्रांतिकारी नीतियों की घोषणा करने में भी सफलता प्राप्त की।

8 नवम्बर, 1917 ई० को लेनिन की अध्यक्षता में नई सरकार का प्रथम मंत्रीमण्डल बनाया गया जिसमें ट्राहस्की, स्टालिन राइकॉव इत्यादि को शामिल किया गया। केन्द्रीय शक्तियों से संधि करना राजनैतिक, समाजिक एवं आर्थिक अवस्था में परिवर्तन लाना, ऐसी व्यवस्था करना जिससे सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतंत्र उस समय तक स्थाई रहे जबकि देश की सम्पूर्ण जनता साम्यवादी शासन में भाग लेने योग्य न हो जाये। एवं सर्वहारा वर्ग की क्रांति को विश्वव्यापी स्वरूप प्रदान करना इत्यादि इस नई सरकार के कार्यक्रम थे।

22.5 ब्रेस्टलियेवस्क की संधि एवं रूस का युद्ध से अलग होना-

बोल्शेविक दल ने सत्ता ग्रहण करने के बाद युद्धरत् राष्ट्रो से युद्ध बन्द करने की अपील की जिसका उन पर कोई असर न होने के कारण रूस ने प्रत्येक राष्ट्र के साथ पृथक-पृथक संधि करने का निर्णय लिया। दिसम्बर 1917 में रूस ने संधिवार्ता की एवं 3 मार्च, 1918 को जर्मनी एवं उसके स राज्यों के साथ संधि करके युद्ध का अन्त कर देने का निर्णय लेकर बोल्शेविक नेताओं ने रूसी इतिहास में महत्वपूर्ण कार्य किया। संधि की शर्तो के आधार पर रूस को 5000 हजार वर्ग मील का क्षेत्र एवं करीब 330 लाख लोगों पर से अपना अधिकार छोड़ना पड़ा। इतने सुविस्तृत प्रदेश एवं विशाल जनंसख्या के हाथ से निकल जाने के कारण रूस की अत्यधिक नुकसान उठाना पड़ा लेकिन रूस की बोल्शेविक सरकार यह भलीभांति जानती थी कि जर्मनी एवं उसके साथियों के खिलाफ युद्ध जारी रखते हुऐ उनके लिए यह संभव नहीं होगा कि वे रूस में सर्वहारा वर्ग के शासन को स्थापित कर सके या नई साम्यवादी व्यवस्था को कायम रख सके।

22.6 बोल्शेविक शासन के विरोधी-

बोल्शेविक शासन की स्थापना तो बड़ी सुगमता से हो गई थी लेकिन उसके विरोधियो की कमी नही थी। नवम्बर 1917 से 1920 के शुरू तक लगभग तीन वर्ष तक बोल्शेविक को अपने तीन मुख्य विरोधियों का सामना करना पड़ा जिनमे रोमानोव वंश के समर्थक, लोकतंत्र वादी, जो फ्रांस अमेरिका के समान प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था चाहते थे एवं तीसरे वे लोग थे जो हालांकि साम्यवादी विचारधारा के समर्थक मे, लेकिन वे क्रांतिकारी उपायों से समाज के आर्थिक संगठन को एकदम बदल देना मुनासिब नहीं समझते थे।

बोल्शेविकों के इन विरोधियो को मित्र राष्ट्रों का पूर्ण सहयोग एवं समर्थन प्राप्त था। मित्र राष्ट्र रूस मे 'मध्यवर्गीय सरकार पुन: स्थापित करना चाहते थे जिसमें जर्मनी के विरूद्ध पूर्वी मोर्चो पुन: खोला जा सके। मित्र राज्यों की सेनोओं ने प्रत्येक क्षेत्र में बोलोविक विरोधी दलों के सहयोग से प्रति क्रांतिवादी (श्वेत) सरकारें स्थापित की। बोल्शेविको की ''लाल सेना'' एवं विरोधियों की श्वेत सेना में भंयकर युद्ध हुये। ऐसा लगता था कि बोल्शेविक सरकार का पतन हो जायेगा क्योंकि उसकी शक्ति मास्को एवं पेट्रोग्राड तक ही सीमित रह गई थी लेकिन बोल्शेविक दल की सरकार ने अपने विरोधयो को मैदान से मार भगाया एवं विजयश्री हासिल की।

विरोधियों का सामना करते हुये रूसियों को बंदी जार एवं उसके परिजनों का ध्यान आया जिन्होंने पेट्रोग्राड को असुरक्षित मानकर उन्हें यूराल प्रदेश भेज दिया लेकिन जब विरोधी सेनाएं वहां पर भी पहुँचने लगी तो क्रांतिकारियो ने 16 जुलाई, 1918 को जार एवं जारीना को गोली से उड़ा दिया।

"लाल सेना" की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर मित्र राष्ट्रों ने रूस में सक्रिय सैनिक हस्तक्षेप की नीति बदल दी और उन्होनें वहाँ पर युद्धरत अपनी सेनाओं को वापिस बुला लिया। अक्तूबर 1920 तक फिनलैण्ड, पौलेण्ड लेटविया, एस्टोनिया, लिथुआनियाॅ ने बोल्शेविक सरकार से संधिया करके संघर्ष को ही खत्म कर दिया। इस तरह से क्रांति के विरोधियों एवं विदेशी राज्यों के हस्तक्षेप से उत्पन्न संकट समाप्त हो गया। 1921 तक न केवल रूस में (आंतरिक शान्ति स्थापित हो गई, बल्कि फ्रांस, पौलेण्ड, एवं अन्यदेशों ने यह भलीभांति महसूस- कर लिया कि बोल्शेविकों की शाक्ति को कुचलना असंभव है। रूस इस संकट से अपनी रक्षा करने में सफल रहा क्योंकि एक बात तो यह थी कि विदेशी सेनाओं के प्रवेश से रूसियों की सुश्प्तावस्था खत्म होकर उनमें राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ। दूसरी बात यह भी कि कृषकों ने जिन्हें बोल्शेविक सरकार ने भूमि वितरित की थी शासन को पूर्णत: सहयोग. दिया। उन्हें भय यह था कि यदि बोल्शेविक परास्त हो गये, तो जमीदार पुन: उनकी जमीनों पर अधिकार कर लेंगे। इस संघर्ष काल में उद्‌योगों का राष्ट्रीयकरण हो जाने से समस्त मजदूरों ने भी बोल्शेविको का साथ दिया था।

22.7 नवीन सरकार का स्वरूप :

नवम्बर 1917 की क्रांति से रूस में जिस बोल्शेविक सरकार की स्थापना हुई थी उसका स्वरूप एवं संगठन संसार के इतिहास में बिल्कुल नया था।

अपनी स्थापना के चौथे दिन बोल्शेविक सरकार ने एक आज्ञाप्ति जारी करके आठ (8) घंटे का कार्यदिवस निर्धारित कर दिया एवं मजदूरों व कर्मचारियों के लिए नि:शुल्क राज्य बेरोजगारी तथा स्वास्थ्य बीमा प्रणाली भी लागू की गई 15 नवम्बर को सोवियत सरकार ने रूसी जनता के अधिकारों का घोषणापत्र प्रकाशित किया जिसमें जातीय उत्पीडन के अन्त, सभी जातियों की समानता, सर्वसत्ता, आत्मनिर्णय का अधिकार एवं सभी जातिय व धार्मिक विशेषाधिकारों व प्रतिबन्धों के उन्मूलन की उद्घोषणा की गई थी। इसी घोषणा पत्र अमल करते हुऐ दिसम्बर 1917 में सरकार ने फिनलैण्ड की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान कर दी।

अप्रैल, 1918 में रूस का नवीन संविधान निर्मित करने हेतु एक आयोग गठित किया गया जिसके सदस्य स्टालिन बुखारिन, सवर्दलाव, पोंक्रवास्की आदि थे जिसने तीन जुलाई को संविधान तैयार करके "सेन्ट्रल कमेटी" के समक्ष प्रस्तुत किया। इस संविधान के आधार पर "रसियन सोशलिस्ट फेडरल सोवियत रिपब्लिक" की स्थापना हुई एवं उसकी राजधानी पेट्रोग्राड के स्थान मास्कों को बनाया गया। इस संविधान का मूलसिद्घान्त यह था कि समस्त शक्ति (सत्ता) गावों व शहरों की सोवियतों में शामिल श्रमिकों व किसानों में निहीत है। सर्वोच्च सत्ता सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस के हाथ में थी। कार्य की सुगमता के लिए सेन्ट्रल एक्जीक्यूटिव कमेटी" को गणतंत्र की प्रशासनिक विधामी एवं नियंत्रक, संस्था बनाया गया इसी

कमेटी के अन्दर 40 सदस्यों की एक प्रेसिडियम" गठित की। जो मत्रिमण्डल या "काऊंसिल ऑव कामिसॉर्स, " पर अंकुश रखती थी। 18 वर्ष आयु वाले उन सभी स्त्रीपुरूषों को मताधिकार प्रदान किया गया जिनकी जिविका का साधन श्रम था। निजी व्यापारी, पादरी, शासक परिवार के सदस्य आदि को मताधिकार से वंचित कर दिया गया।

सरकार ने जमीदारों एवं बड़े-भूपतियों की जमीन को राज्य की भूमि घोषित करके उन्हें कृषकों में वितरित कर दी। औद्योगिक क्षेत्र में सरकार ने मजदूरों के नियंत्रण की नीति प्रारम्भ की गई जिसके आधार पर मजदूरों के प्रतिनिधि कारखानों के संचालन में भाग लेने लगे। बडे-बडे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया। निजी व्यापार पर प्रतिबन्ध आयत कर दिया। इसके साथ ही बैंकिग व्यवस्था एवं विदेशी व्यापार पर भी नियंत्रण स्थापित कर दिया। राज्य ने अपनी और से कृषि करने की कोई व्यवस्था नहीं की बल्कि अनाज की आवश्यकता की पूर्ति हेतू अनिवार्य अनाज वसूली व्यवस्था लागू की जिसके आधार पर किसान अपने खाने एवं बीज को छोडकर शेष को राज्य भण्डार में जमाकर खाना पडता था। कृषि एवं औद्योगिक सम्बन्धी नीति से किसानों एवं श्रमिकों में असंतोष उत्पन्न हुआ कई स्थानों पर कृषक विद्रोह भी हुऐ यहां तक कि क्रान्सटार में सोवियत बेड़े के नाविकों "ने विद्रोह कर दिया और नवीन संविधान सभा का निर्वाचन कराने एवं निजी व्यापार पुन: प्रारम्भ कराने की मांग की। जिसके फलस्वरूप बोल्शेविक सरकार को आर्थिक नीति में व्यापक परिवर्तन करना पड़ा।

बोल्शेविक सरकार ने राष्ट्रीय झण्डे का रंग लाल नियत किया और उस पर दर्राती (किसानों का चिन्ह) एवं हथोडा (मजदूरों का चिन्ह) अंकित किया गया। राष्ट्रीय चिन्ह में यह भी अंकित किया गया कि "रूसी सोशिलिस्ट सोवियत फेडरल रिपब्लिक", संसार के श्रमिकों मिलकर एक हो जाओ।" लेनिन का कहना था कि यह रूसी सरकार सही मायने में लोकतंत्रीय सरकार है अन्य लोकतंत्रीय राज्यों का इससे कोई मुकाबला नहीं हो सका। इस सरकार ने बाह्य एवं आन्तरिक सब प्रकार के भयों से नये शासन की रक्षा करने एवं एक नई सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था को कायम करने में असाधारण तत्परता एवं योग्यता प्रदर्शित की इस सरकार के प्रयत्नों (विशेषकर लेनिन के) से वहां न केवल पुरातन व्यवस्था का अन्त हुआ बल्कि एवं नवीन व्यवस्था एवं सभ्यता भी सामने आई।

22.8 अनुभागीय सारांश

1917 की क्रांति का सूत्रपात 8 मार्च, 1917 को हुआ जबकि मजदूरों ने रोटी के लिए चिल्लाते हुए जारशाही के नाश के लिए नारे बुलंद किये जार ने उन्हें अपनी शक्ति के बल पर कुचलना चाहा लेकिन वह असफल रहा और पद से हटना पड़ा। ऐसे में क्रांतिकारियों ने ल्वाव के नेतृत्व में अस्थाई सरकार बनाई जिसने धर्म, भाषा, प्रेस, की आजादी जनता को प्रदान की। लेकिन युद्ध को जारी रखने की नीति के कारण उसका विरोध होता रहा। क्रांतिकारी एवं विद्रोही लोगों को पकड कर जेल में ठूंसा जाने लगा। लेकिन कुछ समय बाद इन क्रांतिकारियो को रिहा कर दिया गया। 6-7 नवम्बर को लेनिन के समर्थकों ने पैट्रोग्राड के महत्वपूर्ण स्थानों पर अपना आधिपत्य जमा लिया। इसके साथ ही अस्थाई सरकार का पतन हो गया। लेनिन ने अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन में युद्ध से अलग हटने एवं भूमि का किसानों में वितरण सम्बन्धी दो प्रस्ताव

रखे। नवम्बर 1917 में लेनिन ने नई सरकार गठित की। जिसने जर्मनी के साथ संधि करके रूस को युद्ध से अलग कर दिया। जो कि एक महत्वपूर्ण कार्य था लेकिन इस कार्य से मित्र राष्ट्र एवं क्रांतिविरोध ताकतें क्रांति को खत्म करने के लिए सक्रिय हो उठी जिन्होंने सभी प्रयासों से क्रांति का अन्त करना चाहा, लेकिन वे बोल्शेविकों की शक्ति के सामने टिक नहीं सकी।

इस नई सरकार ने भाषा, धर्म, प्रेस इत्यादि की घोषणाओं के साथ कार्य के घंटे भी तय कर दिये। एक नवीन संविधान बनाया गया जिसके आधार पर "रशियन सोशिलिस्ट फेडरल रिपब्लिक की स्थापना हुई एवं मास्को को राजधानी बनाया गया। प्रत्येक स्त्री, पुरूष, जिसकी आयु 18 वर्ष थी, को मताधिकार दिया, निजी एवं विदेश व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उद्योगो का राष्ट्रीयकारण करके उन्हें मजदूरों के नियंत्रण में दे दिया। जमीदारों की जमीनों को किसानों में बॉट दिया। हालांकि इस व्यवस्था में दोष भी थे जिनसे मजदूरों व कृषकों में असंतोष फैला था, लेकिन उन्हें दबा दिया गया। लेकिन भविष्य में एक नई आर्थिक व्यवस्था लागू करने के लिए सरकार को बाध्य किया। इस तरह से बोल्शेविकों ने अपने प्रयासों से सर्वहारा वर्ग का अधिनामकतंत्र स्थापित करके साम्यवादी शासन व्यवस्था स्थापित की जिसका श्रेय मुख्य रूप से लेनिन को ही जाता है।

22.9 क्रांति का प्रभाव

1917 की रूसी राज्य क्रांति को यूरोप की ही नही बल्कि सारे विश्व की एक युगान्तकारी घटना मानी जाती है। फ़्रांसीसी क्रांति ने यद्यपि प्रजातांत्रिक विचारों को प्रतिष्ठित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास किया था लेकिन कालांतर में वहां भी राजतंत्रात्मक व्यवस्था ने अपने पैर दुबारा जमा लिये थे। लेकिन रूसी क्रांति ने अपने सिद्धान्तों को न केवल अपने देश में अब तक स्थापित कर रखा है बल्कि उन सिद्धान्तों, विचारों की लपेट में अन्य देश भी आ गये। जहॉ पर भी सर्वहारा वर्ग की सरकारें (साम्यवादी सरकारें) स्थापित हुई। इतिहासकार एच०जी० वेल्स ने इस क्रांति को इस्लाम के उदय के बाद होने वाली सर्वाधिक महत्वपूर्णघटना बताया है। वाल्श ने रोमन साम्राजय के पश्चात् इस क्रांति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। उधर लास्की महोदय का कहना है कि ईसा के जन्म के बाद होने वाली घटनाओं में यह अंतिम महत्वपूर्ण घटना है। वास्तव में देखा जाये तो यह क्रांति सिद्धान्त, कार्यक्षेत्र, विस्तार एवं तात्कालीन परिणामों की दृष्टि से महानतम घटना है जिसने वर्गहीन समाज, श्रमिक संगठन, अंतर्राष्ट्रीय संगठन एवं विश्व-व्यापी क्रांति का बिगुल बजाया है।

इस क्रांति के प्रभाव को हम मोटे रूप से दो भागों से बांट सकते है (1) रूस में क्रांति का प्रभाव - 1917 की मार्च की क्रांति ने निरंकुश जारशाही पर प्रहार करके उसे धराशायी कर दिया एवं उसके स्थान पर प्रजातंत्र की स्थापना की लेकिन उदारवादी सिद्धान्तो पर प्रजातंत्र का प्रयोग सफल नही हो सका। नवम्बर में हुई बोल्शेविक क्रांति ने बुर्जुआ गणतंत्र को समाप्त कर सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित किया। मार्च की क्रांति एक राजनीतिक अध्याय थी एवं नवम्बर की क्रांति ने मजदूर गणतंत्र को जन्म दिया। इस क्रांति के द्वारा कुलीनतंत्र के वर्चस्व एवं चर्च की सत्ता का अन्त कर दिया गया। नवम्बर की क्रांति ने रूस के सामाजिक एवं

आर्थिक ढांचे में आमूल परिवर्तन किया एवं उत्पादन शाक्तियों एवं समाजिक प्रगति के अधिक विकास का मार्ग-प्रशस्त किया।

नवम्बर 1917 में नये राज्य की पहली घोषणा की गयी। इस घोषणा के आधार पर रूस युद्ध से हट गया एवं जर्मनी से मार्च, 1918 में ब्रेस्टलिटोवस्क की संधि कर ली जिसके आधार पर रूस ने एक विशाल भू प्रदेश जर्मनी को सौंप कर देश के लिए शन्ति खरीद ली। सारी रूसी जनता के लिये शन्ति छटपटा रही थी। शान्ति मिलने से रूसियों में नई सरकार की क्रियात्मकता एवं गतिशीलता की नीति पर विश्वास जम गया।

बोल्शेविक सराकर ने एक घोषणा द्वारा मजदूरों, सिपाहियों एवं कृषकों के अधिकारों की घोषणा की जागीरदारी एवं जमींदारी प्रथा समाप्त कर दी गई। जमीदारों एवं कुलीनों की भूमि पर किसानों का आधिपत्य कायम हुआ। एक अन्य घोषणा द्वारा मजदूरों को मिल, उद्योगों, खानों आदि पर अपना नियंत्रण जमाने की आज्ञा मिल गई जिससे उत्पादन के साधानों पर राज्य का अधिपत्य हो गया। बैंको, बीमा कम्पनियों, यातायात के साधनों व्यापरित केन्द्रो एवं वितरण के साधानों पर राज्य अधिकार स्थापित कर दिया गया। नवीन शिक्षा पद्धति जिसका उद्देश्य साम्यवादी समाज का निर्माण करना था। लागू की गई। क्रांति के बाद रूस में एक नवीन सभ्यता, नई संस्कृति का जन्म हुआ, साम्यवाद की नवीन विचारधारा ने संस्कृति एवं समाज के सभी क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन किये।

जारशाही की समाप्ति कर रूस ने एक नवीन युग में प्रवेश किया। इस नये राज्य की नीतियां "प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमता एवं कार्य के अनुसार" के समाजवादी आदर्श पर आधारित थी। प्रत्येक व्यक्ति के लिए कार्य करना जरूरी था। समाज एवं सरकार का यह कर्तव्य हो गया कि - वे प्रत्येक व्यक्ति को कार्य के अवसर प्रदान करे "काम का अधिकार" संवैधानिक अधिकार हो गया। उत्पादन में वैयक्ति पूंजी एवं लाभ को हटा दिया। इससे परस्पर विरोधी हितों वाले वर्गो का अन्त हो गया एवं समाज में निहीत असमानताऐं लुप्त हो गई।

गैर रूसी राष्ट्रीयताओं के लिए यह क्रांति अधिक महत्वपूर्ण थी। अब तक के रूसी इतिहास का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जारशाही शासन में गैर रूसी जातियों का दमन किया जाता था लेकिन अब वे एक गणंतत्र के रूप में रूस के अंग हो गये। समस्त राष्ट्रयताओं को बराबर का दर्जा एवं सोवियत व्यवस्थापिका में बराबर का प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। इन्हें अपनी भाषा एवं संस्कृति की रक्षार्थ स्वायत्ता प्रदान की गई। नियोजित आर्थिक विकास एवं शिक्षा के प्रसार ने इन्हें पिछडेपन से उबारकार आधुनिक रूप प्रदान किया। विश्व इतिहास में प्रथम बार एक ऐसे राज्य का अभ्युदय हुआ, जिसने अनेकों जातियों के विभिन्न सिद्धांतों के बीच नवीन सिद्धांतों पर आधारित नये सम्बन्धों का सूत्रपात किया। रूसी राज्य के स्थान पर नवीन सरकार में नये राज्य को संघ राज्य मे बदल दिया। 1922 मे इस संध का नाम यू.एस.एस.आर. (समाजवादी सोवियत गणतंत्र यूनियन) रखा इससे पूर्व 1920 में बोल्शेविक दल को "सोवियत संघ की कम्युनिष्ट पार्टी का नाम दिया गया था।

बोल्शेविक सरकार न जार व उसके कुटुम्ब क सदस्यों को गोली से उड़ा दिया गया। रोमामानॉव वंश कें अन्य सदस्य या तो जेल मे डाल दिये गये या फिर वे देश से पलायान कर गये। विदेशी ऋण का भुगतान करने मे भी इस नई सरकार ने मना कर दिया। विदेशी पूंजी का

राष्ट्रीयकरण हों गया जिसकी भंयकर प्रतिक्रिया हुई एवं कुलीनों, जागीरदारों, सामन्तों एवं सेनापतियों ने वोल्शेविक सरकार के विरूद्ध गृह वृद्ध छेड़ दिया। जिन्हें विदेशी शक्तियों का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से सहयोंग प्राप्त था। लेकिन वोल्शेविक इस गृहयुद्ध में सफल रहे। 1922 में लेनिन ने "नई आर्थिक नीति" द्वारा देश की अर्थ-व्यवस्था को सुधारने की दिशा में उल्लेखनीय प्रयत्न किये। लेनिन के बाद स्हालिन ने प्रथम पंचवर्षीय योजना लागू कर देश में समाजवाद की नींव डाली।

22.9.2 बाहय जगत पर क्रांति का प्रभाव एवं महत्व :

1917 की रूसी क्रांति का प्रभाव एवं महत्व केवल रूस के 'आन्तरिक मामलों तक ही सीमित नहीं रहा। बल्कि बाहय जगत भी इस क्रांति के महत्व एवं प्रभावों से मुक्त नहीं रह सका। विश्व इतिहास की भविष्य में होने वाली गतिविधियों को इस क्रांति ने काफी प्रभावित किया है। इस क्रांति के फलस्वरूप विश्व में पहली बार मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर आधारित सर्वहारा वर्ग की सरकार बनी। जिसने रूस के अलावा विश्व की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं को काफी प्रभावित किया। इस क्रांति के कारण ही मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रयोग एवं प्रसार अवश्यम्भावी था। इसी के परिणामस्वरूप साम्यवादी विचारधारा का प्रसार विश्व के अनेक देशों में हुआ। साम्यवादी दल के अलावा अनेक ऐसे दल हैं जो सामाजवादी विचारधारा रखते है एवं समाजवादी विचारों के आधार पर ही अपने कार्य करते है। समाजवादी सिद्धान्तों की लोकप्रियता एवं रूस में उनकी सफलता ने प्रजातंत्र को पुर्नपरिभाषित करने के लिए बाध्य किया। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था वाले देशों ने यह महसूस किया कि सामाजिक एवं आर्थिक समानता के राजनीतिक समानता अधूरी है। उन्होने आर्थिक नियोजन के विचार को अंगीकार किया एवं मजदूरों कृषकों एवं दलित लोगों की अवस्था में सुधार हेतु कानून बनाये बाईबल के इस विचार को कि ''जो काम नहीं करेगा वह खायेगा नही" को रूसी क्रांति ने पुर्नजीवित किया इससे पद दलित वर्गो एवं मजदूरों में सम्मान का भावना जागृत हुई। समाजवादी विचारधारा ने जाति, रंग लिंग एवं आर्थिक आधार पर भेद-भाव को समाप्त कर वास्तविक प्रजातंत्र का मार्ग प्रशस्त किया।

इस क्रांति ने एक नये युग के द्वार खोले अब तक राज्य सत्ता बुर्जूआ वर्ग के हाथ मे ही रहती थी। लेकिन इस क्रांति से किसानों, श्रमिकों, एवं सैनिकों के हाथ राजसत्ता आने लगी। बुर्जआ समाज में श्रमिकों को बुद्धिहीन अयोग्य एव शासन के लिये अनुपयुक्त समझा जाता था। लेकिन सरकार की सफलता ने केवल श्रमिक वर्ग की योग्यता ही प्रदर्शित नहीं की बल्कि इस सिद्धान्त को व्यापक बना दिया कि श्रमिक सरकार ही वास्तविक जनहितकारी कार्यक्रम बना सकती है। विश्व मे सबसे पहले श्रमिक सरकार बनाने का श्रेय रूस को ही जाता है।

नवम्बर 1917 में होने वाले बोल्शेविक क्रांति का तत्कालीन परिणाम यह निकला कि साम्यवादी सरकार ने तुरंत ही जर्मनी से ब्रेस्टलिटोयस्क की संधि करके अपने को विश्व युद्ध से अलग कर लिया। मित्र राष्ट्रों ने इस संधि को रूस द्वारा जानबूझ कर उन्हें हराने के लिए किया गया विश्वासधात समझा। जारद्वारा की गई सभी संधियों एवं गुप्त समझोतों को जार ने अमान्य घोषित कर दिया। इसलिए पेरिस शान्ति सम्मेलन में जो प्रदेश रूस को मिलने वाले थे

अन्य मित्रराष्ट्रो को दे दिये गये। मित्र राष्ट्रों ने उसे मान्यता नहीं दी एवं संयुक्त राष्ट्र संघ का उसे सदस्य भी नहीं बनाया। रूसी क्रांति के परिणामों को सनिष्क्रिय करने का प्रयत्न किया। रूसी प्रतिक्रियावादियों को सक्रिय सहायता भी मित्र राष्ट्रों ने दी ताकि वे क्रांति को दबाकर पुन: पुरातन व्यवस्था स्थापित कर सके। विश्व के अनेक देशों ने रूस से व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ लिये थे। लेकिन क्रांतिकारियो का उत्साह एवं हौसला ठंडा नही पड़ा अन्तत: वे सफल रहे। ऐसे व्यवहार का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर कटु प्रभाव पड़ा।

रूसी साम्यवादियों ने अपनी क्रांति को अन्तर्राष्ट्रीय क्रांति की दिशा में कदम माना जिसका उद्देश्य पूंजीवाद एवं राष्ट्रवाद के विनाश का मार्ग प्रशस्त करना था। इसके लिए उन्होंने एक नारा दिया कि विश्व के मजदूरो, एक हो जाओ तुम्हें अपनी जंजीरो के अतिरिक्त कुछ नही खोना है। ''विश्व के अधिकांश देशों मे साम्यवादी दल बनाये गये और उन्हें कोमिन्टर्न (Commintion) नामक संस्था से आबद्ध किया। जिसके प्रमुख कार्य विभिन्न देशो मे साम्यवादी दलो का संगठन करना, धन संबंधी सहायता प्रदान करना, श्रमिकों व कृषको में पूँजीवाद व बुर्जुआ सरकार के विरूद्ध क्रांति एवं विद्रोह की भावनाएँ भड़काना इत्यादि थे। जिसने अमेरिका जैसे पूंजीवादी राष्ट्रो में भी "लाल आंतक" का सूत्रपात किया। इस संस्था से अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन का नेतृत्व साम्य वादियों के हाथों में आने लगा। इस संस्था का नारा “विश्व क्रांति" था जिसने पूंजीवादी देशों में इस क्रांति के सिद्धान्तों के विरूद्ध आवाज उठाई। अत: विश्व साम्यवादी एवं पूंजीवादी गुटों के विभाजित हो गया। इससे अंतर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि हुई।

क्रांति की सफलता ने साम्राज्यवादी विचारधारा पर गहरा आधात किया। फलत: विश्व साम्राज्यवादी श्रृंखला छिन्न -भिन्न होने लगी। रूस जो दूसरी बहुत बड़ी कड़ी था। वह इससे अलग हो गया। साम्राज्यवाद का एकाधिपत्य समाप्त हो गया। भू-मण्डल के छठे भाग पर समाजवाद की विजय पताका फहराने लगी। साम्यवाद ने उपनिवेशों के लोगों को साम्राज्यवाद के विरूद्ध उठ खडे होने की प्रेरणाप्रदान की। क्रांति ने ही उपनिवेशों के राष्ट्रीय आन्दोलन कें स्वरूप को परिवर्तित किया। अब राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक एवं आर्थिक समानता तथा नियोजित अर्थ-व्यवस्था की मांग की जाने लगी।

इसके अतिरिक्त रूस। साम्यवाद के प्रसार से आंतकित मित्र राष्ट्रों ने युद्धोत्तर काल में उसके विरूद्ध दीवार खडी करने के लिये इटली, जर्मनी, आदि देशों को शक्तिशाली बनाने की नीति अपनाई जिसके कारण उन देशों में अधिनायकवाद को प्रोत्साहन मिला।

इस क्रांति का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव एवं परिणाम यह निकला कि वह रूस जो प्रथममहायुद्ध एवं उससे पहले जर्मनी, जपान, इत्यादि देशों द्वारा पराजित किया जा चुका था। सत्तपरिवर्तन के बाद उसने द्रुतगति से चहुँमुखी विकास करके अमेरिका एवं अन्य देशों के बराबर रह कर जो प्राप्त किया एवं विश्व मे शक्ति सन्तुलन बनाये रखने में अपना महत्वपूर्णयोगदान देते हुये स्थान निर्धारित किया।

इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि फ्रांसीसी क्रांति के समान ही यह रूसी क्रांति भी एक युगान्तकारी घटना थी जिसका प्रभाव रूस के इतिहास तक ही सीमित नहीं है बल्कि मनुष्य जाति के इतिहास में 7 नवम्बर, 1917 का दिन एक महान एवं अविनाशी सीमा चिन्ह के रूप

में विद्यमान है। नवम्बर क्रांति ने रूस के समाजिक, राजनीतिक, एवं आर्थिक ढांचे मे आमूल चूल परिवर्तन किया। और उत्पादन शक्ति एवं सामाजिक प्रगति के विकास का मार्ग-प्रशस्त किया। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इस क्रांति से अनेक साम्राज्यवाद पर करारा चोट करके पूंजीवाद की नींव हिला दी। मजदूरों की स्थिति में सुधार कर अन्तर्राष्ट्रीयवाद की भावना का प्रचार किया।

22.10 इकाई सारांश

1917 की रूसी क्रांति 1789 की फ्रांसीसी क्रांति के बाद विश्व इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी यह अपने ढंग एक विलक्षण एव स्थाई क्रांति सिद्ध हुई जिसने रूसी जनता के जीवन के सभी अंगों को प्रभावित किया एक इससे उत्पन्न विचार समस्त विश्व में फैल गया। 1917 से पहले भी 19०5 में रूस में एक क्रांति हो चुकी थी जो वहां के जारशाही के निरंकुश एवं अत्याचारी शासन के विरूद्ध कुलिनो के विरुद्ध थी। किसानो की शोचनीय अवस्था, बुद्धिजीवी एवं लेखक वर्ग का उदय, मजदूरों की हीन अवस्था बुद्धिजीवी एवं विदेशी आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना करने में असमर्थ रहने के कारण भी यह यह क्रांति अवश्यम्भावी थी। जिसने विशाल "एवं उग्र रूप धारण कर लिया। जिसके कारण विवश होकर जार को जनतांत्रिक व्यवस्था सम्बन्धी प्रयोग करने पडे लेकिन कुछ समय बाद उसने फिर प्रतिक्रियावादी नीति को अपना लिया। जिसके परिणाम स्वरूप उपरोक्त कारणों से 1917 में दुबारा क्रांति का सूत्रपात हुआ जिसका तात्कालिक कारण प्रथम विश्वयुद्ध में सर्वत्र उसकी अपमानजनक पराजय होना था। समाजवादी दलों विशेषकर बोल्शेविक दल ने इस असन्तोष एवं विद्रोह की भावना का लाभ उठाकर जनता को भड़काया। फलत: 8 मार्च, 1917 को मजदूरों ने हड़ताल कर दी जिसे जार दबाने में असमर्थ रहा। मजदूरों एवं सैनिकों से अपनी सगंठित संस्थाऐं बना ली एवं उन्होने ही "अस्थाई सरकार गाठित करके जार को गछदी से हटाने में सफलता पाई। अस्थाई सरकार उनकी इच्छाओं को पूर्ण नहीं कर सकी। बोल्शेविक ने पुन: मजदूरों किसानों सैनिकों से विद्रोह करवा दिया एवं राजधानी के महत्व पूर्ण स्थानों पर दल ने कब्जा कर लिया एवं अस्थाई सरकार को धराशाही करके एक नवीन सरकार बनाई जिसने दो प्रस्तावों द्वारा विश्व-युद्ध से बिना हर्जाने के दिये हट जाना एवं कृषकों को भूमि वितरण करना-जन समर्थक प्राप्त कर लिया। लेनिन नई सरकार का अध्यक्ष बना जिसने जर्मनी से संधि करके रूस में शान्ति स्थापित की। मजदूरों के गणतंत्र की स्थापना होने एवं रूस के युद्ध से हाथ खींच लेने के कारण सरकार को आन्तरिक एवं बाह्य आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ा जिसने कुछ समय बाद अपनी श्रेष्ठता साबित करते हुऐ अपने शासन को बनाये रखा। एक नवीन संविधान बनाया गया जिसके भाषा, धर्म, प्रेस, सभा इत्यादि की स्वतंत्रता जनता को प्रदान की एवं मानव अधिकार घोषण पत्र भी जारी किया। रूस को "रशियन सोसलिस्ट, सोवियत रिपब्लिक नाम रखा एवं पेट्रोग्राड के स्थान पर मास्को को राजधानी बनाया। शासन चलाने के लिए एक प्रेसिडियम बनाई जो मंत्रिमण्डल पर अंकुश रखती थी। जमीदारों की जमीनें छीन कर किसानों को दे दी एवं उद्योगों पर मजदूरों का नियंत्रण स्थापित किया। बडे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर लिया। नई व्यवस्था साम्यवादी व्यवस्था कहलाने लगी। जिसने सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में भी आधारभूत परिवर्तन किये।

इस 1917 की क्रांति का रूस के इतिहास में ही नहीं बल्कि विश्व इतिहास में महत्व है। जिसने रूस में जारशाही का अन्त किया सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतंत्र स्थापित किया। विश्व जमींदारी प्रथा समाप्त की। नवीन शिक्षा पद्धति से साम्यवादी समाज का निर्माण लिया गैर रूसियों को सभी स्वतंत्रतायें दी गई एवं उन्हें एक गणतंत्र का रूप दिया। एक नवीन आर्थिक नीति द्वारा देश का विकास हुआ। बाह्य जगत पर भी इसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। मार्क्सवादी सिद्धान्तों को विश्व में फैलाने का प्रयास शुरू हुआ जिसके कारण अनेक देश मार्क्सवादी बने। पूंजीवादी देशों ने आर्थिक सुधार करके मजदूरों एवं किसानों की अवस्था में सुधार किये। नवीन व्यवस्थाओं ने जार द्वारा की गई संधियों एवं समझौतों को अमान्य ठहराया। विश्व साम्यवादी एवं पूंजीवादी दो खेमों में बंट गया। साम्राज्यवाद का अन्त होना एवं राष्ट्रीयता चेतना आना भी इस क्रांति का एक प्रभाव था। रूस ने द्रुतगति से आना विकास करके एवं विश्व शक्ति के रूप में अपना उभार किया एवं विश्व में शक्ति सन्तुलन बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

22.11 संदर्भ अध्ययन सामग्री

(i) Lipson, E	:	Europe in the 19th and 20th centruries.
(ii) Grant and Tempulay	:	Europe in the 19th and 20th centuries.
(iii) ह्यूसेटन -वाटसन	:	दी डिक्लाइन ऑफ इम्पीरियल रशा।
(iv) आइजेक ड्रयूटसर	:	दीन्यू केम्ब्रिजमॉर्डन हिस्ट्री Vol. XII
(v) क्रेग, गोर्डन	:	यूरोप सिंस 1815
(vi) सम्नर, बी.एच.	:	रूसी इतिहास का सर्वेक्षण
(vii) वर्नादस्की, जार्ज	:	रूस का इतिहास

22.12 अभ्यास कार्य -

(1) उन परिस्थितियों का वर्णन जिसके कारण रूस की राज्य क्रांति हुई।

(2) रूसी राज्यक्रांति के कारण एवं घटनाओं का संक्षेप में वर्णन कीजिऐ।

(3) रूस की 1917 के क्रांति का रूस एवं बाह्य जगत पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख कीजिए।

इकाई-23
लेनिन आंतरिक तथा विदेशी नीतियाँ

इकाई संरचना

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 लेनिन की आंतरिक नीति तथा परंराष्ट्र नीति

23.3 न्यू एकोनोमिक पालिसी

23.4 बोध प्रश्न

23.5 संदर्भ ग्रंथ

23.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययनोपरांत आप निम्न बातों से परिचित को सकेंगें -

(1) लेनिन की आंतरिक व विदेशनीति

(2) नवीन आर्थिक नीति

23.1 प्रस्तावना

लेनिन का असली नाम व्लैदामिर एलिच उनियानव था परन्तु वह रचनात्मक उपनाम लेनिन से प्रसिद्ध हु आ। उसका जन्म 1870 में वोल्गा नदी पर बसे सिमबिस्क नामक नगर में (जो अब लेनिन के नाम पर उनियानव कहलाता है) एक बुद्धिजीवी परिवार में हु आ। प्रारंभ से ही अतिवादी लेनिन काजान विश्वविद्यालय का प्रतिभाशाली छात्र रहा। जब उसके बड़े भाई को जार एलेक्जेन्डर थर्ड के हत्याकाण्ड के आरोप में फांसी पर चढ़ाया गया तो लेनिन भी क्रांतिकारियों में मिल गया। 1896 में जेल तथा 1899 में साइबेरिया में निर्वासन झेलकर लेनिन एक पत्रिका इसका (चिनगारी) से सम्बन्धित रहा। यदपि लेनिन प्लेखानव का भक्त रहा था पर 1903 में रूसी मार्कसिस्टों की पार्टी मीटिंग में उसने प्लेखानव को चैलेन्ज किया तथा जो विभाजन हु आ उसमें लेनिन के साथ मेनोरिटी रही इसी से लेनिन के अनुयायी "बाल्शविक" (बहु मत) कहलाए तथा अन्य मेनशाविक (अल्पमत) लेनिन का विचार था कि पार्टी तथा श्रमजीवी वर्गों को ही सर्वासत्तात्मक रहना चाहिए तथा इस क्रांति के लिए एक अनुशासित तथा कृतसंकल्प ग्रुप की आवश्यकता थी। लेनिन ने बहु त सी विवादात्मक पुस्तकें लिखी जैसे साम्राज्य तथा क्रांति", साम्राज्यवाद पूंजीवाद का सर्वोच्च स्टेज है तथा अन्य संग्रह। लेनिन में मीमान्सात्मक, व्यवहारिक तथा प्रयोगात्मक अनुभूति का सम्मिश्रण था जिसने उसे यथार्थवादी बना दिया था। अपनी तनम्यता द्वारा बुद्धजीवियों तथा जनसाधारण के बीच ताल मेल बना लेता था। मार्क्सवाद के सिद्धान्तों में जो परिवर्तन लेनिन ने किया वह विश्व की परिवर्तनशील परिस्थितियों, रूस की आन्तरिक स्थिति तथा अन्तर्राष्ट्रीय अनुभवों को देखकर किए। यही मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त कहलाए। मार्क्स तथा एनगिल्ज ने नर्मी तथा अतिवाद दोनों मार्ग दर्शाए थे इसलिए लेनिन पर मार्क्सवाद को बिगाड़ने का आरोप लगाना सही नहीं। खेतिहर रूस में मजदूर वर्ग कम

था अत: लेनिन ने कृषकों को भी क्रांतिकारी शक्तियों में शामिल कर लिया। लेनिन का क्रांति कार्य कठिन अवश्य था क्योंकि मार्क्सवादी सिद्धान्त साम्राज्यवादी पूंजीवादी देशों को नजर में रखकर बनाए गये थे पर "अप्रेल थेसिस" से लेकर अपनी सभी रचनाओं में लेनिन ने समाधान ढूंढ कर लिख डाला। क्रांति सफल रही। लेनिन नवम्बर 1917 में लाल सेना सहित एक नए युग का निर्माण करने चला।

नई सोवियत सरकार लेनिन की अध्यक्षता में 9 नवम्बर को काउन्सिल आफ पीप्ल्ज कमीसार के नाम से प्रारम्भ हुई। लेनिन कम्यूनिस्ट पार्टी तथा राजनैतिक व्योरो दोंनो का मुख्याधिकारी थी। स्टालिन राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग का प्रभारी था। एलेक्सिज रीकोव आन्तरिक मामलों का एवं ट्राट सकी विदेशी मामलों का कमीसार हुआ। 10 जुलाई 1918 को प्रथम सोवियत संविधान गृहण करके सोवियत फिडरेटेड सोशलिस्ट पार्टी की शुरूआत हुई। लेनिन को इसके साथ ही अन्तिरिक तथा विदेशी मसलों से भी निपटना था।

23.2 लेनिन की आन्तरिक नीति तथा परराष्ट्र नीति

फारेन पालिसी अपने मूलाधारों सहित अन्त: सम्बद्ध तथा अन्योन्याश्रित थी। लेनिन ने क्रांति से पूर्व स्पष्ट रूप से कहा था कि कोई भी विचार इतना भ्रान्तिपूर्ण तथा हानिकारक नहीं जितना आन्तरिक तथा परराष्ट्र नीतियों को पृथक समझना" 1924 में जिनोविएव ने फिर यही घोषणा की थी कि हमारी बाहृय नीतियां कभी भी हमारी आन्तरिक नीतियों से इतनी जुड़ी न थी जितनी आज है।" फिर भी 1923 के संविधान में कुछ न कुछ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सोचना था। मार्क्सवादी सिद्धान्तों में वैसे तो परराष्ट्र अथवा विदेशी नीति का कोई फारमूला नहीं क्योंकि क्रांति द्वारा वह समस्त संसार का एक "श्रम" राष्ट्र बनाने का स्वप्न लेकर आए थे। ध्येय था पूंजीवाद, साम्राज्यवाद से युद्ध, विश्व को दो भागों में (अर्थात पूंजीवादी तथा सोशलिस्ट) विभाजित करके इस विश्वास से चले कि साम्राज्यवाद के अन्तरनिहित पारस्परिक विरोधी तत्व स्वंय उसे नष्ट करने में सक्षम है। सोवियत रूस ने अन्य देशों के समान कुछ दीर्घकालीन प्रोग्राम (जैसे सोवियताईजेशन एवं कप्यूनिज़्म का विस्तार, मार्क्सवादी लेनिन वादी विचारधाराओं को कार्यान्वित करना) तथा कुछ अल्पकालीन प्रोग्राम (जैसे आत्मसुरक्षा तथा आन्तरिक प्रगति इत्यादि) बना रखे थे। इस बात पर सोवियत नीति साफ रही कि दीर्घकालीन प्रोग्रामों में भी सिद्धान्तों पर समझौता नहीं होगा। चाहने पर भी बाल्शविक रूस अक्समात् ही जार की रूढ़ीवादी शक्तियों तथा प्राचीन संस्कारों को समाप्त न कर सकता था। कुछ विद्वानों ने इसीलिए सोवियत रूस को प्रारंभिक दिनों में संस्कारवाद, राष्ट्रवाद, के बीच फंसा बताया है। कुछ विद्वानों का कथन है कि सोवियत विदेशी नीति को उसके आत्मरक्षातन्त्र के संदर्भ में समझना चाहिये। चर्चिल ने एक बार कहा था कि लेनिन का उद्देश्य विश्व की सुरक्षा प्रदान करना था पर उसके लिए प्रणाली चुनी थी उसने विध्वंस की"। यह सभी कथन लेनिन की आन्तरिक तथा विदेशी कठिनाइयों के मध्य उत्पन्न नीतियों की ओर इंगित करती है।

क्रांति के पश्चात् सोवियत रूस में आन्तरिक अराजकता छा चली। गृह युद्ध के साथ पोलेन्ड से भी लड़ाई छिड़ गई। भूतपूर्व रोमानव राज्य के गैर रूसी तत्व स्वाधीनता की मांग पर लड़मर रहे थे क्रांतिविरोधी तत्व "श्वेत" भी हल्लाकर रहे थे। सबसे अधिक खतरा था सम्बद्ध

देशों से (मुख्यत: जापान से जिसने 60000 सैनिक भेजे थे) जो रूस के मामलों में हस्तक्षेप कर रहे थे। अंग्रेजों की 40000, अमेरीका की 10000, फ़्रांस इटली यूनान इत्यादि की टुकड़ियां भी अक्तूबर 1919 से जनवरी 1920 तक सोवियत समुद्री तट की नाके बन्दी कर रही थी जब कि इससे पूर्व उनका ध्येय केवल जर्मनी के आर्केन्जल तथा मुरमन्सक से युद्ध सामग्री बटोरने पर रोक लगाना था। उनमान केनान ने विस्तार पूर्वक इन समबद्ध देशों की समन्वित संदिग्ध गतिविधियों पर प्रकाश डाला है पोलेन्ड तथा अन्य सम्बद्ध देशों का तो ध्येय सीमित था अपने हितों की रक्षा तक पर "श्वेत" का उद्देश्य लाल रूस को समाप्त करना था। पर श्वेत के पास उतने अच्छे हथियार तथा बड़ी सेना न थी जैसी 'लाल" क्रांतिकारियों के पास जो रूस का मध्यवर्ती भाग (यातायात, व अन्य औद्योगिक सैनिक साधानों सहित) कन्ट्रोल किए थे लाल सुंसगठित, सुसशस्त्र भी थे। राजनैतिक तथा भौगोलिक स्थिति ने श्वेत को पारस्परिक द्वन्दता का शिकार कर दिया समबद्ध देशों के सैनिक जो अपने घरों को लौटना चाह रहे थे या अफसरों के आर्डर के पाबन्द थे अधूरे मन से उनका साथ दे रहे थे। जगह जगह विद्रोह फिर भी फूट रहे थे। उच्चतम मध्यवर्ग श्वेत को समर्थन दे रहा था। कृषकों ने श्वेत तथा लाल दोनों के हाथों झेला था। सो वह अलग रहे। एक श्वेत विद्रोह जून जुलाई में समारा में दबाया गया। चायकोन्सका ने फ़्रांस तथा ब्रिटेन की सहायता से एक सरकार बनाई। पूर्वी सीमा पर बुखारा में सोवयित यूनियन ने बसमाचियों (देशीय मुसलमान जो अखिल तूरानी राज्य का स्वप्न देखने वाले नेता अनवर पाशा के नेतृत्व में विद्रोह कर रहे थे।) को 4 अगस्त 1922 में पराजित करके 2 रिपब्लिक (उजबेकिस्तान तथा ताजिकिस्तान) बना दी।

26 फरवरी 1921 को पार्शिया और सोवियत रूस के बीच सन्धि हुई जिसके अंतर्गत भूतपूर्व सभी विशेषाधिकार मास्को ने स्वेच्छा से रद्द कर दिया। सितम्बर 1920 में बाकू में एक कांग्रेस आफ ओरियन्टलिस्ट हुई ताकि एशिया में साम्राज्यवादी शक्तियों के विनाश का तरीका निकाला जाए। एशिया की आध्यात्मिक, धार्मिक स्थिति में कप्यूनिज़्म केवल छोटे गुट ही बना सका था। जापानी इच्छुक थे कि रूसी शक्ति के पतन के पश्चात फार ईस्ट ले लें। जापानी सेनाओं ने सखालीन के रूसी भाग में तथा साईबीरिया के एक बड़े भाग में अमेरिका, ब्रिटेन फ़्रांस, इटली के साथ बढना शुरू किया। दूसरे सम्बद्ध देशों ने ओडिसा तथा बातुम में डेरा डाला। यह अक्तूबर 1919 से जनवरी 1920 तक सोवियत तटवर्ती सीमाओं की नाकेबन्दी कर दी तथा श्वेत सेनाओं को भी सहायता देते रहे जैसे डंकन की सेना को ब्रिटिश टैंक दिए। इस जमघट से भी विद्रोहियों का बडा सहारा था। 1920 में यह सेनाएं चली गईं पर जापान रूसी फारइसट के समुद्री प्रान्तों में 1922 तक तथा सखालीन में 1925 तक डटे रहे।

सम्बद्ध देशों की सेनाओं के हटने के बाद पोलेन्ड तथा रूस में संघर्ष अप्रेल 1920 से अक्तूबर मध्य तक चलता रही क्योंकि पश्चिमी उकराइन तथा बेलोरूस को पोल पोलेण्ड निवासी अपना समझतें थे। जून जूलाई में पोलेन्ड निवासियों ने रूस पर चढाई की। यद्यपि लाल सेना ने माइकेल तुकाचेव्सकी के नेतृत्व में वारसा तक लडाई की पर फ़्रांसीसी सहायता से पोलेन्ड ने रूस को पराजित कर दिया। वोल्गा की सन्धि 18 मार्च 1921 को हुई जिस से पोलेंन्ड को सारी मनचाही भूमि कूजन लाइन तक मिल गई।

अप्रैल 1920 में समबद्ध देशों (Allied forces) की सेना चेकोस्लोवाकिया के सेनानियों सहित साइबीरिया से यूरोप चली परन्तु जापानी तटवर्ती प्रान्तों में डटे रहे जब कि रूसी काम्प्राडोर आतमान सेमेनोव टोकियो की सहायता सें ट्रान्सबयकाल पर राज्य करता रहा। चूँकि सभी सीमावर्ती इलाकों पर सफेद लोगों की पराजय हो रही थी जापानी हस्तक्षेप के विरूद्ध राष्ट्रीय असंतोष फैल रहा था तथा अमेरिका का दबाव भी बढने लगा था तो टोकियो को साइबीरिया छोड़ना पड़ा। वाशिंगटन कान्फ्रेन्स में सेक्रेट्री आफ स्टेट हफ ने बैरन शीदेहारा से यह आश्वासन तो ले लिया था कि पूर्वी सखालीन पर जापान का आधिपत्य केवल अंतरिम तथा अस्थायी है। जैसे ही कोई सुदृढ़ शासन रूस में स्थापित हुआ जापान को उसे छोड़ना होगा। यह भी कहा गया कि रूस के आन्तरिक मामलों में जापान हस्तक्षेप नहीं करेगा तथा रूस की क्षेत्रीय अखंडता का आदर करेगा। यधपि अमरीका ने यह स्पष्ट नहीं किया था कि सुदृढ शासन से उसका तात्पर्य क्या है पर इस कान्फ्रेन्स मे अमरीका की रूस जापान सम्बन्धों के संदर्भ में ली गई नीति का स्पष्टीकरण अवश्य हो गया।

रूस ने धीरे धीरे सेनाओं द्वारा श्वेत सेना पूर्व से हटाने का निश्चय किया। 3 सितम्बर से 25 अक्तूबर 1922 तक जापानी फौजों ने तटवर्ती सीमा के सूबों को छोड़ दिया पूर्वी साईबीरिया में रूस के राज्य का पुर्नसंगठन हुआ। नवम्बर 14, 1922 तक मास्को को दोबारा सोवियत यूनियन में ले लिया गया। जापान ने भी यह मान लिया कि सोवियत सरकार अब सुदृढ़ हो या नही पर "वास्तविक" अवश्य थी। सितम्बर 1923 के भीषण भूकम्प से जो आर्थिक क्षति जापान को हुई उससे शान्ति की लालसा तीव्र हो गई। रूस भी आर्थिक रूप से जापान के लिए महत्व रखता था। समस्त एशिया ये राष्ट्रीयता की लहर दौड़ रही थी। 1921 में एग्लो जापानी सन्धि हुई। अमरीका की जापान के प्रति शत्रुता ऐन्टी जापानी इमिगरेशन ला (जापान विरोधी आप्रवास नियम जो 1924 में पास हुआ) द्वारा प्रमाणित हो चुकी थी। सितम्बर 1920 में बाकू में एक कांग्रेस आफ ओरियन्टलिस्टस का आयोजन हुआ जहाँ यह विचार विमर्श हुआ कि किस प्रकार साम्राज्यवादी शक्तियों को एशिया में तोड़ा जाए। एशिया अपनी आध्यात्मिक तथा धार्मिक वातावरण ''पिछड़ी सभ्यता" तथा आर्थिक स्थिति के कारण कन्यूनिज़्म के लिए ''तैयार भूमि" न था।

ब्रिटेन ट्रान्सकाकेसिया और मिडिलईस्ट से अगस्त 1919 से हट गया और 7 जुलाई 1920 को बातुम से भी सेना की टुकडी ब्रिटेन ने हटा ली। अब उस की तेल के इन खजानों की प्राप्ति असम्भव रही थी। मास्को ने अपनी दक्षिणी तथा दक्षिण पश्चिमी सीमाऐं सुरक्षित कर ली। उत्तरी दबाव के कारण जार्जिया की मानशेविक गर्वनमेंट गिर गई और उसे भी सोवियत रूस ने ले लिया। एक ट्रान्सकाकेसियन फ़िडरेटिव सोवयित रिपब्लिक बन कर सोवियत यूनियन के खानदान में सम्मिलित हो गई। जिसमें अरमीनिया, आजरबाईजान था। इस प्रकार काकेसस को ले लेने के पश्चात विश्व की राजनीति में तेल के लिए चलने वाला 7 वर्ष पुराना युद्ध समाप्त हो गया। पर पार्टी में इस निर्माण के कार्य की नीति पर मतभेद था। सिविल बार की समाप्ति के पश्चात कुछ तो क्रांति के अंतराष्ट्रीय महत्व तथा फैलावे की बात सोच रहे थे तो कुछ इस पर जोर दे रहे थे कि साम्राजयवादी देशों के मुचैटो से मिला वह कम समय का छुटकारा किस प्रकार राष्ट्र के निर्माण में लगाया जाए। पहला समाधान तो यह था कि

कम्यूनिज़्म के बाहय विस्तार के उद्देश्य से एक पृथक संख्या बनाई जाए जिस का प्रत्यक्ष रूप से सोवियत सरकार से कोई सम्बन्ध न बताया जाए। इसी समिति का नाम था थर्ड इन्टरनैशनल। इस थर्ड इन्टरनेशनल का विचार लेनिन को 1915-16 में स्विट्जरलैन्ड में आया था जब सेकेन्ड इन्टरनेशनल युद्ध की तबाहियों तथा कुछ सोशलिस्ट के परित्याग का शिकार हो कर लगभग समाप्त हो चुका था। जब कम्युनिस्ट संज्ञा स्थापित हो गई तो इस पर पुर्नविचार कर के लेनिन तथा ट्राटसकी ने पहली इन्टरनेशनल की बैठक मास्को में 24 जनवरी 1919 में बुलाई। प्लान केवल विश्व आन्दोलन ही न था पर यह समिति विदेशी हस्तक्षेप के विरूद्ध प्रत्याक्रमण भी कर सकेगी। आन्तरिक क्रांति की उत्पत्ति का भय अधिक प्रभावशाली हो सकता था। यह था भी ऐसा समय जब यूरोप में अराजकता फैल रही थी। हंगरी में क्रांति के पश्चात मार्च 1919 से अगस्त 1919 तक कम्युनिस्ट उत्थान पर थे। अप्रैल में बबेरिया में भी उनकी महत्ता बढ गई थी। पर इन चिनगारियों से ऐसे शोले न निकले जिनसे बूर्ज्वा कैपिटलिस्ट राज्य गिराए जा सकें। 1921 में जब थर्ड कांग्रेस आफ कप्यूनिस्ट इन्टरनेशनल की बैठक हुई तो हालात बदल चुके थे। चौथी कांग्रेस नवम्बर 1922 में, पाँचवी जून 1924 में छठी जून 1928 में पर प्रत्येक कांग्रेस में कप्यूनिस्ट दिन प्रतिदिन अपनी आशाऐं विश्वक्रांति की मिटती देखने लगे। खोज प्रारम्भ हुई कि कौन सा नया फारमूला अपनाया जाय जो इस परिवर्तन के युग में प्रभावशाली हो सके।

कमइर्बर्टन अथवा तृतीय कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल जिनोविएव की अध्यक्षता में काम कर रही थी। इसने पुराने जार के ऋणों के भुगतान से इन्कार कर दिया था तथा सम्बद्ध देशों के हस्तक्षेप के लिए हरजाना भी मांगा। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य था समस्त विश्व की कप्यूनिस्ट पार्टियों के बीच समन्वय बनाए रखना, उन सारी "विनाशकारी" अथवा क्रांतिकारी विच्छेदक गतिविधियों में जो यह कम्युनिस्ट अपने अपने देश में क्रांति लाने के लिए कर रहे थे उन का पथ प्रदर्शन तथा सहायता करना। इसी कारण तृतीय कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल के अस्तित्व से सभी देश भयभीत थे। इसकी विस्फोटक गतिविधियां अन्य देशों से रूस के सम्बंध सामान्य नहीं बनने देती।

1924 में करोविन ने अपनी पुस्तक संक्राति काल में अन्तराष्ट्रीय नीति (International low of the Transition period) में मार्क्सवादी नीतियों का विश्लेषण किया। उसके विचार कि पुराने दायित्व निभाते हुए संक्रातिकाल में सोशलिज़्म तथा पूंजीवाद सहास्तित्व रहे तो अच्छा है। ट्रटस्की के चार कमीसार होने के पश्चात उसका असिसटेन्ट चिचारिन 1918 से 1930 तक विदेश मंत्री था तथा लेनिन, स्टालिन व पॉलिट व्योरो के आदेशानुसार कार्यवत था। उस का मुख्य ध्येय था सोवियत यूनियन को मान्यता दिलाना। हंगरी तथा बवेरिया मे सफलता मिली थी पर उसके आगे क्रांति की ज्वाला फैलाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। 1921 तक सोवियत यूनियन कुछ विविक्त सा था। समबद्ध देश अभी भी यह समझ रहे थे कि शायद सोवियत सरकार समाप्त हो जाएगी। दिसम्बर 1917 को जर्मनी से जो सन्धि हुई थी उसकी कड़ी शर्तो के कारण ट्राटसकी ने उसे रद्द कर दिया था तथा "न युद्ध न सन्धि (No war no peace) की नई पालिसी चलाई। परन्तु लेनिन ने जर्मनी से 3 मार्च

1918 की सोवियत जर्मन ब्रेस्ट लेटोविस्क की सन्धि कर ली। बेनादसकी कहता है कि इस सन्धि की शर्तें रूसके लिए बरबादी लाई। उकराईन पोलेन्ड, लिथेवानिया, स्टोनिया, लैटविया ने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। ट्रान्सकाकेसिया का एक भाग तुर्की में मिल गया। रूस ने हरजाना भरा तथा 27% खेतिहर भूमि 73% लोहे की 75% कोयले की इन्डसट्री इत्यादि खोदी।

यद्‌यपि इस सन्धि से प्रत्यक्ष रूप से रूस की हानि हुई पर इससे रूस को संभलने का मौका मिल गया। शन्तिपूर्वक सोवियत रूस अब अपने नए कप्यूनिस्ट सुधार कर पाया। पुरानी न्याय पद्धति के स्थान पर नए "मानव" कोर्ट बने। उपाधियां आदि, सम्पति जब्त हो गई। नया ग्रेगोरियन कलेन्डर 31 जनवरी 1918 को बना। मेनशविक को सजा मिली 1918 से बार कप्यूनिज़्म ने नई शक्ल ली। 28 जून 1918 के अधिनियम से राष्ट्रीयकरण बढ़ा। बिजली, चमड़ा, सीमेन्ट, लकडी, शीशा तम्बाकू वर्तन, किशमिश सभी का राष्ट्रीयकरण हो गये। प्राइवेट ट्रेड की समाप्ति पर खाने का बटवारा भी गवर्नमेन्ट करने लगी।

रूस की दशा वह थी जो 30 वर्षीय युद्धोपरांत जर्मनी की थी इन्डसट्रीज पहले से घट कर 13% रह गई थी फरवरी 19, 1918 से भूमि का राष्ट्रीयकरण हुआ तो कृषकों को खाना उगाही (food levy) के लिए (बस अपने खाने भर कर बचा कर) दे देना पड़ता इससे पैदावार बढ़ाने की प्रेरणा ही समाप्त हो गई।

बाल्शविक ने अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए रूस की सारी आबादी तथा साधनों को जुटाकर एक और लगा दिया और इसी कठोर समय राज्य को वार कम्यूनिज़्म (war commisnism) का नाम दिया गया था 1917 से 1921 तक 'वार कम्यूनिज़्म तथा 1921 से 1928 तक नवीन आर्थिक नीति का प्रोग्राम चलाया गया। लेनिन का विश्वास था कि "भावी आदर्श राज्य बनाने के लिए वर्तमान में यदि भयावह स्थिति भी आए तो झेल जाना चाहिए"। 1921 से 7 वर्षीय युद्ध की चपेट में आया रूस और उसके निवासी केवल सोशलिज़्म के अपरीक्षित बेकुन्ठ के स्वप्न मात्र से नही जी सकते थे। मवेशी पालन में कमी, भुखमरी, ब्लेकमार्कटिंग शुरू हो गई। सरकार ने घबराकर एक समिति कृषकों की बनाई। कृषकों से भूमि लेकर स्टेट फार्म बनाए गए। 1920-21 में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा दक्षिणी पूर्वी रूस, वोल्गा प्रदेश में कोई फसल नही हुई। 50 मिलियन लोग अकाल ग्रस्त थे 5 मिलियन मर गये एक मिलियन रूस छोड गये।

मैक्सिम गोकी ने हर्बट हवर द्‌वारा अमरीका से सहायता याचना की। रूस का भय था कि कहीं समाज कल्याणकारी यह कार्य मशीन गनों से अधिक हानिकारक न हो पर सहायता से इन्कार खतरनाक था। वैटिकन चर्च के फादर एडमन्ड वाला का ध्येय वाल्शविज़्म को समाप्त करने का था उनसे कैसी मदद की? 20 अगस्त 1921 में अमरीकन राहत समिति तथा सोवियत सरकार के बीच समझौता हुआ। रेडक्रास ने भी मदद की। फिर भी कृषकों के विद्रोह हुए। 1921 में ताँबव में अन्तोनवा के नेतृत्व में विद्रोह हुआ। कम्युनिस्टगढ़ क्रोनसटाइट तक में अशन्ति फैली। जब रूस में सोवियत "यूनियन विना कमयूनिज़्म" तथा "कप्यूनिज़्म हटाओ" की मांग बढी तो बार कम्यूनिज़्म की असफलता सामने थी। पर गर्वनमेंट ने तो जनता के खान

पान की जिम्मेवारी ली थी। वास्तविकता के संसार में आकर लेनिन ने क्रांति की चौथी वर्ष गांठ पर कहा "सैनिक तथय राजनैतिक जोश में आर्थिक दायित्व निभाने के वायदे मे असफलता तथा सरकारी उत्पादन वितरण में कही हमसे भूल हुई पर परिवर्तन तथा परीक्षण द्वारा कम्यूनिज़्म तक पहुंचने का मार्ग खोजना होगा" इसलिए लेनिन ने नई आर्थिक पालिसी शुरू की।

23.3 न्यू एकोनामिक पालिसी

नये सोशलिस्ट तथा प्राइवेट एकानोमी के मध्य एक समझौता, एक क्षणिक प्रविलम्बन था दुखद हालत को सही करने का 1921 में टोटल उत्पादन खानों तथा फैक्ट्रियों से 20% गिर गया। कृषकों की भूमि 62% कम हो गई। चौपाए 58 से 37 मिलियन रह गए। अमरीकन डालर का एक्सचेन्ज 1914 के 2 रूबुल से घट कर 1920 के 1200 रूबुल रह गया।

न्यू एकोनामिक पालिसी का एलान 15 मार्च 1921 को कम्यूनिस्ट पार्टी के 10वीं कांग्रेस अवसर पर हुआ। यह पालिसी प्रांरभ से ही बहुत परिभाषित नहीं थी। इस नई पालिसी में पहले वाला युद्ध कम्यूनिज़्म का तरीका छोड़ कर एक खाध कर लगाया गया। कृषक, अब अपना गल्ला स्वंय ही बेच सकता था और इससे फ्री ट्रेड तथा लाभ दोनों का उद्देश्य पूर्ण हुआ। भूमि अभी भी सरकार की थी पर कृषक खेती के नाते पैदावर से जुडा था। वह न भूमि बेच सकता था न छोड़ सकता था परन्तु खेती बढ़ाने के लिए वह मजदूरों को किराए पर रख सकता था मवेशी तथा मशीन भी। पार्टी का इससे भय था कि कुलक-वर्ग इससे बढ़ेगा पर लेनिन सफल रहा। बड़े बड़े इन्डसट्रीयल प्लान्ट लगाए गए जो कम्यूनिज़्म के लिए प्राथमिकता रखते थे अब सरकार के हाथ मे छोड़ दिये गये। यह धरोहर के समान कुछ विदेशी साम्राज्यवादियों को पट्टे पर दी गई कुछ छोटे कोआपरेटिव अथवा प्राइवेट लोगों को। इसमे 12.4% वरकरों की खपत हुई। प्रत्येक प्लान्ट चाहे फैक्ट्री, या प्राइवेट या सरकारी सब साम्राज्यवादी ढंग से चलाया गया। यह नारा किं "प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार" परिवर्तित होकर प्रत्येक को उसकी योग्यतानुसार हो गया। नैचुरल एकानोमी से हटकर मनी एकोनोमी की ओर अग्रसर होने के लिए एक मजबूत सोवियत सिक्के की आवश्यकता थी। बैकिग, अकाउनिटंग, क्रेडिट इत्यादि के लिए। नवम्बर 1921 मे स्टेट बैंक इस शर्त पर खुला कि उसका उद्देश्य व्यापार, खेती तथा इन्डस्ट्री मे सहायता के अतिरिक्त पैसे के लेन देन तथा मजबूत सिक्कों के प्रसार तथा वितरण मे लगना रहे। अक्तूबर 11, 1922 की सीवनारकोन ने स्टेट बैंक को एक नई करेन्सी की अनुमति दी। यह दस सोने के रूबल के बराबर चरवोनेट थे। इसमें भी 25% नए सिक्के विदेशी मुद्रा से संरक्षित थे पुराने सिक्के को जून 1924 से पूर्ण रूप से हटा दिया गया। बैंक को इसकी आज्ञा दी गई कि लघु कालीन कामरशियल तथा दीर्घकालीन लागत के प्राईवेट तथा क्वापरेटिव दोनों को दिए जाए। वर्ष भर में 116 आफिस देश में खुल गए। 1923 के प्रारंभ से बचत खाता भी खुला तथा मार्च 1924 से 2500 बैंक चल पड़े।

नेप के अन्तर्गत प्राइवेट उपभोक्ता से आशा की जाती थी कि वह फ्री मार्केट में पैसे से चीजें खरीदेगा। 7 अप्रैल 1921 में सवनारकोम ने एक कानून बनाया कि जिससे क्वाप्रेटिव को मान्यता देकर स्वाधीन ट्रेडिंग आर्गेनिजेशन बनाए कि वे आजादी से बेचने व खरीदने का अधिकार रखे सके। सितम्बर के कानून से वे अब सरकार से अलग होकर स्वंय अपनी बिजनेस

चलाने लगे। कोआप्रेटिव से आशा की जाती थी कि वह प्राइवेट व्यापार को अपने काबू में रखेगा तथा दाम बढ़ने से रोकेगा प्राइवेट का 3 गुना ट्रेड इस प्रकार बढ गया। विदेशी व्यापार फिर भी सरकार की मानोपली पर रहा इस पर लेनिन अड़ा रहा और 1923 की 12वीं कांग्रेस में सकोलनिकव तथा बुखरिन के सारे विवाद बेकार गए।

कुछ ने नेप को "कम्यूनिज़्म की पराजय" कहा तो कुछ ने कहा कि यह लाँग जम्प था बस आगे बढने के लिए स्वंय लेनिन भी नही जानता था कि जो दरवाजे साम्राज्यवादी शक्तियों पर खोले जा रहे है उसका अंत क्या होगा। इसके उद्देश्य अवश्य सही थे कि उत्पादन की क्वालिटी बढे, नगर तथा देहाती जीवन के बीच की दूरी घटे तथा साम्राज्यवाद को सोशलिस्ट देश में बढने से रोका जा सके।

यद्‌पि 16 जनवरी 1920 को सुप्रीम वार काउनसिल द्‌वारा सोवियत रूस का संक्षिप्त अवरोध समाप्त हुआ। विभिन्न देशों में अपने अपने हितों की रक्षा ही उद्देश्य बना हुआ था और कोई सामूहिक सहमति सम्बन्धों के संदर्भ में नही थी। अमरीका ने स्वंय को यूरोपी उलझावों से उतना ही दूर रखा जितना व सोवियत यूनियन से दूर था। उसे भय था कि यह बोल्शेविक प्रकोप महामारी बनकर न छा जाए कि उसे अटलान्टिक सागर भी न रोक पाए। ब्रिटेन की अपनी साम्राज्यवादी तथा राष्ट्रीय गुत्थियाँ थी जिन्हें विश्व युद्ध ने और बढ़ा दिया था। फ़्रांस प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात अभी तक अपनी क्षति को रो रहा था। छोटे छोटे राष्ट्र सम्प्रान्त तथा भयभीत से थे। सभी यह समझ रहे थे कि सोवियत सरकार एक क्षणिक दृष्यप्रपंच है यह मिट जाएगी। कम्यूनिस्ट सरकार का प्रथम दिवालियापन का चिन्ह थी लेनिन द्‌वारा चलाई गई नवीन आर्थिक नीति (न्यू एकानामिक पालिसी अथवा नेप) जिस के द्‌वारा भविष्य में शोषण के द्‌वार खुलते दृष्टिगोचर होने लगे थे केवल रूस का यथार्थवादी होने की प्रतिक्षा थी। रूस तथा अन्य देशों के बीच ताल मेल में बहुत कठिनाइयाँ थी। यद्‌यपि विदेशी कमीसार चिचारिन यह बताता रहता था कि वाह्य सम्बन्धों की सामान्यता के लिए साम्राज्यवादी नीतियों को अपनाना तो अनिवार्य नही है। परंतु विदेशों में भय था कि रूस में तृतीय अंतराष्ट्रीय (थर्ड इन्टरनैशनल) विद्‌यमान थी। विदेशी व्यापार का एकाधिकरण भी उतना ही उत्तेजनापूर्ण था जितना ऋणों का परित्याग तथा सोवियत रूस में बसे विदेशियों की सम्पत्ति का अधिहरण। 18 फरवरी 1918 के अधिनियम द्‌वारा सवनारकोम ने दिसम्बर 1917 से पहले के सभी कणों को रद्द कर दिया था। जार तथा प्राविजनल सरकार द्‌वारा दी गई कणों की गारण्टी भी समाप्त कर दी गई। यह सहबद्ध देश (Allied) कैसे सहन करते पासवोल्सकी तथा मोल्टन सयके अनुसार युद्ध के दौरान व युद्ध से पूर्व 13823 मिलियन रूबूल था जिसमें ब्रिटेन, फ़्रांस जर्मनी, बेलजियम अमरीका सभी का योगदान था। स्वंय सोवियत सरकार भी अवगत थी कि युद्ध में मरे व्यक्तियों का तो भले ही भूल जाए व माफ कर दे पर अपनी आर्थिक क्षति का वे नहीं भूल सकेंगे। कारणवश इन सभी प्रभावित देशों (ब्रिटेन, फ़्रांस, अमेरिका, जापान, चीन, इटली, स्पेन, बेलजियम, हालेन्ड, स्वीडन, नारवे, स्वीटजरलैन्ड, डेनमार्क, पुर्तगाल, ग्रीस, सरबिया, अर्जेनटाइन, ब्राजील, परशिया तथा स्याम) ने इसे राष्ट्रीय नियमों को उल्लधंन बताया उनके प्रतिनिधियों ने एक विरोध पत्र पर हस्ताक्षर किये तथा इन देशों ने नई सोवियत सरकार को मान्यता प्रदान करने में भी देरी की।

6 जनवरी 1922 को सुप्रीम कांउसिल की कैन्स की बैठक में यह तय हुआ कि प्रत्येक देश या राष्ट्र को इसका अधिकार है कि वह अपनी आन्तरिक तथा वाह्य, राजनैतिक तथा आर्थिक नीतियों का चयन अपने राष्ट्र की सुविधानुसार करे तथा किसी दूसरे राष्ट्र को इसका अधिकार नहीं दे कि उसके अधिपत्य अथवा स्वाम्य नियमों की स्थापना करें। प्रत्येक प्रतिनिधि अपने राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्रों के प्रति अपने आबन्धों तथा दायित्व के प्रति सचेत रहे। यह सब कुछ सोवियत यूनियन को चेतावनी हेतु लिखा गया था और प्रथम बार सोवियत यूनियन को आमन्त्रित किया गया कि उसका भी इस महत्वपूर्ण राजनैतिक सगंठन में प्रतिनिधित्व हो।

10 अप्रैल 1922 को 34 राष्ट्रों की (रूस सहित) बैठक जनोआ में हुई ताकि यूरोप की आर्थिक बहाली पर विचार विमर्श हो सके। अमरीका ने केवल एक "प्रेक्षक" भेजा कि उसके हितों की सुरक्षा कर सके। रूसी एक सौदागरी व्यापारी शान से आये कम्युनिस्टों के समान नही जैसा कि लेनिन ने अपनी रोगशयया पर कहा था। विचार योग्य था यह प्रश्न कि क्या सोवियत यूनियन अपनी शर्तो पर मान्यता प्राप्त करेगा या विदेशी राज्यों की मांगों को पूरा करके चिचारिन ने कहा कि सोवियत यूनियन अपनी सीमाओं को विदेशी व्यापारियों के लिए खोलने पर तैयार है तथा युद्ध से पूर्व तथा उसके पश्चात् अपने आर्थिक दायित्वों को स्वीकार करने विदेशी साम्राज्यवादियों के सभी सम्पत्ति के अधिहरण की क्षतिपूर्ति (जो राष्ट्रीयकरण के कारण हुई) करने को तत्पर है परन्तु सोवियत युनियन के राजनैतिक सम्बन्ध पुर्नसंगठित कर ऋण भी सोवियत यूनियन को दिया जाए कि वह अपनी स्थिति बेहतर कर सके। सहबद्ध देश जिन्होंने युद्ध को बढावा दिया वह हरजाना भुगते। चिचारिन की यह मांग सही थी। जार तथा प्राविजनल सरकार व राष्ट्रीयकरण की हानि का बिल 13 बिलियन था जबकि चिचारिन द्वारा युद्ध के हरजाने काबिल 60 बिलियन था जो इन सहबद्ध देशों के युद्ध में हस्तक्षेप के कारण उन्हें भुगतना था। यदि हरजाना मिल जाए तो सोवियत यूनियन फिर ऋण भी नही लेगा। चिचारिन की इस मांग का प्रभाव तथा प्रतिक्रिया प्रत्येक देश में उसकी सुविधानुसार ही थी। उदहारणतया ब्रिटेन जो रूस के साधनों तथा व्यापारिक अन्त: शक्ति तथा क्षमता से अनभिज्ञ न था वह चिचारिन के प्रस्ताव पर विचार विमर्श करने पर सहमत था ब्रिटेन को युद्धोपरान्त आन्तरिक आर्थिक बरबादी तथा बेरोजगारी को ठीक करना था तथा पूर्वी बाजार लेकर जर्मन बाजार की हानि की पूर्ति करना था। इसके विपरीत फ़्रांस तथा बेलज्यिम जिनका भारी निवेश ऋण तथा औद्योगिक उधम के रूप में था इससे सहमत न थे। इनका इसका प्रतिकर मिलना तय हुआ। इस प्रकार पृथक पृथक प्रत्येक राष्ट्र का समझौता प्रारंम्भ हुआ। ब्रिटेन ने रूस के तेल की पैदावार पर अपनी इजारेदारी जमाने की इच्छा प्रकट की। इस पर अमरीका ने फौरन यह आग्रह किया कि फोर ईस्ट में पारंपरिक रूप से "खुले दरवाजे" की नीति थी वही चलना चाहिए।

जनेवा में अभी यह पारस्परिक द्वन्द चल रहा था कि रूस तथ जर्मनी ने (जो अछूत राज्य यूरोप में हो गये थे) रपालों में चुपके से सोवियत जर्मन सहयोग पर ध्यान दिया इससे पहले भी बरलिन मे इस प्रकार के प्रस्ताव पर बैठक हो चुकी थी। जिसमें, बड़े बड़े राजनैतिज्ञों ने मास्को से यूनीरल की बात की थी। 16 अप्रैल 1922 को दोनों देशों ने रापालो की सन्धि कर ली जिसके बाद 6 नवम्बर को एक दूसरा समझौता भी हो गया। इस सन्धि से दोनों देशों

की सौदाकारी की क्षमता बढ गई और उनका यह कदम पहली क्षति का धोतक था उन देशों के लिए जिन्होंने पहले जर्मनी के विरूद्ध वारसा की सन्धि की थी। सोवियत रूस विश्व राजनैतिक स्तर पर अब विभिक्त तथा अकेला न था। पार्थक्य के दबाव की नीति से जो हानि रूस को पहुंच सकती थी वह इस सन्धि से दूर हो गई। इस सन्धि को (हेराल्ड ट्रिव्यून) ने. ''घृणा सन्धि" कहा है। इस सन्धि से पारस्परिक युद्ध हरजाने की मांग समाप्त हुई। जर्मन रूस राजनैतिक सम्बंध फिर हो गये। जर्मन लोगों ने अपनी समपत्ति के अधिहरण के पश्चात उसे अब मांगा नही। दोनों देश आर्थिक रूप से एक दूसरे के पूरक तथा सहायक हो गये। इस सन्धि ने फ्रांस के सारे सपने तोड दिये अन्य देश भी इस प्रकार अपनी हानि पर चकरा गए। जनेवा कानफ्रेन्स ने यह भी प्रमाणित कर दिया था कि यूरोपी देशों से कोई भी समझौता सामूहिक नही बल्कि पृथक रूप से दो देशों के मध्य होगा। बर्लिन से मान्यता मिल जाने पर अब मास्को को पश्चिमी देशों के घराने में फिर से दखल मिल गया। इसके पश्चात सोवियत रूस को मान्यता तो मिलनी ही थी और समझौता भी समान रूप से हो सकता था। कान्फ्रेंस 19 मई को केवल इस शपथ पर समाप्त हो गई कि पारस्परिक मामलों मे यह देश हस्तक्षेप नही करेंगे। कान्फ्रेंस को किसी हद तक सफल बनाने के लिए स्पेशल कमीशन बनाये गये ताकि अभी तक के जो तय न हुये प्रश्न थे उन्हें हेग में बैठक में तय कर सके। जनेवा कान्फ्रेंस के पश्चात मास्को की सही स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर खुल चुकी थी पर जनेवा कान्फ्रेंस केवल एक अधूरी राजनैतिक विजय थी। पश्चिमी देशों के बीच दरार तो आई थी पर सोवियत यूनियन के संदर्भ में यूरोप अभी बंटा हुआ था। अपनी सीमाओं की ओर ध्यान देते हुए रूस ने अपने नए सिद्धान्त "कोई सम्मेलन नही कोई हरजाना नही" के अंतर्गत क्रांति के भावुकता पूर्ण वातावरण में घोषणा कर दी कि कान्सटिनटनोपल तुर्क मुसलमानों के हाथ में रहेगा। कारण यदि रूस को भूमध्य महासागर का व्यापारिक मार्ग खुला मिल जाए तो उसे जलडमरू - मध्य में दिलचस्पी न थी। इसीलिए रूस ने तुर्की से मित्रता गांठी, जलडमरू-मध्य पर उनके अधिकार को स्वीकार करते हुए उस्मानी राज्य के बंटवारे की नीति अपनाने पर रूपी देशों का विरोध किया। यह भी कहा कि अब जलडमरू-मध्य को ब्लैक सी के जहाजों के लिए न खोला जाए क्योंकि यह जार की आक्रमणकारी नीति के जमाने की माँग थी। सोवियत यूनियन चाहता था कि अब जलडमरु-मध्य सभी युद्ध के जहाजों पर बन्द कर दिया जाए ताकि विदेशी शक्तियाँ ब्लैक सी में दाखिल होकर दुर्बल रूस पर आक्रमण न कर सकें। रूस के इस रवैये से तथा यूनान के युद्ध के क्षेत्र में आजाने से अब समस्या गम्भीर हो चुकी थी। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लीग आफ नेशन्ज में यह मुद्दा उठाया जा सकता था पर वही भी सर्वसम्मति से कोई अधिदेश होना असम्भव था किसी एक महान शक्ति के शासनादेश में भी इस जलडमरू-मध्य को नही छोड़ा जा सकता था। ऐसी मध्यगत तटस्थ शक्तियों जैसे अमरीका स्वीडिन हालेन्ड यह जिम्मेवारी लेने पर तत्पर न थे। तुर्की तथा यूनान दोनों जलडमरू मध्य पर अधिकार जमाना चाहते थे। तुर्की को यूरोप से निकालने के लिए सब वैसे भी बेचने थें। जलडमरूमध्य जैसे आर्थिक हथियार को तुर्की के देने को फिर यूरोपीय शक्तियाँ कहीं तैयार होती पर फ़्रांस तथा इटली के कैथालिक जलडमरू -मध्य को यूनान को भी नहीं देना चाहते थे। प्रेसिडेन्ट विलसन की 14 सूत्रीय नीति में यह साफ साफ लिखा था कि तुर्की भाग उस्मानी राज्य का तुर्की को दे दिया जाए अन्य राष्ट्र उसके राज्य में

सुरक्षित तथा स्वतंत्र रहे पर डारडालैल्स को जलडमरू-मध्य पर सभी राष्ट्रों के व्यापार के लिए खोल देना चाहिए तथा सुरक्षा की अन्तराष्ट्रीय गारन्टी भी रहनी चाहिए।

जब कमाल अतातर्क ने यूनान को नवम्बर 1922 में पराजित कर दिया तो लोसाना में एक बैठक जलडमरू-मध्य के प्रश्न पर बुलाई गई। पर रूस, ग्रेट ब्रिटेन के बीच वाद विवाद शुरू हो गया। रूस जानता था कि ब्रिटिश छोटे से छोटे से जहाज के आगे वह अपने जहाज नही बचा सकता। ब्रिटिश नेवी तगडी थी। रूस को अपना ब्लाकेड (नाके बन्दी) ब्रिटेन द्वारा तथा ब्रिटेन की डेनिकिन और रेनगेल को सहायता देना अभी भी याद था। अतएवं मास्को ने घोषणा की कि वह अपनी सुरक्षा खतरे में नही डाल सकती तथा ब्लैक सी मे मास्को के भी जहाज न जाए पर अन्य देशों के जहाज भी न आए। ब्रिटेन ने तब इसका विरोध किया क्योंकि उसकी समुद्री शक्ति अत्यन्त मजबूत थी। बुलगरिया तथा रूमानिया को रुसी आक्रमण से भी बचाना था। निर्णय स्थागित हो गया। अप्रैल की दूसरी कान्फ्रेस में रूस को नही बुलाया गया। 24 जुलाई को लूसाना कन्वेशन में ऐसी सन्धि हुई जिसेमें सब ऐसी चीजें दी जो रूस के प्रतिकूल थी। अभी रूस इन दुख से सभंल न पाया था कि उसका राजदूत वरोवसकी 10 मई कों एक सूईस मारिस कोनराडी द्वारा मार डाला गया। लूसियाना कन्वेन्शन को रूस ने नही माना तथा इन्टरनेशनल कमीशन से भी अलग रहा।

जर्मनी ने रूस के प्रतिवाद पर भी उसे विवश कर दिया कि ब्रेस्ट लीटोव्सक सन्धि के अन्तर्गत वह जर्मनी के सहायक समबद्ध देश तुर्की को बातुम, कार्स तथा अर्दहान के इलाके दे दे। युद्ध के बिना इन इलाकों को दे देना दुखद था फिर यह इलाके महत्वपूर्ण स्थिति के थे जिस के चले जोने से ट्रान्सकाकेसिया का तेल के खजाने से भरा इलाका सुमेध 'अथवा असुरक्षित हो गया मुख्य रूप से बाकू बातुम की पाइपलाइन का अन्त वाला भाग। पहले जर्मनी फिर ब्रिटेन ने स्वाधीन जार्जिया के सहायक बन कर वहां अपना अड्डा जमाने की चेष्टा की थी। जब यहां अराजकता लगी तो मुस्तफा कमाल की सेना 11 मार्च 1921 को यहां आ गई और केवल केमलिन ने अनुरोध पर तुर्की ने इसे छोड़ा और बातुम फिर लाल सेना के हाथ आ गया पर इसके बदले रूस को कार्स तथा अरदहान अनकारा (तुर्की) को देना पड़ा।

सोवियत यूनियन तथा भारत के सम्बनधों में अक्तूबर क्रांति के पश्चात एक नए युग का आरंभ हुआ। सोवियत यूनियन सब प्रकार के उपनिवेशिता (कलोनियलिज़्म) के विरुद्ध था। यद्यपि जार ने मित्रता बढ़ाने की चेष्टाओं की सराहना नहीं की परन्तु सोवियत यूनियन ने सभी पूर्वी दलित देशों के प्रति सहानुभूति का अनदाज रखा था। क्रांति से पूर्व वीरेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय का तथा भूपेनद्र नाथ दत्ता की अपील रूसी क्रांतिकारियो से इस की द्योतक है। अंग्रेज इस नए प्रभाव से कितना भयभीत थे इसेका आभास हमे नेशनल अभिलेखागार (Archive) के डाकूमेन्टो मे होता है। लेनिन की समी कृतियो मे भारत पर टिप्पणी मिलती है मुख्यता उसके संकलित ग्रन्थों में चौथी से आखरी जिल्द तक 1900 से 1923 तक का भारत का वृतान्त मिलता है। 1920 की द्वितीय कांग्रेस ऑफ कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल में न केवल लेनिन की थेसिस "कलोनियल तथा नेशनल प्रश्नों पर प्रस्तुत हुई बल्कि एम एन राय की थेसिस पर भी लेनिन ने कुछ महत्वपूर्ण तथा भौतिक परिवर्तन किए। दोनों की उपनिवेश देश की साम्राज्यवादी देशो के

विरुद्ध युद्ध की नीतियाँ तथा युक्तियों पर दीवेनद्र कौशिक ने प्रकाश डाला है। लेनिन गांधी जी का प्रशंसक था गांधीजी को ''क्रांतिकारी, जनसमूह को प्रेरित करने वाला, भारतीयों का हिन्दू टाल्स्टाय'' इत्यादि के नाम से लेनिन ने याद किया है।

14 फरवरी 1921 को लेनिन से भारतीय क्रांतिकारी अब्दुलख्ब ने ताशकन्द में भेंट की थी। अपनी मृत्यु से पूर्व भी 2 मार्च 1923 में रोगशयया पर भी लैनिन ने भारत के प्रति आशाजनक विचार अपने एक निबन्ध "Better Fewer But Better" में प्रदर्शित किए थे।

लेनिन पर भारत के विरूद्ध ब्रिटेन से समझौते का आरोप लगाना सही नही है। यद्यपि एम. एन. राय की नीतियों के प्रति लेनिन बहुत उदासीन था। उसे स्वाधीनता सेना का उत्तरपूर्वी सीमा पर तैयार किया जाना जब कि अफगानिस्तान का भी असहयोग था कुछ ठीक न लगा था। फिर भी उसने सभी क्रांतितिकारी,क्रांतिकारी, प्रोग्रामों की तैयारी में पूर्ण रूप से भाग लिया और इस संदर्भ में उसका सहयोग बिना शोर किये बना रहा। यधिप 1921 में ब्रिटेन से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे परन्तु भारत में अंग्रेजो की उपनिवेशता के विरोध में बराबर कमइन्टर्न के दैनिकों तथा पत्रिकाओं में निकलता रहता था। लार्ड कर्जन जब विदेशी सेक्रेट्री होकर आया तो 6 महीने के भीतर ही उसनें 8 मई 1923 को धमकी भरी चेतावनी मास्को को दी कि यदि रूस ने अपने दुरूत्साहक एजेन्ट भारत से न हटाये एवं ब्रिटेन के विरुद्ध प्रोपेगैन्डा बन्द न किया भारत में तो वे अपना व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ लेंगे। परन्तु रूस तथा लेनिन इससे भयभीत नही हुए चौथी कांग्रेस आफ कमइन्टर्न ने फिर से इस युद्ध को जारी रखने का प्रण किया तथा 'भारतीय अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस को एक तार भेजकर भारतीय कम्युनिस्टो को स्वतंत्रता प्राप्ति के कार्यों में संलग्न रहने को भी उकसाया।

चीन मे रूस के सम्बन्धों में कुछ प्रश्न थे जैसे चीनी पूर्वी रेलवे की स्थिति तथा मंगोलिया का प्रश्न। 25 मई 1915 से रूस व चीन ने मंगलिया पर प्रभाव बना रखा था। जो अराजकता उस समय मंगोलिया में फैली उस का लाभ जापान ब्रिटेन लाल, श्वेत रूसी सेनायें चीनी मंगोल एजेन्ट उठा रहे थे। चीन ने इस दशा का फायदा उठाकर मंगोलिया पर पूर्ण रूप से कन्ट्रोल कर लिया और रूस के दरवाजे तक इस सिविल वार को पहुंचा दिया। पर अब श्वेत सेना पूर्व तथा दक्षिण दोनों ओर से दबी थी तथा मंगोलिया के पास पहुंच चुकी थी। जनरल बैरल उन्होंने स्टर्नबर्ग के नेतृत्व में उन्होनें 3 फरवरी को मंगोलिया की राजधानी ऊरगा को जीत लिया ऊरगा से ही बैरन (जो आधा बौद्ध धर्म, आधा इसाई धर्म का अनुयायी था) बाल्शविजम से लड़ना चाहता था। उसका स्वप्न "एशिया एशियाई लोगों के लिए" टोकियों को भी अपील कर रहा था तथा निपोनी जनरल उसे बराबर युद्धोपकरण सप्लाई कर रहा था। जापान एक "ग्रेटर ईस्ट एशिया" के सपने संजो रहा था। अपनी मई 1921 की पराजय बैरन को याद थी अतएव वह पूर्व में बैकाल की ओर बढा परन्तु लाल सेना ने उसे हराकर उसका पीछा करते 7 जुलाई को ऊरगा ले लिया। बैरन स्टर्नबर्ग को ट्रायल के पश्चात मार डाला गया। अब लाल फौजी ने मंगोलिया की राजधानी को लेकर 5 नवम्बर 1921 को मास्को मंगोलिया के बीच ऊरगा सन्धि की जिसमें थोडा बहुत चीन का भी जिक्र था।

अब मंगोलिया चीन रूस तथा निप्पोनी नीतियां उलझने लगी। रूस को इसका अनुमान था कि जापान में मंगोलिया पर कन्ट्रोल के क्या प्रभाव होगें।

मंगोलिया के प्रश्न के उभरने से पहले सोवियत चीन सम्बन्ध समानता तथा मित्रता के हो गए थे। क्रेमलिन ने यह एलान कर दिया था कि पिछली सन्धियां रद्द कर चीन की सारी प्रोपर्टी वह लौटा देगा। बाक्सर युद्ध को हरजाना भी माफ कर उसे आत्मसर्मपण से मुक्ति देदी और चीन को एक प्रिय राष्ट्र का देकर आर्थिक सम्बन्ध पुर्नस्थापित कर लिए थे। यह ऐसी चीज थी जिनसे साम्राज्यवादी देशों द्वारा 75 वर्ष से दलित चीन को रूस से ही ढाढस मिली थी।

रूस के प्रतिनिधि एडोल्फ जोफ ने सनयातसेन तथा अन्य अफसरों से मिलकर यह भी आश्वासन दिया कि वह चीन के एकाकीकरण की राष्ट्रीय क्रांति से सहमत हैं चीन की आवश्यकता स्वाधीनता तथा राष्ट्रीय एकता थी जिसमें रूस ने उसे सहायता देने का वादा किया। चीनी पार्लियामेंट ने इसे "अर्न्तराष्ट्रीयता स्तर पर साम्राज्यवाद पर विजय" बताया। अब सी.टी.वंग तथा कराखान की सन्धि वार्ता में वगंखॉ की मांग थी कि रूस मंगोलिया छोड़ जाए। रूस का कहना था कि यह मामला मंगोलिया का है। इस पर चीन को टिप्पणी का अधिकार नही तथा वैसे ही वे वही मंगोल सरकार के आग्रह पर टिके है। जैसे ही श्वेत सेनाएं खत्म हुई लाल सेना भी चली जाएगी 14 मार्च 1924 को एक रूस चीन सन्धि द्वारा रूस का अधिपत्य मंगोलिया पर चीन ने मान लिया। रूस की आशा कि "पूर्व में सोसलिस्ट रोशनीफैलेगी यधिप रूस की चेष्टा पूर्व को कम्यूनिस्ट बनानें की सफल न हो सकी। परन्तु उसकी सीमाएं सुरक्षित रही। मंगोलिया में शक्ति बढ़ा। पश्चिमी देशों में उसे बडी कठिनाइयां पेश आई। उत्तर पश्चिमी सीमाओं पर रूस ने 1920 तक शान्ति स्थापित करली थी। फिनलैनड से यद्यपि क्षेत्रीय झगड़े थे पर 14 अक्तूबर 1920 को शान्ति सन्धि द्वारा यह तय पा गये थें। रीगा में 18 मार्च 1921 मे सन्धि हुई थी जिसके अन्तर्गत सोवियत पौलिश युद्ध का अन्त हुआ था यधिप अभी तक सोवियत यूनियन को मान्यता नही मिली थी। कुछ देश कहते थे कि यदि मान्यता दे दी जाए तो रूस नर्म पड़ जाएगा तथा यूरोप के आर्थिक उत्थान में योगदान देगा। अन्य इस पर सहमत न थे क्योंकि इससे क्रांतिकारी शक्तियों को बढावा मिलने का भय था। सबसे पहले लन्दन ने मान्यता दी लेबर पार्टी ने फरवरी 1924 में भी इस मतभेद का जिक्र था। बाद में कन्जरवेटिव पार्टी ने सत्तारूढ होने के पश्चात यधपि मान्यता तो रहने दी पर एग्रीमेन्ट रद्द कर दिया। फ़्रांस भी अब "जीवित" सोवियत यूनियन को मान्यता देने पर 28 अक्तूबर 1924 को विवश हो गया।

यदि लेनिन की बाह्य तथा आन्तरिक नीति का जायजा लें तो 1921 से 1924 तक ही नही उसके बाद भी लेनिन की महानता उजागर मिलती है। सारे विश्व के लिए सोवियत यूनियन एक मुख्य आधार तथा आश्रय हो गया था। लेनिन ने "तीन (डामीनेटिगं हाईटज") प्रभुत्व की उचाईयाँ अर्थात मोनोपोली (एकाधिकार) राजनैतिक शक्ति की, प्रैस की तथा विदेशी व्यापार की अपने पास रखी थी। यह तय था किं रूस बाह्य सहायता पर निर्भर रह कर अपना सोशलिस्ट प्लानिंग पर आधारित आर्थिक ढांचा नही तैयार कर सकता था। केवल ऐक पार्टी तथा फौलादी इरादों साहस तथा डिसिपलिन द्वारा ही रूस अपनी दशा सुधार सकता था विश्व केवल मजबूत शक्तिशाली की आवाज सुनता था। इसके लिए सोवियत लोग कोई भी कुरबानी देने पर

तम्पर थे कि "न्यू एकनामिक पालिसी वाले रूस को सोशिलिस्ट रूस बना सकें" यही तोलेनिन ने अपने आखिरी भाषण में 20 नवम्बर 1922 को कहा था।

प्रो0 तारले के अनुसार सोवियत डिप्लोमेसी के द्वारा लेनिन तथा स्टालिन ने पारस्परिक अन्र्तराष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नये युग का आरम्भ किया। सोवियत डिप्लोमेसी जिन स्थितियों तथा तथ्यों पर निर्मित तथा आधारित थी वे अपनी नवीन धारणाओं सहित एक ऐसा हथियार है जो सोवियत यूनियन के अतिरिक्त उसके शत्रुओं के पास भी नही। सोवियत डिप्लोमेसी मार्कसिस्ट लेनिनिस्ट वैज्ञानिक थ्यौरी द्वारा सुरक्षित तथा सामाजिक प्रगति को प्रथमिकता प्रदान करने वाले अटूट उसूलों पर आधारित है। इन दो तत्वों द्वारा वह न केवल अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के प्रचलित झुकावों के प्रति सचेत रहा बल्कि घटनाओं के चक्र के साथ-चलते रहने का भी हौंसला उसमें बना रहा।"

23.4 बोध प्रश्न-

प्र.1 लेनिन की आंतरिक व परराष्ट्र नीति का मूल्यांकन कीजिए।

प्र.2 न्यू एकोनोमिक पालिसी से आप क्या समझते है?

23.5 संदर्भ ग्रथ :-

(1) Belaff, The Foreign Policy of Soviet Russia Oxford University Press,1948

(2) Carr, E.H, A History of Soviet Russia Socialism in one Country

(3) Coates et all, A History of Anglo-Soviet relations, London,1945

(4) Kaushik, Devadera, Soviet Relations Delhi 1971

(5) Mazour A.G., Russia, Past and Present USA 1951

(6) Pares, Bernard, A History of Russia London 1962

(7) Riasanovsky, Nicholas, A History of Russia Oxford Press 1969

(8) Slussev, Robert, Soviet Foreign Policy Londonn 1967